मानवाधिकार : नई दिशाएँ

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

वार्षिक, अंक–2
2005

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाउस,
कॉपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001,
भारत

© 2005 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, सलाहकार मण्डल या संपादक मण्डल का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्राप्ति स्थान : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाउस,
कॉपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001,
भारत
वेबसाईट : www.nhrc.nic.in
ई–मेल : covdnhrc@nic.in
मदद फोन : 23385368

MANAVADHIKAR-NAI DISHAAYEIN
An annual Journal of NHRC
in Hindi, Published by National Human Rights Commission
Faridkot House, Copernicus Marg,
New Delhi – 110001
website : www.nhrc.nic.in
E-mail : covdnhrc@nic.in
Madad Phone No. : 23385368

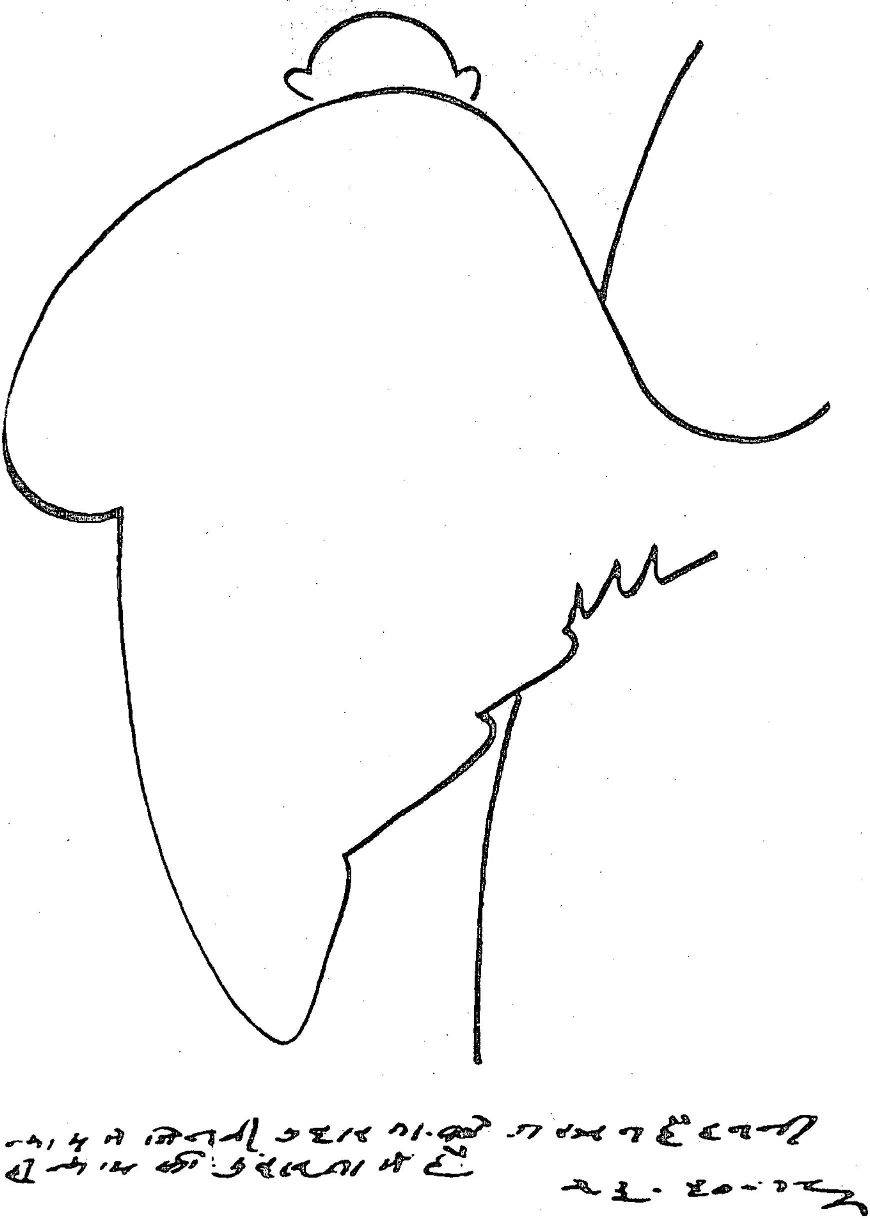

न्याय में जितनी उदारता की जरूरत है, इतनी ही न्याय की उदारता में है।

—महात्मा गाँधी
23-10-1945

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

अध्यक्ष

न्यायमूर्ति डॉ0 ए. एस. आनन्द

सदस्य

न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील
न्यायमूर्ति श्री वाई. भास्कर राव
श्री आर. एस. काल्हा
श्री पी. सी. शर्मा

महासचिव
श्री निर्मल सिंह

महानिदेशक
डॉ0 जी. एस. राजगोपाल

रजिस्ट्रार
श्री अजीत भरिहोक

संयुक्त सचिव
श्रीमती अरुणा शर्मा

सलाहकार मंडल

न्यायमूर्ति डॉ0 ए. एस. आनन्द

श्री पी. सी. शर्मा

श्रीमती महाश्वेता देवी

डॉ0 जी. एस. राजगोपाल

श्रीमती अरुणा शर्मा

श्री एम. एल. गुप्त
संयुक्त सचिव, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय

प्रख्यात लेखिका एवं सामाजिक कार्यकर्त्री श्रीमती महाश्वेता देवी राष्ट्रीय एकता के प्रति उल्लेखनीय योगदान के लिए वर्ष 2004 के बीसवें इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकीकरण पुरस्कार से सम्मानित।

संपादक मंडल

महाश्वेता देवी	:	*मानद मुख्य संपादक*
अरुणा शर्मा	:	*संपादक*
सरोज कुमार शुक्ल	:	*सह संपादक*
डॉ. बालकृष्ण सिन्हा	:	*सहायक संपादक*

सहयोग	:	श्री राजेश कुमार कालड़ा श्रीमती अंजलि सकलानी
कम्प्यूटरीकरण	:	श्रीमती सीमा शर्मा श्रीमती सुमन माला सैनी सुश्री रोजालिया केरकेट्टा

अनुक्रम

दो शब्द

आमुख

संपादकीय

लेख

1	मानव अधिकार : 21 वीं शताब्दी की कुछ चुनौतियां	न्यायमूर्ति डॉ0 आदर्श सेन आनन्द	3–17
2	स्वास्थ्य का अधिकार : समाज के समक्ष प्रमुख चुनौती	न्यायमूर्ति श्री वाई0 भास्कर राव	18–25
3	बच्चे : राष्ट्र की अनमोल धरोहर	न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी0 पाटील	26–32
4	मानव अधिकार संरक्षण में पुलिस की भूमिका	श्री एस. वी. एम. त्रिपाठी	33–38
5	झारखण्ड में मनोरोग चिकित्सालय : मानव अधिकार के विशेष संदर्भ में	श्रीमती लक्ष्मी सिंह	39–45
6	स्वास्थ्य सेवाएं–एक मानवाधिकार	श्रीमती अरूणा शर्मा	46–48
7	स्वभाषा का प्रयोग स्वयं एक मानव अधिकार है	श्री अनिल गर्ग	49–53
8	मानवाधिकार और अर्द्धसैनिक बल	डॉ0 विक्रम सिंह	54–60
9	संस्कृति, न्याय और मानवाधिकार	श्री के. पी. सिंह एवं डॉ0 दीपा सिंह	61–68
10	पर्यावरण – एक मानवाधिकार	डॉ0 के. एस. द्विवेदी	69–78
11	मानव अधिकार और राज्य के सरोकार : भारतीय अनुभव	प्रो0 अरूण चतुर्वेदी	79–88
12.	वृद्धजनों के मानव अधिकार	श्री नवनीत सिकेरा	89–92

13	बाल अधिकार : भावी समाज का सुदृढ़ आधार	प्रो0 गिरीश्वर मिश्र	93–99
14	पर्यावरण के लिए कानूनी संरक्षण	श्री आर. सी. मिश्र	100–105
15	महिला सशक्तिकरण : मानवाधिकार की एक आवश्यकता	डॉ0 (श्रीमती) सुनीता मिश्र	106–112
16	नयी सहस्राब्दी में हिंसा से नारी की सुरक्षा : कितना यथार्थ कितनी मिथ्या	डॉ0 (श्रीमती) हेमलता	113–129
17	मानव अधिकार : सांस्कृतिक अस्मिता का आधार	श्री नंदकिशोर आचार्य	130–133
18	वाल्मीकीय रामायण तथा मानवाधिकार	प्रो0 अमरनाथ पांडेय	134–142
20	क्या हों छात्रों के मानव अधिकार?	श्री मदन गुप्त	143–147
21	बालिका भ्रूण–हत्या : महिलाओं की अस्मिता पर प्रहार	श्री नन्द्रेश निगम	148–157
22	जीवेम शरदः शतम्	श्री सरोज कुमार शुक्ल	158–165

आयोग के कुछ महत्वपूर्ण निर्णय 166–200

क बँधुआ मज़दूरों की मुक्ति : पंजाब

ख बिजली के झटके से कामगार की मृत्यु, आश्रितों को दिलाया मुआवजा : केरल

ग पुलिस द्वारा की गई गोलीबारी में एक छात्र की मृत्यु : उत्तर प्रदेश

घ वन अधिकारियों द्वारा 10 ग्रामवासियों को गिरफ्तार करके यातना दिया जाना : उड़ीसा

च पूर्व प्रधानमंत्री की सुरक्षा से जुड़े मोटरकेड द्वारा कुचले जाने से बालिका की मौत : उत्तर प्रदेश

छ पुलिस हिरासत में मौत : बिहार

ज भूख के कारण मौत : आंध्र प्रदेश

झ गावंवालों ने चोरी के आरोप में एक लड़के की दोनों आँखें निकालीं : बिहार

- **समीक्षा** 201–207
- **आयोग के प्रकाशन**
- **हिंदी में प्रकाशित मानवाधिकार विषयक कुछ पुस्तकें**

अध्यक्ष की ओर से

इस पत्रिका के वार्षिक अंक दो का प्राक्कथन लिखते हुए मुझे अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने अंग्रेजी में मानव अधिकार संबंधी एक पत्रिका का प्रकाशन वर्ष 2002 में आरम्भ किया था। फिर हमने यह अनुभव किया कि मानव अधिकार संबंधी विमर्श को व्यापकता प्रदान करने के लिए और देश में इस क्षेत्र में काम कर रहे अधिकांश लोगों तक उपादेय सामग्री पहुँचाने के लिए ऐसी पत्रिका का प्रकाशन भारतीय भाषाओं विशेष रूप से हिंदी में अधिक आवश्यक है। तदनुसार वर्ष 2004 में राजभाषा हिंदी में पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। अंग्रेजी प्रकाशन की भांति यह भी एक वार्षिक प्रकाशन है और इसका दूसरा अंक अब आपके हाथों में है।

जैसा कि इस प्रकाशन के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसका उददेश्य मानव अधिकार संबंधी मूलभूत विचार और सूचनाएँ देने के अतिरिक्त इस क्षेत्र में होने वाले नए प्रयोगों और समाचारों की समीक्षा करना भी है। इस अंक में स्वास्थ्य, भाषा, संस्कृति पर्यावरण, पुलिस बल तथा बच्चों, वरिष्ठ नागरिकों, महिलाओं की समस्याओं, आदि पर विशेष सामग्री दी गई है।

हमें प्रसन्नता और संतोष है कि प्रख्यात लेखिका एवं ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्रीमती महाश्वेता देवी ने पिछले अंक की भांति इस अंक के लिए भी सलाहकार मंडल की सदस्य एवं मानद मुख्य सम्पादक बने रहना स्वीकार किया है । इसके लिए आयोग उनका आभारी है। सलाहकार मंडल के अन्य सदस्यों और वर्तमान अंक के विद्वान लेखकों को भी मैं धन्यवाद देता हूँ।

इस प्रकाशन को भविष्य में भी जारी रखने का संकल्प करते हुए मैं आशा करता हूँ कि यह प्रयास भारत में मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता एवं उसकी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान करेगा। मैं सभी विश्वविद्यालयों एवं अन्य उच्च शिक्षा संस्थानों से अपेक्षा करता हूँ कि वे इस प्रकाशन से लाभ उठाएँ और इसको अधिक सार्थक बनाने में हमारी सहायता करें ।

आदर्श सेन आनन्द

(न्यायमूर्ति डॉ0 ए. एस. आनन्द)

आमुख

मानवाधिकार केवल कोरी संकल्पना नहीं है, बल्कि यह मानव–जीवन से जुड़ी वह मूलभूत आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति किए बिना गरिमापूर्ण जीवन का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए जिन अनुकूल परिस्थितियों की जरूरत है, उनकी समग्रता का ही नाम मानवाधिकार है। इस समग्रता की पृष्ठभूमि और प्रतिष्ठा को जनव्यापी बनाने के लिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की पहल है यह वार्षिक पत्रिका। पत्रिका के प्रवेशांक की सफलता से निश्चित रूप से वह सारा श्रमबोध अब उल्लास में परिवर्तित हो चुका है जो उसकी तैयारी में महसूस हुआ था। इससे मानवाधिकार आंदोलन से जुड़े सभी लोगों के उत्साह में वृद्धि हुई है तथा उनका मनोबल भी ऊंचा हुआ है। वार्षिक पत्रिका का यह दूसरा अंक इसी उत्साह और मनोबल का परिणाम है।

सभ्यता और संस्कृति की चिंतन–धारा में मानव की अस्मिता, मानवीय गरिमा की सर्वोच्चता, मानवीय प्रतिष्ठा की अपरिहार्यता और मानव के सर्वांगीण विकास का भाव प्रकट हुआ है। इस विश्वव्यापी और सार्वभौमिक अवधारणा के अंतर्गत हमारे देश में भी मानवाधिकारों के विभिन्न संदर्भ और आयाम दृष्टिगोचर हुए हैं। दरअसल भारतीय संस्कृति में मानवाधिकारों की अवधारणा का बीज अत्यंत प्राचीन काल से मौजूद था। प्राचीन भारत में **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' (सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी का सामना कल्याण से ही हो, किसी को भी दुःख का अनुभव न करना पड़े)** का सिद्धांत सर्व प्रसिद्ध था। इस प्रकार की अवधारणा न केवल अशोक के शिलालेखों, भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के उपदेशों, अपितु बाइबल, कुरान, और गुरू ग्रंथ साहब के पवित्र संदेशों में समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही मध्यकालीन सन्तों की वाणियों के माध्यम से समता और सर्वकल्याण की वह धारा हम तक निरन्तर प्रवाहित होती रही है, जो उपनिषदों के शान्तिपाठों से निकली है। इस वैचारिक सम्पत्ति से समृद्ध होने के कारण हमारे संविधान निर्माता मानवाधिकारों की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को भली–भांति समझ सके। उन्होंने मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत मानव–जीवन से संबद्ध लगभग सभी पहलुओं के बारे में प्रावधान किए और मानवाधिकार की समकालीन परिकल्पना से उनका सामंजस्य स्थापित किया।

यदि गौर किया जाए तो हमारे समाज में मानव अधिकारों को स्थापित करने और उनकी निगरानी करने की चुनौती दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। विशेष रूप

से संचार क्रांति के कारण साइबर अपराध और षडयंत्र बढ रहे हैं। निहित स्वार्थ, अज्ञान, उपयुक्त तथा प्रभावी व्यवस्था का अभाव, और समय पर कदम न उठा सकने के कारण अनेक क्षेत्रों में आए दिन मानव अधिकारों के हनन की घटनाएँ हो रही हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का यह प्रयास रहा है कि ऐसी घटनाओं को संज्ञान में लेकर देश की न्यायिक व्यवस्था के अनुरूप तत्काल कार्रवाई को प्रोत्साहित किया जाए। हमारी पहल के फलस्वरूप अनेक ऐसे मामले जो किन्हीं कारणों से उपेक्षित थे या दबा दिये गये थे, सामने आये और उन पर पुनर्विचार किया जा सका। देश के कोने--कोने से आने वाली शिकायतों पर हम ध्यान देते हैं और कार्रवाई करते हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि आयोग के प्रयासों के फलस्वरूप देश के सामाजिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में पहल शुरू हुई है और उसका सकारात्मक परिणाम भी दिखने लगा है। फिर भी कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं और इस दिशा में काफ़ी काम बाकी है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि मानव अधिकारों को भारतीय सामाजिक चेतना का एक स्वाभाविक अंग बनाया जाए। दूसरे शब्दों, में आम आदमी और प्रशासन; सबकी दृष्टि में मानव अधिकार सोचने और काम करने के लिए एक आधारशिला की भूमिका में आना चाहिए। जब तक हमारी सोच में ऐसा परिवर्तन नहीं होगा हमारा प्रयास अधूरा ही रहेगा।

मुझे पूरा विश्वास है कि "मानवाधिकार : नई दिशाएँ" उपर्युक्त दिशा में एक कारगर उपाय सिद्ध होगा। पिछले अंक से इस पत्रिका ने हिन्दी भाषी जगत में प्रवेश किया और उसका स्वागत हुआ। इस अंक से हम विचार की प्रक्रिया को समृद्ध करने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। इस तरह की पहल से हम न केवल भारतीय समाज के एक बड़े भाग को सम्बोधित कर सकेंगे बल्कि मानव अधिकारों पर विचार के लिए एक प्रभावशाली मंच भी दे सकेंगे। मुझे विश्वास है कि यह प्रकाशन आयोग और समाज के बीच पारस्परिक विनिमय का एक सशक्त माध्यम बन सकेगा।

प्रेम चन्द शर्मा

(पी. सी. शर्मा)

सम्पादकीय

मानवाधिकार जहाँ एक ओर सम्पूर्ण मानवता या यूं कहें कि मनुष्य मात्र के जीवन को समर्पित होने के कारण अथवा उसकी समग्र चिन्ता करने के कारण एक हद तक अमूर्त (abstract) से लगते हैं वहीं मानव जीवन के विशेष संदर्भो, जैसे – परिवार, नौकरी, पर्यावरण में देखने पर उनका एक स्वाभाविक और सहज रूप भी उभर कर सामने आता है जो परिचित और बोधगम्य है। मुझे खुशी है कि आयोग की हिन्दी पत्रिका **"मानवाधिकार : नई दिशाएँ"** का यह अंक मानव अधिकारों से जुड़े कई व्यावहारिक प्रश्नों को उठा रहा है।

जैसा कि आप पाएंगे इस अंक में मानव अधिकार के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ स्वास्थ्य, भाषा, संस्कृति, पर्यावरण, राज्य, पुलिस बल, बाल्यावस्था, वृद्धावस्था, महिलाओं की समस्या जैसे समाज के ज्वलन्त प्रश्नों पर भी गंभीर विचार किया गया है। समय के साथ मूल्यों में और उन सन्दर्भो में भी बदलाव आता है जिनमें ये मूल्य स्थापित किये जाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो भारतीय संविधान में अनेक परिवर्तन लाए गए हैं। उदाहरणार्थ शिक्षा का अधिकार, सूचना का अधिकार और रोज़गार की गारंटी की जो व्यवस्थाएँ की गयी हैं उनसे मानव अधिकारों पर सोच का दायरा निश्चित रूप से विस्तृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि मानव अधिकारों का विश्लेषण निरन्तर चिन्तन की अपेक्षा करता है। हम यह आशा करते हैं कि आयोग की यह पत्रिका इस तरह के चिन्तन के लिए उकसाएगी और मानव अधिकार के विभिन्न आयामों और उसके बदलते परिप्रेक्ष्य को सशक्त ढंग से रेखांकित करती रहेगी। समग्र समाज का कल्याण ध्यान के केन्द्र में बना रहे इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को स्वीकार कर व्यवस्था को इतना सशक्त बनाया जाए कि हर एक को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुरूप अवसर मिले। इस दृष्टि से आयोग अपने दायरे में अनेक स्तरों पर प्रयास कर रहा है। पत्रिका इन प्रयासों को भी सबके सामने लाने का प्रयास करेगी ताकि उन्हें और भी प्रभावी बनाने के लिए सुझाव मिल सकें।

पराधीनता का दंश झेलने के बाद बोलने की स्वतंत्रता और कानून के समक्ष समानता को व्यवहार में लाना नितांत आवश्यक था। इसीलिए मौलिक अधिकारों के तहत राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रता को बाध्यकारी माना गया। इनका उल्लंघन होने पर व्यक्ति न्यायालय की शरण में जा सकता है। लेकिन, आज 21 वीं शताब्दी में आने के बाद भी हम देख रहे हैं कि मौलिक अधिकारों के अनुपालन में अनेक कठिनाइयां आ रही हैं। अघोषित रूप से अब भी छुआछूत का बोलबाला है। जन्म के आधार पर व्यक्ति जातीयता की जंजीरों में बंध जाता है तथा परिणामतः कुछ लोग श्रेष्ठता की ग्रंथि और कुछ लोग हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। स्वतंत्रता और समानता के उच्च आदर्श को व्यावहारिक यथार्थ में लाने के लिए अभी और प्रयास किए जाने की जरूरत है।

नीति–निर्देशक सिद्धांतों के तहत मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को स्थान दिया गया, किंतु ये अधिकार बाध्यकारी नहीं हैं। ये अधिकार मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं से ही संबंधित हैं, लेकिन आज़ादी के बाद आधी शताब्दी से भी अधिक समय बीत जाने के बावजूद देश में सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की स्थिति आशाजनक नहीं कही जा सकती।

हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी गरीबी–रेखा के नीचे जीवन–यापन कर रहा है। गरीबी–रेखा के ऊपर भी बहुत बड़ी तादाद में लोग औसत दर्जे का भी जीवन नहीं जी पाते। वास्तव में गरीबी मानवाधिकारों का घोर उल्लंघन है क्योंकि इसके कारण मनुष्य मूलभूत अधिकारों से वंचित रहता है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति न होना समाज की शोचनीय दशा को ही प्रतिबिंबित करता है।

पर्यावरण का प्रदूषण भी मनुष्य के जीवन पर दुष्प्रभाव डालता है जिससे उसके विकास में बाधा आती है। इस दृष्टि से यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान विश्व का पहला संविधान है जिसमें पर्यावरण संरक्षण के लिए विशिष्ट प्रावधान हैं। इसका मुख्य लक्ष्य है सभी को जीवन की गुणवत्ता का ऐसा स्तर उपलब्ध हो जो केवल एक प्रदूषण मुक्त वातावरण में ही सम्भव हैं। इस प्रसंग में उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रदूषण को रोकने के लिए जारी निर्देश कि शीशा रहित पेट्रोल का प्रयोग पूरे देश में हो और नए पंजीकृत पेट्रोल वाहनों में केटेलिटिक कन्वर्टर लगे होने चाहिए दूरगामी प्रभाव वाले सिद्ध हुए हैं। जीवन की रक्षा हो और मनुष्य तथा अन्य जीव जंतुओं और वनस्पतियों के बीच संतुलन बना रहे इस हेतु यह आवश्यक है कि पर्यावरण की रक्षा और संवर्धन का सतत प्रयास चलता रहे। हमें यह समझना होगा कि स्वच्छ और शांत वातावरण तथा शुद्ध जल हमारी बुनियादी जरूरत हैं। लोग अब भी शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में जी रहे हैं। बच्चों, वृद्धजनों और मनोरोगियों की समस्याएँ भी कम जटिल नहीं हैं। महिलाएं हमारी आबादी का आधा हिस्सा हैं, लेकिन यह आधी आबादी प्रायः शिशु–हत्या, भ्रूण–हत्या, अशिक्षा, दहेज, यौन–उत्पीड़न और बलात्कार का शिकार होती रहती है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के पास विचारार्थ आने वाली शिकायतों में इन सबसे जुड़ी शिकायतें काफी संख्या में होती हैं।

देश और समाज का विकास तभी संभव है जब क़ानून और व्यवस्था ठीक हो और शांति की स्थिति हो। इस दृष्टि से पुलिस प्रशासन और अर्द्ध–सैनिक बलों पर आए दिन मानवाधिकार हनन के आरोप लगाए जाते हैं। रक्षक पर भक्षक होने के आरोप अपने–आप में बहुत गंभीर है तथा मानव अधिकार के संरक्षण के सामने नई चुनौतियाँ खड़ी हो रही हैं। हमारे देश में एक शर्मनाक स्थिति यह भी है कि हिंदी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और इन्हीं भाषाओं में काम करने वालों को हीन भावना से देखा जाता है। गुलाम मानसिकता के कारण घोषित और अघोषित दोनों प्रकार से अंग्रेजी भाषा हम पर थोप दी गई है। आज अंग्रेजी की शिक्षा रोजगार के लिए अनिवार्य

शर्त जैसी बन गयी है। इस नाते भारतीय भाषाओं में प्रवीण लोगों को अपनी भाषा का प्रयोग न करने के लिए विवश किया जा रहा है। मनुष्य के व्यक्तित्व, योग्यता और कौशल को केवल अंग्रेजी की कसौटी पर कसा जाना भी मानवाधिकारों का हनन है।

पत्रिका के इस अंक में मानव–जीवन से जुड़े इन्हीं सामाजिक–आर्थिक पहलुओं पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। हमारा लक्ष्य इस पत्रिका को एक ऐसे मंच के रूप में स्थापित करना है जो जन–चेतना जागृत करने के साथ–साथ आम आदमी की आवाज को नीति निर्माताओं तक प्रभावी तरीके से पहुंचाए।

यह पत्रिका एक संग्रहणीय दस्तावेज़ भी है क्योंकि इसमें मानवाधिकार के व्यापक स्वरूप को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। स्वैच्छिक संगठनों के लिए यह काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है क्योंकि वे जमीन से जुड़े होते हैं। संभव है कि मानवाधिकार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और बदलती परिस्थिति में विचार करते रहना आवश्यक है। अतः विद्यार्थियों, अध्येताओं, स्वैच्छिक संगठनों के प्रतिनिधियों और नीति–निर्माण से जुड़े विशेषज्ञों से अनुरोध है कि वे इस बारे में न केवल सुझाव दें बल्कि अपनी रचनाएँ भी भेजें। इससे मानवाधिकार की नई दिशाओं का मार्ग प्रशस्त होगा।

अरुणा शर्मा

(अरूणा शर्मा)

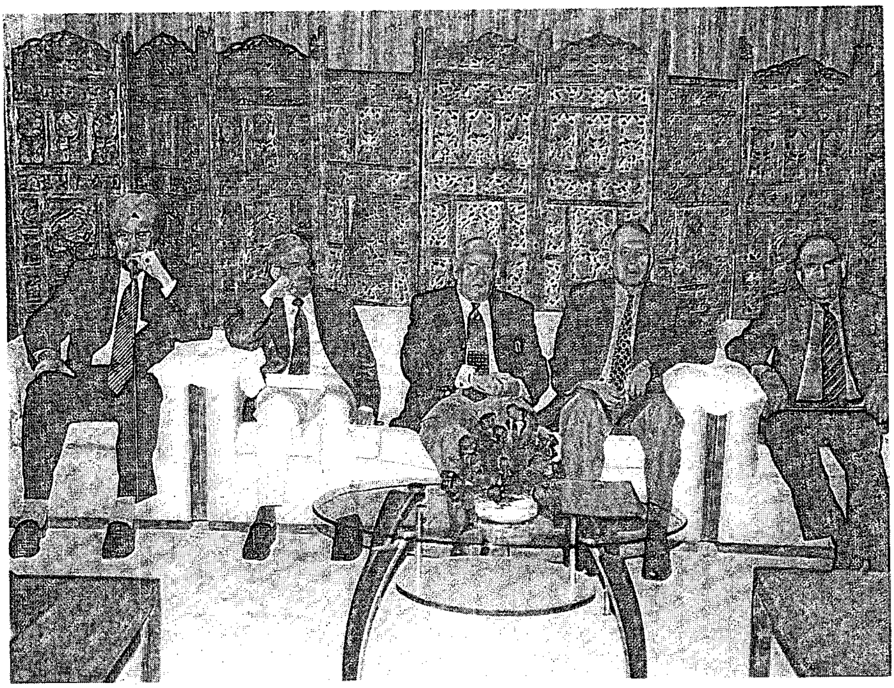

आयोग के माननीय अध्यक्ष एवं सदस्यगण

लेख

मानव अधिकार : 21 वीं शताब्दी की कुछ चुनौतियाँ

* न्यायमूर्ति डॉ0 आदर्श सेन आनंद

20 वीं सदी दो विश्वयुद्धों की त्रासदी से गुजरी। संघर्ष, हिंसा, शोषण, दमन, उत्पीड़न का एक लंबा सिलसिला। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन हुआ, इसके घोषणा–पत्र में मानव अधिकारों की बात की गई; भारत समेत अनेक देश आजाद हुए, नए संविधान बने, मूल अधिकारों की बात की गई लेकिन आज 21 वीं सदी में भी मानव अधिकारों का हनन हो रहा है। हमारे संविधान के तीसरे भाग में मूल अधिकारों का प्रावधान है और चौथे भाग में नीति निर्देशक सिद्धांत हैं। मूल अधिकारों का स्वरूप राजनीतिक एवं नागरिक है, जिसके हनन की फरियाद न्यायालयों में की जा सकती है। नीति निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष आते हैं। सरकारों ने इसके प्रवर्तन को बाध्यकारी नहीं समझा लेकिन न्यायपालिका ने अपने अनेक निर्वचनों के द्वारा इसे बार–बार महत्व दिया और इसे मूल अधिकारों का पूरक घोषित किया। आज भी अनेक क्षेत्र हैं जहाँ मानव अधिकारों का सम्मान नहीं हो रहा है। स्त्रियों की स्थिति सामान्य रूप से आज भी दयनीय है। कन्या भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं। जनसांख्यिकीय संतुलन बिगड़ रहा है। औरतों और बच्चों का अवैध व्यापार चल रहा है। यौन शोषण और वेश्यावृत्ति बदस्तूर जारी है। देश में लगभग 15 करोड़ बच्चे दासता का कष्ट भोग रहे हैं। आतंकवाद की जवाबी कार्रवाई में भी मानवाधिकारों का उल्लंघन हो रहा है। विद्वान लेखक ने चुनौतियों का विवेचन विस्तार से किया है। यदि मानव जाति के अस्तित्व को कायम रखना है तो मानवीय गरिमा और मानव अधिकारों को सम्मान देना होगा।

बीसवीं शताब्दी में मानवाधिकार हनन की स्थिति अत्यंत भयावह और वीभत्स रूप में थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित किया गया लीग ऑफ नेशन्स द्वितीय

* भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति, सम्प्रति – अध्यक्ष, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

विश्व युद्ध को रोकने में विफल रहा। द्वितीय विश्व युद्ध प्रथम विश्व युद्ध की अपेक्षा अधिक विनाशकारी था।

मनुष्य जाति द्वारा स्वयं अपना संहार करने और मानव अधिकारों के घोर उल्लंघन से त्रस्त होकर विश्व समुदाय ने इस दिशा में सोचना शुरू किया। संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा–पत्र इसी का परिणाम था जिस पर 26 जून, 1945 को भारत समेत पचास देशों ने हस्ताक्षर किए और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र में सात स्थानों पर मानव अधिकारों का उल्लेख किया गया है जो यह दर्शाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों में मानव अधिकारों के परिरक्षण एवं संविधान के प्रति गहरी निष्ठा थी।

संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र में आने वाली पीढ़ियों को आत्मसंहार से बचाने की आशा व्यक्त की गई है। इसके लिए, उसमें मानव परिवार के सभी सदस्यों के समान एवं अदेय अधिकारों और उनकी सहज गरिमा की उद्घोषणा की गई है, चाहे वे सदस्य बड़े या छोटे, भले या बुरे, अमीर या गरीब, बुद्धिमान या मूर्ख हों और भले ही उनका जन्म, कहीं भी हुआ हो तथा उनकी नस्ल, हैसियत, वर्ण, लिंग, भाषा, पंथ या राजनैतिक अथवा अन्य मत कुछ भी हो। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र के अनुच्छेद 55 के अनुसार यह अपेक्षा की गई है कि संयुक्त राष्ट्र संघ नस्ल, लिंग, भाषा या पंथ के आधार पर भेदभाव के बिना सभी के लिए मानव अधिकारों एवं मूल स्वतंत्रता का सार्वभौमिक पालन करेगा। अनुच्छेद 56 में यह व्यादेश दिया गया है कि सभी सदस्य अनुच्छेद 55 में निर्धारित उदेश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन के सहयोग से संयुक्त एवं पृथक् कार्रवाई करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

वर्ष 1948 में मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को सभी के लिए एवं राष्ट्र की उपलब्धि के सामान्य मानक के रूप में अंगीकार किया गया था। महासभा ने मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणापत्र को 10 दिसंबर 1948 को अंगीकार किया। उसके बाद दो प्रसंविदाओं को अंगीकार किया गया जो इस प्रकार है :–1966 में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय (आई0 सी0 ई0 एस0 सी0 आर) तथा नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय (आई0 सी0 सी0 पी0 आर0)। भारत ने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय अभिसमय पर 1979 में हस्ताक्षर किए। लेकिन, सार्वभौमिक घोषणापत्र तथा दो प्रसंविदाओं के बावजूद प्रायः प्रतिदिन मानव अधिकारों का व्यापक उल्लंघन होता रहा। नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर 1966 की प्रसंविदा की उद्देशिका में यह कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के तहत राज्यों का यह दायित्व है कि वे मानव अधिकारों और स्वतंत्रता का सर्वत्र सम्मान करें। मानव अधिकारों पर विश्व सम्मेलन ने वियना घोषणापत्र जारी किया था तथा योजना, 1993 संविधान में भी इस बात पर जोर दिया गया था। उसमें यह कहा गया था कि प्रत्येक राज्य को एक कारगर ढांचा

उपलब्ध कराना चाहिए ताकि मानव अधिकारों से संबंधित शिकायतों या उल्लंघनों का निवारण किया जा सके।

20वीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि लोकतंत्र को जैसा कि प्रो0 अमर्त्य सेन ने कहा है "उत्कृष्ट शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया। लोकतंत्र न केवल एक उपयुक्त शासन प्रणाली है बल्कि यह विश्वसनीय भी है। लोकतंत्र में जनता की अधिक सहभागिता से इस बात की संभावना बढ़ जाती है कि राष्ट्र के विकास संबंधी लक्ष्य समाज की व्यापक आकांक्षाओं एवं प्राथमिकताओं के अनुरूप निर्धारित किए जाएंगे। लोकतांत्रिक प्रणाली में सरकारों की वैधता स्वयंसिद्ध होती है तथा उनकी कार्य क्षमता में भी वृद्धि होती है। जब तक राज्य मानवाधिकारों को केंद्र में नहीं रखता तब तक अच्छा शासन एक दिवा स्वप्न बना रहेगा। दरअसल मानव अधिकारों की अवधारणा और लोकतांत्रिक प्रणाली एक दूसरे के पूरक हैं"।

दुर्भाग्य से 21वीं शताब्दी के प्रारंभ में कोई भी देश ऐसा नहीं है जो पिछली शताब्दी के मानव अधिकारों से संबंधित अपने रिकार्ड पर गर्व कर सके। अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 20वीं शताब्दी के दौरान सशस्त्र संघर्षो में लगभग 10 करोड़ लोग मारे गए और राजनीतिक हिंसा में 12 करोड़ लोगों की मौत हुई। संयुक्त राष्ट्र मानव विकास रिपोर्ट 1998 में यह कहा गया है कि 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में सशस्त्र संघर्ष में लगभग पांच प्रतिशत नागरिक मारे गए थे। 1990 के दशक में उनकी संख्या बढ़कर 90 प्रतिशत हो गई। मारे गये लोगों में बच्चों की संख्या बहुत अधिक थी।

बहरहाल, इक्कीसवीं शताब्दी के शुरू में निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण घटनाएं घटी:—

1. पूर्ण मानव विकास तथा सभी के लिए मानव अधिकार से संबंधित अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए गरीब तथा अमीर राष्ट्रों द्वारा की गई नई पहल, तथा
2. 8 सितंबर 2000 को संयुक्त राष्ट्र सहस्राब्दी शिखर सम्मेलन में 189 देशों द्वारा अंगीकृत घोषणापत्र में उल्लिखित सहस्राब्दी विकास लक्ष्य।

मूल्यों पर आधारित संयुक्त राष्ट्र सहस्राब्दी विकास लक्ष्य में यह संकल्प किया गया है कि राष्ट्र मानव की गरीबी को दूर करेंगे, मानव की गरिमा और समानता को बढ़ाएंगे और निम्नलिखित के संबंध में कदम उठाएंगे—अपर्याप्त आय को बढ़ाना, भुखमरी को मिटाना, स्त्री—पुरूष असमानता को दूर करना, पर्यावरण का बचाव करना तथा शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छ जल उपलब्ध कराना, मानव विकास तथा मानव अधिकारों का कार्यरूप में परिणत करना।

21 वीं शताब्दी की कुछ चुनौतियां : सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की उपेक्षा

देश में गरीबी के कारण लाखों–करोड़ों लोगों की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित इन लोगों के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा की बात एक दिवा स्वप्न की भाँति है।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (सं.रा.वि.का.) की रिपोर्ट 2003 के अनुसार भारतीय समाज विषमताओं से भरा हुआ है। इसमें 10 प्रतिशत अमीर लोग 33 प्रतिशत संसाधनों का उपयोग करते हैं जबकि 10 प्रतिशत अति गरीबों के हिस्से में केवल 3.5 प्रतिशत संसाधन ही आते हैं। लगभग 23.30 करोड़ लोग भुखमरी के शिकार हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 26 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श संगठन के सर्वेक्षण पर आधारित वैकल्पिक आर्थिक सर्वेक्षण 2000–2001 में यह दिखाया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा से नीचे रह रहे लोगों की संख्या 1990 में 35 प्रतिशत थी जो 1998 में बढ़कर 45.3 प्रतिशत हो गई।

लगभग 51 प्रतिशत लोग ऐसे हैं जो आवश्यक औषधियां तक नहीं खरीद सकते। हर एक हजार जन्मे बच्चों में शिशु–मृत्यु दर 68 है। 5 वर्ष से कम आयु वाले बच्चों की मृत्युदर प्रति 1000 में 93 है, 26 प्रतिशत का वजन कम होता है और 24 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। मातृ–मृत्यु का अनुपात 100,000 में 440 है और 72 प्रतिशत लोगों को स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद स्थितियां सुलभ नहीं हैं (सं0 रा0 वि0 का0 रिपोर्ट 2003)।

राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की तुलना में सामजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की रक्षा बहुत कम तथा अनियमित रूप से की गई। अधिकारों के किसी एक समूह को अधिकारों के किसी अन्य समूह से निम्न समझने की भ्रांति बनी रहती है। इस भ्रांति को दूर करना एक चुनौती है जिसका सामना हम लोग इस शताब्दी में कर रहे हैं।

जब भारत के लोगों ने अपने को संविधान के प्रति समर्पित करने का संकल्प किया था तब हमारा लक्ष्य सभी नागरिकों की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता का आश्वासन देते हुए निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करना था : न्याय, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता के अतिरिक्त स्तर और अवसरों की समानता तथा भ्रातृत्व। भारत का संविधान गंभीर विमर्श का परिणाम था, लेकिन संविधान के भाग–3 में उल्लिखित मूल अधिकारों के अध्याय में कुछ बुनियादी आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार नहीं दिए गए हैं यथा भोजन का अधिकार, आश्रय का अधिकार, काम का अधिकार, डॉक्टरी देखभाल का अधिकार, आदि। इन अधिकारों का उल्लेख संविधान के भाग–4 में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धातों

के रूप में किया गया है। चूँकि मूल अधिकारों में सम्मिलित किए गए सिविल और राजनीतिक, दोनों अधिकार वादयोग्य (जस्टिसिएबल) और प्रवर्तनीय (एनफोरसिबल) हैं लेकिन राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत आने वाले आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रवर्तनीय या वादयोग्य नहीं हैं। मूल अधिकार वादयोग्य हैं जबकि निर्देशक सिद्धांत वादयोग्य नहीं हैं।

कदाचित् भारतीय समाज की तत्कालीन सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि में संविधान निर्माताओं ने दो तरह के अधिकार निर्धारित किए थे जो मानव अधिकारों के विकास में दो धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके आधार पर मानव अधिकारों का विभाजन हो गया अर्थात् एक तरफ नागरिक और राजनीतिक अधिकार तथा दूसरी तरफ सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकार। उक्त दोनों प्रकार के अधिकार समानरूप से महत्वपूर्ण और एक दूसरे के पूरक हैं। ये अधिकार मानव के गरिमामय जीवन और मानव व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए परम आवश्यक हैं।

संविधान के अनुच्छेद 37 का अधिदेश यह है कि यद्यपि निर्देशक सिद्धांत न्याय और न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं फिर भी उन्हें देश के शासन में मूलभूत के रूप में माना जाता है। अतः राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह इन सिद्धांतों को लागू करे।

संविधान प्रारूपण समिति के अध्यक्ष डॉ0 बी0 आर0 अम्बेडकर ने निर्देशक सिद्धांतों के बारे में कहा था कि ये शासन के दिशा निर्देशक सिद्धांत होंगे लेकिन जैसा कि हमें दृष्टांतों से पता चलता है, भारत सरकार ने इन सिद्धांतों को कभी भी पूर्ण मनोयोग से लागू नहीं किया। इसका कारण अपर्याप्त संसाधनों को बताया गया। इस संबंध में न्यायपालिका धन्यवाद की पात्र है जिसके कारण निर्देशक सिद्धांतों को महत्व दिया जाने लगा। न्यायिक निर्वचनों द्वारा नागरिक और राजनीतिक अधिकारों तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के बीच अंतर को कम करने का प्रयास किया गया। न्यायालय ने यह महसूस किया कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को उचित रूप से प्राप्त किए बिना गरिमापूर्वक जीवनयापन के मूल अधिकार को प्राप्त करना संभव नहीं है इसलिए उसने मूल अधिकारों को निर्देशक सिद्धांतों से श्रेष्ठ मानने की संकल्पना को स्वीकार नहीं किया। केरल राज्य बनाम एम0 थामस (1976 (2) एस. सी. सी. 310) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह टिप्पणी दी थी कि मूल अधिकार और निर्देशक सिद्धांत एक दूसरे के पूरक हैं।

फ्रांसिस कोराली मुलिन बनाम प्रशासक, दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र (1981 (2) एस. सी. आर. 516) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित घोषणा की थी। जीवन के अधिकार में मानवीय गरिमा सहित जीने का अधिकार तथा उससे संबंधित अन्य मूलभूत बातें शामिल हैं, जैसे पोषण, कपड़े और आश्रय तथा पढ़ने–लिखने की सुविधा और विविधरूपों में अपनी अभिव्यक्ति करना, स्वतंत्रतापूर्वक घूमना–फिरना तथा अपने साथियों से मिलना–जुलना।

भारत के न्यायालयों ने स्वास्थ्य देखभाल, खाद्य सुरक्षा तथा प्रारंभिक शिक्षा को जीवन के अधिकार के साथ जोड़ दिया है (संविधान का अनुच्छेद 21) और इन अधिकारों को न्याय बना दिया है। उन्नीकृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य (1993 (1)) एस0 सी0 सी0 645) के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह व्यवस्था दी गई कि मानव जीवन के लिए स्वास्थ्य का अधिकार भी शामिल होना चाहिए। इस प्रकार यह देखा गया है कि इस देश में आज संबंधित विषय पर जो विधि तैयार की जाती है उसमें मूल अधिकारों को निर्देशक सिद्धांतों के संगत बनाए जाने का प्रयास किया जाता है और उसके आधार पर नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों और आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को एक साथ जोड़कर देखा जाता है।

संविधान में 86वाँ संशोधन किए जाने के बावजूद आज भी लगभग 35 प्रतिशत जनसंख्या निरक्षरता के अंधकार में भटक रही है। लगभग पाँच करोड़ बच्चे स्कूली शिक्षा से वंचित हैं और हाई स्कूल से पहले ही 50 प्रतिशत से अधिक छात्र बीच में पढ़ाई छोड़कर चले जाते हैं। स्त्री पुरुष समानता का सूचकांक 0.82 है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि दाखिला लेने वाले लड़कों की संख्या 1000 होती है तो दाखिल लड़कियों की संख्या 820 होती है (यू0 एन0 डी0 पी0 2003)।

आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रंसविदा जिसमें भारत एक राज्य पक्ष है, में भूख से मुक्ति को प्रत्येक व्यक्ति के मूल अधिकार तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए पर्याप्त भोजन के अधिकार को विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षा के अधिकार को भी स्वीकार किया गया है तथा प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क उपलब्ध कराने पर जोर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, इसमें प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के अधिकार को भी स्वीकार किया गया है।

राज्य को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के महत्व को समझना चाहिए। इन अधिकारों की उपेक्षा करने से आतंरिक विरोध और असंतोष पैदा होता है जो लोकतांत्रिक समाज तथा मानव अधिकारों के लिए खतरा है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों यथा भोजन, स्वास्थ्य की देखभाल, शिक्षा, आदि के अधिकार की अवहेलना और उपेक्षा संघर्ष एवं आतंकवाद का भी कारण बनती है। इससे न केवल मानव अधिकारों को बल्कि शांति को भी खतरा है। जहाँ भुखमरी है वहां शांति नहीं हो सकती।

स्त्री–पुरुष समानता को नकारना

पूरी दुनिया में महिलाओं की उपेक्षा होती है और वे तमाम सुविधाओं से वंचित रह जाती हैं। साथ ही साथ वे अनेक प्रकार की हिंसा का शिकार बन जाती हैं। क्षेत्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय लिखतों का समर्थन किये जाने के बावजूद अनेक राज्यों में ऐसी विधियां

एवं प्रथाएं हैं जिनके आधार पर महिलाओं के प्रति भेदभाव बरता जाता है। यह बात जमीन तथा अन्य महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधन प्राप्त करने तथा परिवार के भीतर अधिकारों के संदर्भ में पूरी तरह लागू होती है। महिलाओं के प्रति अपराधों में बेतहाशा वृद्धि हो रही है। ये अपराध वस्तुतः मानवता के विरुद्ध अपराध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सरकारें अपराध के लिए जिम्मेदार लोगों पर करागर ढंग से अभियोजन चलाने में विफल रही हैं। आज 21वीं शताब्दी में भी हम ऐसे समाज का दावा नहीं कर सकते जिसमें स्त्रियों और पुरुषों के बीच पूर्ण समानता पाई जाती हो। विश्व के प्रौढ़ निरक्षरों में दो तिहाई महिलाएं हैं, जिनकी संख्या 50 करोड़ है। विश्व के गरीब लोगों में 70 प्रतिशत महिलाएं हैं।

जहां तक समानता का संबंध है, भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में पुरुषों और महिलाओं को समान अधिकार तथा अवसर प्रदान किये गये हैं। अनुच्छेद 15 के अनुसार पंथ, नस्ल, जाति, लिंग आदि के आधार पर किसी नागरिक के साथ भेदभाव करना निषिद्ध है। अनुच्छेद 15 (3) में एक विशेष उपबंध दिया गया है जिसके आधार पर राज्य महिलाओं के पक्ष में सकारात्मक भेदभाव कर सकता है। उसी प्रकार अनुच्छेद 16 के अनुसार सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में सभी नागरिकों को समान अवसर उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद 39 (क) में यह निर्धारित किया गया है कि राज्य सभी नागरिकों–पुरुषों एवं महिलाओं को समान रूप से जीविका के साधनों का अधिकार उपलब्ध कराने की नीति अपनाएगा। अनुच्छेद 39 (ग) द्वारा यह सुनिश्चित किया गया है कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जाएगा। अनुच्छेद 42 के अनुसार राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह काम की न्यायसंगत तथा मानवीय दशाएं और प्रसूति राहत सुनिश्चित कराने की व्यवस्था करे। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि संविधान ने अनुच्छेद 51 (ड.) के माध्यम से प्रत्येक नागरिक को यह मूल अधिकार दिया गया है कि वह महिलाओं की गरिमा को घटाने वाली प्रथाओं को त्याग दे। इन संवैधानिक उपबंधों के बावजूद प्रश्न यह उठता है कि क्या महिलाएं संविधान के अधीन उपलब्ध कराए गए लाभ प्राप्त कर सकी हैं। दुर्भाग्यवश इसका उत्तर सकारात्मक नहीं है। संविधान में दिए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अभी काफी कुछ किया जाना बाकी है।

राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनके विषय में गहरी चिंता व्यक्त की जा सकती है। कन्या भ्रूण हत्या एक ऐसा जघन्य अपराध है जिसके सही आंकड़े देना भी मुश्किल है। लेकिन यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में प्रति वर्ष 15 से 50 लाख के बीच कन्या भ्रूणों की हत्याएं की जा रही हैं। नई प्रौद्योगिकी के आ जाने से कन्या शिशु हत्या के स्थान पर अब कन्या भ्रूण हत्याएं हो रही हैं। यह भयानक प्रवृत्ति केवल शहरों में ही नहीं बल्कि गावों और दूर दराज के इलाकों में भी है जहां अपनी कन्याओं को जन्म के पहले ही मौत के मुँह में डाल दिया जाता है।

देश में लगभग 204 जिले ऐसे हैं, जहां बालिकाओं का अनुपात शून्य से छह वर्ष के आयु वर्ग में प्रति हजार 927 के राष्ट्रीय औसत से भी कम है। 48 जिलों में प्रति हजार महिलाओं का अनुपात 850 से कम है। प्रत्येक हजार पुरुषों के जन्म पर घटते महिला अनुपात को इन आंकड़ों में देखा जा सकता है :

वर्ष	महिला अनुपात
1961	941 / 972
1999	927
2001	933
2003	927

अध्ययनों से पता चलता है कि पूरे देश में लगभग 47 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं रक्ताल्पता से पीड़ित हैं। 30 प्रतिशत शिशुओं की मृत्यु की वजह माताओं में खून की कमी और उसके कारण बच्चों का वजन कम हो जाना है। भारत में मातृ–मृत्यु दर विकसित देशों से 50 गुणा से भी अधिक है। जबतक हम महिलाओं के बुनियादी मानव अधिकारों को मान्यता प्रदान नहीं करेंगे तबतक उन्हें न्याय देने की बातें करना बेमानी ही है।

महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार का अभिशाप

महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार में वृद्धि भी गंभीर चिंता का विषय है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग इस पर ध्यान देता रहा है। यह मानव अधिकारों का घोर उल्लंघन है, एक गंभीर अपराध है और महिलाओं की मान–मर्यादा के भी खिलाफ है। यह एक ऐसी समस्या है जिसके कारण सभ्य समाज में हमारा सिर शर्म से झुक जाता है क्योंकि हम मानवों को चल सम्पत्ति, उपभोक्ता वस्तु, बिक्री–योग्य सामान समझकर उनके साथ व्यवहार कर रहे होते हैं, जिसकी कीमत आयु, वर्ग, रंग, और लिंग के अनुसार अलग–अलग होती है। जो घिनौना काम किसी समय दूर दराज की गुप्त और अज्ञात गली में होता था वह अब पांच सितारा प्रतिष्ठानों में किया जाता है।

अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम 1956 (1986 में संशोधित) के बावजूद वेश्यावृत्ति बढ़ रही है। पुलिस वेश्यालय चलानेवालों तथा दलालों को रोक पाने में असमर्थ रही है। देश के अनेक भागों में बदकिस्मत किशोरियां देह व्यापार के शिकंजे में फँसी हैं। यहाँ तक कि उनके माँ–बाप गरीबी और भुखमरी के कारण लाचार होकर अपनी बेटियों को तुच्छ राशि में बेच देते हैं। ऐसे माँ–बाप अपने बच्चों का पालन–पोषण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं और यह आशा करते हैं कि उनके बच्चों को किसी के घर कोई काम मिल जाएगा। लेकिन असल में वे अपने बच्चों को देह व्यापार के लिए दलालों के हाथ बेच रहे होते हैं जो उनके साथ तब तक पाशविक व्यवहार करते हैं जब तक वे उनकी इच्छानुसार कार्य नहीं करते। इस तरह बड़ी संख्या में लड़कियों

और महिलाओं को देह व्यापार में धकेल दिया जाता है और यह धंधा नैतिकता, शालीनता और मानव गरिमा के समस्त सिद्धांतों का घोर उल्लंघन करता हुआ फलता–फूलता रहता है।

सेक्स प्रयोजनों के लिए महिलाओं और बच्चों का शोषण किया जाना केवल भारत तक ही सीमित नहीं है जिसकी सरहद नेपाल, श्रीलंका और बांग्लादेश के साथ खुली हुई है, बल्कि यह समस्या संपूर्ण विश्व में व्याप्त है। आंकड़ों से पता चलता है कि यह घिनौना अपराध काफी तेजी से फल–फूल रहा है और इससे एक वर्ष में 8 अरब डॉलर का व्यापार हो रहा है। यह नशीले पदार्थों के अवैध व्यापार से होने वाले लाभ से भी अधिक है। एशिया प्रशांत क्षेत्र में प्रतिवर्ष 4,50,000 व्यक्तियों का अवैध व्यापार होता है और उनमें से दो लाख व्यक्ति दक्षिण एशिया के होते हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार के मसले पर केवल बौद्धिक चर्चा ही की जाती है।

वास्तव में देह व्यापार अत्यंत जटिल समस्या है और इसकी जड़ें समाज में काफी गहरी हैं। इसे हल करने के लिए कई स्तरों पर प्रयास किये जाने जरूरी हैं। संशोधित अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम, 1986 भी देह–व्यापार को रोकने मे कारगर साबित नहीं हुआ है। उक्त अधिनियम महिलाओं और बच्चों को अगवा करने, उनकी बिक्री, अपहरण, आदि से संबंधित भारतीय दंड संहिता के उपबंधों के पूरक के रूप में काम करता है और इसमें समस्या के केवल दंडात्मक पहलुओं पर जोर दिया गया है। उक्त अधिनियम में ग्राहक को दंड देने की कोई व्यवस्था नहीं की गई हैं। साथ ही उन पेशेवर सेक्स कर्मियों का पुनर्वास करने का कोई उपबंध नहीं दिया गया है, जिन्हें वेश्यालय से छुड़ाया गया है। अधिनियम में वेश्यावृत्ति का उन्मूलन करने के बजाय इसे स्वयं एक दंडनीय अपराध माना गया है। औरत को दंड दिया जाता है क्योंकि उसने वेश्यावृत्ति की है। कानून का सख्ती से लागू न किया जाना तथा अपर्याप्त दांडिक न्याय पद्धति भी इसका एक कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा समाज असभ्य होने के साथ–साथ मनोरोगी भी है। जब भी महिलाओं के प्रति कोई हिंसक अपराध होता है तो समाज में सनसनी फैल जाती है और उसका व्यापक स्तर पर विरोध होने लगता है। परंतु विरोध का यह स्वर शीघ्र लुप्त भी हो जाता है। समाज को अपना रवैया बदलना होगा। ऐसे मामलों से निपटने के लिए चार चरणों से गुजरना पड़ता है :– **छापा मारना और छुड़ाना, बरामदगी, पुनर्वास तथा पुनः समामेलन।**

पहला चरण अर्थात् **छापा मारने और पीड़ित व्यक्ति को छुड़ाने के लिए छापा मारने वाले अधिकारियों को ईमानदारी, समझदारी तथा संवेदनशीलता** के साथ कार्य करना होगा। उन्हें अपने साथ ऐसे गवाहों को शामिल करना चाहिए जो केस में सहायता कर सकें और अपने बयान से पलट न जाएं। प्राधिकारियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे छापा मारते और पीड़ितों को छुड़ाते समय विश्वसनीय स्वैच्छिक संगठनों को भी शामिल करें ताकि अभियोजन केस में कोई क्षति नहीं पहुंचे।

पीड़ित व्यक्तियों को बरामद करने के बाद इस बात पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि वे पुनः शोषकों के हत्थे न चढ़ें और उन्हें बेहतर जीवन व्यतीत करने का अवसर भी मिले। हमारे पास आश्रय–गृह, अल्पावधिक आवास–गृह होने चाहिए जहाँ हम उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान कर सकें। बरामद की गई महिला पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाएगा, तब तक उस पर लगा लांछन उसका पीछा नहीं छोड़ेगा। यहां तक कि उसका अपना परिवार भी उसको वापस लेने या स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा।

पीड़ितों का समाज में पुनः समामेलन अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र है। सभ्य समाज को यह समझना चाहिए कि संबंधित महिला या बच्चा परिस्थितियों का शिकार रहा है। अतः उसके साथ संवेदनशील व्यवहार किया जाए। समाज तथा राज्य का कर्तव्य यह सुनिश्चित करना है कि पीड़ित व्यक्ति का पुर्नवास किया जाए और उसे समाज में पहले की तरह समाहित कर लिया जाए। उसके अतीत को एक दुःस्वप्न की भांति भूल जाना चाहिए। व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा रोजगार या स्व–रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना अंततोगत्वा इस समस्या का हल करने में सहायक सिद्ध होगा।

महिलाओं और बच्चों का अवैध व्यापार एक जबरदस्त चुनौती है। इस अपराध में लगातार वृद्धि हो रही है। 'सेक्स पर्यटन' आज एक वास्तविकता बन गया है जिसके कारण समस्या और भी जटिल हो गई है। इस अपराध से निपटने के लिए कानून हैं लेकिन वे केवल अपर्याप्त ही नहीं है बल्कि उन्हें कारगर तरीके से लागू भी नहीं किया जाता। महिलाओं और बच्चों का यौन शोषण मानव अधिकारों का घोर उल्लंधन है। हमें इस चुनौती को स्वीकार करना होगा और सभी संभावित कदम तत्काल उठाने होंगे।

बहरहाल, इस बात से सावधान कराना आवष्यक है महिलाओं द्वारा न्याय के लिए संघर्ष करने या समानता के लिए आवाज उठाने को पुरुषों के विरुद्ध संघर्ष नहीं समझना चाहिए। यह संघर्ष उन परंपराओं के खिलाफ है जिनकी बेड़ियों ने नारी जाति को जकड़ रखा है। यह उस रवैये के खिलाफ है जो समाज ने अपना रखा है। पुरुषों को यह स्वीकार करना चाहिए कि जीवन में महिलाएं बराबर की भागीदार हैं। वे भी मनुश्य हैं जिनकी अपनी पहचान हैं।

बाल–अधिकारों की उपेक्षा

मानव अधिकारों के विकास में बच्चों के अधिकार को अपेक्षाकृत देर से शामिल किया गया है। बाल अधिकार अभिसमय पर 1989 में हस्ताक्षर किए गए थे। इसका अनुसमर्थन सोमालिया और अमेरिका को छोड़कर 192 देशों ने किया था। बाल अधिकारों पर विलम्ब से की गई कार्रवाई यह दर्शाती है कि समाज के इस कमजोर वर्ग के अधिकारों की उपेक्षा की जाती रही है।

आजकल बच्चे यातना, युद्ध, हिंसा, गरीबी, बँधुआ मजदूरी, यौन उत्पीड़न जैसी

समस्याओं की गिरफ़्त में हैं तथा अनेक मूलभूत सुविधाओं से वंचित हैं। बच्चों का स्वास्थ्य, विशेष रूप से समाज के कमजोर वर्गों के बच्चों में कुपोषण चिंता का विषय है। आँकड़ों के अनुसार 26 प्रतिशत बच्चों का वजन कम होता है और वे कुपोषण के शिकार होते हैं। कुपोषण शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक है और यह सामाजिक, आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के बच्चों में तो बहुत अधिक हैं। 6–35 महीने की आयु के लगभग तीन चौथाई बच्चे खून की कमी से पीड़ित होते हैं। 6–35 महीने की आयु वाले बच्चों में खून की कमी केरल और नागालैण्ड में 44 प्रतिशत से लेकर हरियाणा, राजस्थान, बिहार और पंजाब में 80–84 प्रतिशत तक पाई जाती है।

भारत में बालश्रम की समस्या सर्वविदित है और मजदूरी कराने के लिए बच्चों का शोषण किया जाना एक कटु सत्य है। इस देश में लगभग 15 करोड़ बच्चे दासता का कष्ट भोग रहे हैं। खतरनाक और गैर–खतरनाक उद्योगों के बीच बनावटी अंतर को समाप्त करना होगा। निवारण, निषेध, विनिमयन तथा पुर्नवास की दृष्टि से बाल–श्रम के पूरे मुद्दे को हल करने के लिए एक व्यापक कानून बनाना अति आवश्यक है।

आतंकवाद और उसकी जवाबी कार्रवाई

यहाँ एक अन्य चुनौती का संदर्भ देना भी जरूरी है जो संपूर्ण विश्व में निर्दोष लोगों के मानव अधिकारों को प्रभावित करती है और इस देश में तीन से भी अधिक दशकों से चिंता का विषय बनी हुई है। आतंकवाद का भूत पूरी दुनिया पर सवार है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि मानव अधिकार मानव के मूल महत्व को स्वीकार करते हैं जबकि आतंकवाद निर्दोष लोगों के मानव अधिकारों के मूल पर कुठाराघात करता है। आतंकवाद और मानव अधिकार स्वाभाविक रूप से एक–दूसरे के विरोधी हैं और उनमें सह–अस्तित्व की कोई संभावना नहीं है। संघर्ष और आतंकवाद मानव जाति के लिए गंभीर खतरा बन गया है। मानव अधिकारों का समर्थन करनेवाला कोई भी व्यक्ति आतंकवाद का समर्थन नहीं करेगा। आतंकवाद निर्दोष लोगों के मानव अधिकारों का घोर उल्लंधन करता है।

पिछले अनेक वर्षों से आतंकवाद पर व्यापक विचार–विमर्श होता रहा है परंतु जिस आतंकवाद के विरुद्ध हमें लड़ना है उस आतंकवाद की सार्वभौमिक रूप से स्वीकार्य परिभाषा अभी तक नहीं दी जा सकी है।

जीवन के अधिकार को मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा और सभी अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं में शामिल किया गया है। केवल यही एक ऐसा अधिकार है जिससे अन्य सभी अधिकार सुनिश्चित होते हैं। जीवन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति, लोगों के प्रत्येक समूह, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक राष्ट्र तथा वस्तुतः समस्त मानव जाति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। निर्दोष लोगों के जीवन के इसी अधिकार को समाप्त करना आतंकवाद का लक्ष्य है। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'स्वतंत्रता के

लिए' या 'स्वतंत्रता के लिए संघर्ष' जैसे नकली नारों से आतंकवाद का औचित्य सिद्ध नहीं हो सकता।

सीनेटर जैक्सन ने ठीक ही कहा था – "इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक व्यक्ति जिसे आतंकवादी मानता है वही दूसरे व्यक्ति के लिए "स्वतंत्रता संग्रामी" है। स्वतंत्रता संग्रामी या क्रांतिकारी कभी भी बसों को नहीं उड़ाते हैं जिसमें गैर–लड़ाकू बैठे हों। स्वतंत्रता संग्रामी स्कूल के बच्चों को न तो पकड़ते हैं और न ही उनकी हत्या करते हैं। यह एक लज्जाजनक बात है कि लोकतंत्र में "स्वतंत्रता" जैसे शब्द को आतंकवादी कृत्यों के साथ जोड़ा जाए।

मैं यह मानता हूँ कि हालाँकि किसी भी प्रकार से आतंकवाद का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता लेकिन अनेक लोग ऐसी स्थितियों में रहते हैं जहां आतंकवाद पनपता है। यह सभी जानते हैं कि मानव अधिकारों का लंबे समय तक उल्लंघन संघर्षों एवं आतंकवाद का मूल कारण है। जहाँ अत्याचार बढ़ रहा हो, मानव अधिकारों की व्यापक रूप से उपेक्षा की जा रही हो और लोगों के भविष्य की आशा को समाप्त किया जा रहा हो वहाँ आतंकवाद जन्म लेने लगता है। जहाँ बड़े पैमाने पर सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषमताएं होती हैं, वहाँ राज्य के भीतर और बाहर संघर्ष भड़कने लगते हैं। अतः ऐसे संघर्षों पर नियंत्रण पाने के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों के बढ़ावा देने के महत्व को समझा जाना चाहिए। मानव अधिकारों को सार्थक बनाने के लिए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का संरक्षण और संवर्धन राजनीतिक अधिकारों के संरक्षण के साथ–साथ किया जाना चाहिए।

सभी रूपों में प्रकट कट्टरवाद आतंकवाद का सूक्ष्म रूप कहा जा सकता है और यह मानव अधिकारों को भोगने की गंभीर चुनौती है। "अपने तथा कथित मजहब या विचारधारा" को थोपने के लिए आतंकवादी गतिविधियाँ संचालित करना एक विकट चुनौती है। सभी धार्मिक लोग सौहार्द और भातृत्व में विश्वास करते हैं लेकिन गुमराह हुए कट्टर लोग मानव जीवन को महत्व नहीं देते हैं और मजहब के नाम पर मानव अधिकारों पर हमले करते हैं। इनमें दंभी सामाजिक संहिता को लागू करना तथा अभिव्यक्ति और विचारों की स्वतंत्रता को महत्व न देना शामिल है। लेकिन याद रखना चाहिए कि मानव अधिकारों और लोकतंत्र की रक्षा करने के वास्ते आतंकवाद विरोधी कार्रवाई के लिए एक मूल तर्क–आधार होना चाहिए। जवाबी कार्रवाई का लक्ष्य लोकतांत्रिक मूल्यों के महत्व को कम करना और मानव अधिकारों का उल्लंघन करना तथा विधिसम्मत शासन को समाप्त करना नहीं होना चाहिए। बढ़ते हुए आतंकवाद को नियंत्रित करना होगा और उसके विरुद्ध लगातार लड़ाई लड़नी होगी लेकिन ऐसा करने में किसी भी लोकतांत्रिक समाज को नागरिक स्वतंत्रताओं की उपेक्षा नहीं करने दी जाएगी। निर्दोष नागरिकों के मानव अधिकारों का उल्लंघन करने वाले आतंकवादी को दंड देना होगा, परंतु विधि द्वारा अनुमत ढंग को छोड़कर उसके मानव अधिकारों

का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। सुरक्षा कर्म और मानव अधिकारों के बीच उचित संतुलन बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करना होगा।

इस संबंध में स्वतंत्र न्यायपालिका और एक कारगर मानव अधिकार संस्था का होना परम आवश्यक है। 18 जनवरी 2002 को सुरक्षा परिषद को संबोधित करते हुए संयुक्त राश्ट्र के महासचिव ने कहा था :– "हमें आतंकवादी कार्यो को रोकने के संबंध में निगरानी रखने और उन्हें अनुपयोगी घोषित करने तथा उनको दंड देने में दृढ़ता बरतने की जरूरत है। यदि हम अन्य प्राथमिकताओं यथा प्रकियागत मानव अधिकारों का त्याग कर देते हैं तो यह हमारी आत्म–पराजय होगी।" मानव अधिकारों के लिए तत्कालीन संयुक्त राष्ट्र आयुक्त सुश्री मेरी रॉबिन्सन ने कहा था कि "इस बात को कभी भी भूलना नहीं होगा कि शांति और सुरक्षा के संवर्धन में मानव अधिकार बाधा नहीं हैं बल्कि ये तो आतंकवाद को समाप्त करने की किसी भी रणनीति के आवश्यक तत्व हैं।"

भारत के उच्चतम न्यायालय ने डी0 के0 बसु बनाम पश्चिम बंगाल राज्य के मामले [1997 (1) एस सी 1] में सावधान किया था :–

"आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए राज्य द्वारा संचालित आतंकवाद हल नहीं है। राज्य द्वारा संचालित आतंकवाद से आतंकवाद को केवल वैधता मिलेगी। यह राज्य, समुदाय तथा सर्वोपरि विधिसम्मत शासन के लिए अच्छा नहीं होगा। अतः राज्य को यह सुनिश्चित करना होगा कि आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए उसके द्वारा नियुक्त की गई विभिन्न एजेंसियां कानून के अंतर्गत काम करें और स्वयं कानून न बन जाएं। यह ध्यान रखना होगा कि संकट काल के दौरान राष्ट्रीय सुरक्षा की ढाल का इस्तेमाल मानव अधिकारों को नकारने के लिए न हो।

भारत के राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग का यह दृढ़ विचार है कि मानव अधिकारों का उचित रूप से पालन करना शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देने में बाधक नहीं है बल्कि यह तो शांति और सुरक्षा का परिरक्षण करने तथा आतंकवाद को समाप्त करने की रणनीति का एक अत्यावश्यक कार्रवाई तत्व है। अतः आतंकवाद विरोधी कार्रवाई का उद्देश्य लोकतंत्र, विधिसम्मत शासन तथा मानव अधिकारों की रक्षा करना होना चाहिए।

खर्चीला एवं विलंबित न्याय

विलंबित तथा खर्चीला न्याय विशेषतः समाज के कमजोर तथा संवेदनशील वर्ग के मानव अधिकारों पर कुठाराघात है। स्वतंत्रता प्राप्ति के कई दशक बाद भी समाज के गरीब, पिछड़े तथा कमजोर वर्गों के लोग यह महसूस करते हैं कि सामाजिक, आर्थिक स्थितियों के कारण उन्हें न्याय प्राप्त करने का समान अधिकार प्राप्त नहीं हुआ हैं। भारत सरकार ने खर्चीले न्याय की चुनौती का सामना करने के लिए संकल्प व्यक्त किया था। उक्त संकल्प को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम 1986 लागू किया था जिसका उद्देश्य गरीबों और दलितों को कम खर्च

पर न्याय दिलाने के लिए विभिन्न योजनाएं शुरू करना था लेकिन इस संबंध में अभी काफी कुछ किया जाना बाकी है।

31 दिसंबर, 2004 को देश के न्यायालयों में लगभग तीन करोड़ मामले लंबित थे। निचली अदालतों में दो करोड़ से अधिक (2,33,19,679), उच्च न्यायालयों में तैंतीस लाख से अधिक (33,79,033) और उच्चतम न्यायालय में 30,151 मामले लंबित थे। जितनी संख्या में मुकदमे दायर किए गए उतनी संख्या में इनका निपटान नहीं किया गया, अतः अनिर्णीत मामलों की संख्या में वृद्धि होती रही।

भारतीय न्यायपालिका के समक्ष एक विकट चुनौती यह भी है कि वह विशेषकर अधीनस्थ न्यायालयों में शीघ्र न्याय प्रदान नहीं कर सकी है। इससे वादकारियों में निराशा पैदा हुई है। मानव धैर्य की भी सीमा होती है और आधुनिक जीवन शैली में अनंतकाल तक इंतजार करना संभव नहीं है। बकाया मामलों की संख्या बढ़ने के विभिन्न कारण हो सकते हैं, यथा रिक्त स्थानों को भरने में विलम्ब होने के कारण अपेक्षित न्यायालयों और न्यायाधीशों की कमी तथा आधार संरचना का अभाव। 10 लाख से अधिक लोगों के लिए लगभग 13,000 न्यायिक अधिकारी हैं। आँकड़ों के अनुसार उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की लगभग 150 (कुल संख्या–748) और अधीनस्थ न्यायालयों में लगभग 2000 (11,500 न्यायालय नियुक्ति) रिक्तियां हैं।

यह न्याय में देरी का मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त न्यायपालिका पर किया गया कम खर्च (0.2 प्रतिशत सकल राष्ट्रीय उत्पाद) यह दर्शाता है कि राज्य द्वारा न्यायपालिका को कम प्राथमिकता दी जा रही है। (यू० के० में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 4.3 प्रतिशत)

न्याय का इच्छुक व्यक्ति यह चाहता है कि उसे निष्पक्ष, शीघ्र और कम खर्चीला न्याय उपलब्ध कराया जाए। वह मामलों के निपटान में होने वाले विलंब के कारण नहीं जानना चाहता। मामलों के निपटान में विलम्ब होने का परिणाम यह होता है कि नागरिक कानून को अपने हाथ में ले लेता है और झगड़ा निपटाने के लिए न्यायेतर तरीका अपनाने लगता है। इस प्रकार, वह अपनी शिकायत का निवारण स्वयं करने का प्रयास करता है। यह एक गहरी चिंता का विषय है।

दांडिक न्याय प्रणाली के प्रशासन का क्षेत्र चिंता का एक अन्य कारक है। बड़े पैमाने पर अपराधियों (प्रायः 80 प्रतिशत) को बरी कर दिया जाता है। इससे आपराधिक न्याय परिदान प्रणाली में लोगों का विश्वास कम होता जा रहा है। जब किसी अपराध के लिए दंड नहीं दिया जाता है तो अपराधी को बढ़ावा मिलता है और पीड़ित व्यक्ति हताश हो जाता है। इससे अंततः समाज को नुकसान पहुंचता है जिसके कारण देश की कानून और व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

बार–बार चिंता व्यक्त किए जाने के बावजूद हम अभी तक बढ़ते हुए अपराधों को रोक नहीं पाए हैं। एक चीज जो निश्चित रूप से दिखाई देती है वह यह है कि केवल अधिक पुलिस, अधिक कारागार, अधिक कानून, अधिक न्यायालय दांडिक न्याय प्रणाली में सुधार करने के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि अपराध–पीड़ित के प्रति सहानुभूति रखते हुए उसको जो क्षति पहुँची है उसकी पूर्ति करने की दृष्टि से उसके अस्तित्व, उसकी भावनाओं तथा उसके अधिकारों पर विशेष ध्यान दिया जाए तो इससे अंततोगत्वा बढ़ते हुए अपराध को रोक पाने में मदद मिलेगी।

प्रस्तुत लेख में कुछ ही चुनौतियों का उल्लेख किया है जिसका सामना इस देश को करना है। सबसे अच्छा समय वह होगा जब सभी देश मानव अधिकारों का पालन करने की संस्कृति का विकास करेंगे। आइए, हम सब मिलकर इस दिशा में काम करें।

स्वास्थ्य का अधिकार : समाज के समक्ष प्रमुख चुनौती

* न्यायमूर्ति वाई भास्कर राव

स्वास्थ्य के अधिकार की प्राप्ति में सिर्फ गरीबी ही बाधक नहीं है, अज्ञानता, तत्परता का अभाव, स्वास्थ्यकर्मियों की कर्त्तव्यनिष्ठा का अभाव, शोषण चक्र, भ्रष्टाचार आदि अनेक कारण हैं। सामाजिक पिछड़ापन, भौगोलिक दृष्टि से दूरस्थ या दुर्गम होना, आदि कारक भी जन–जन तक स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच को दुश्वार बनाते हैं। महिला और बाल मृत्यु दर की अधिकता, महिलाओं में रक्ताल्पता आदि ऐसे लक्षण हैं जिनके आधार पर हम माप सकते हैं कि हमारी स्वास्थ्य सेवाएँ किस मुकाम पर हैं। एड्स जैसे असाध्य रोग, हर दूसरे मिनट होने वाली दुर्घटनाएँ आदि से होने वाली मौतें भी 'जीवेम् शरदः शतम्' की आर्ष कामना का मुँह चिढ़ाती हैं। संतुलित आहार थोड़े लोगों को ही प्राप्त है और स्वच्छ पर्यावरण मुहाल हो रहा है। कुछ स्वैछिक संगठनों की समर्पण भावना, यूनिसेफ जैसी एजेंसियों की सक्रियता, उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप आदि के परिणामस्वरूप स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता और अपने अधिकार के प्रति सजगता बढ़ी है। उच्चतम न्यायालय ने अपने संक्षिप्त विचारण में जिले तथा सबडिविजन स्तर पर विशेष चिकित्सकों सहित अच्छे अस्पतालों की मौजूदगी, रोगी को बड़े अस्पतालों में ले जाने के लिए ऐंबुलेंस की व्यवस्था, आपात् स्थिति में डॉक्टरयुक्त ऐंबुलेंस का होना, आपात् स्थिति का सामना करने के लिए अस्पतालों में पर्याप्त सुविधा का होना, आदि आवश्यक बताया है। लेख में जन स्वास्थ्य प्रणाली को सशक्त करने के लिए कुछ सुझाव भी दिए हैं।

समाज की उन्नति के लिए स्वास्थ्य अनिवार्य है। स्वस्थ समाज में प्रति व्यक्ति आय स्वतः बढ़ जाती है। हमारा देश विकासशील है। देश का बहुत बड़ा हिस्सा गरीबी में जीवन यापन कर रहा है। स्वास्थ्य के अधिकार के कई अंग हैं, जिसमें पोषण, स्वच्छता,

* कर्नाटक उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, सम्प्रति – सदस्य, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

जल, स्वच्छ पर्यावरण और स्वास्थ्य की देखभाल का अधिकार शामिल है। राज्य की नीति के निर्देशात्मक सिद्धधांत के अनुच्छेद 39 (ई) और अनुच्छेद 21 में प्रत्येक मनुष्य को स्वास्थ्य का अधिकार प्रदान करने की परिकल्पना है।

मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा,1948 के अनुच्छेद 25 के अनुसार–"अपने तथा अपने परिवार की तंदुरुस्ती तथा स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त जीवन–स्तर का अधिकार सभी को है, जिसमें भोजन, वस्त्र–धारण, आवास तथा चिकित्सा सुविधा, बीमार और अशक्त होने पर सुरक्षा का अधिकार भी शामिल है।" 1978 में यूनीसेफ तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा आयोजित प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल पर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में पारित अल्मा अटा घोषणा में भी यही बात कही गई थी। सम्मेलन में पुनः पुष्टि की गई कि स्वास्थ्य मानसिक तथा शारीरिक तंदुरुस्ती की अवस्था है और यह केवल रोग या अशक्तता का न होना ही नहीं है। सर्वोत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करना व्यक्ति का मौलिक अधिकार है जिसे कार्यान्वित करने का कार्य स्वास्थ्य क्षेत्र के साथ–साथ कई अन्य सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों का भी है। आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा का अनुच्छेद 12 प्रत्येक को सर्वोत्तम शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने का अधिकार देता है।

आज उच्चतम न्यायालय के साथ–साथ समय–समय पर अन्य भी स्वास्थ्य की देखभाल के लिए आवाज उठाते हैं। लेकिन अधिकतर लोग इससे वंचित रह जाते हैं। बजट में स्वास्थ्य–रक्षा के लिए प्रावधान किए जाते हैं, फिर भी अन्य विकासशील देशों की तुलना में हमारे देश में पर्याप्त स्वास्थ्य सेवाएं नहीं हैं। आज हम स्वास्थ्य सेवाएं हासिल नहीं कर पाते, दवाइयाँ नहीं खरीद पाते और महिलाओं, बच्चों, जनजातियों, गरीबों, दलितों आदि की स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाते। स्वास्थ्य सेवा में कमी का कारण तकनीकी बाधा नहीं, बल्कि गरीबी और नगण्य स्वास्थ्य रक्षा प्रणाली है। इसीलिए अधिसंख्य लोग स्वास्थ्य के मौलिक अधिकार का उपभोग नहीं कर पाते। यह स्थिति देश–समाज के समक्ष प्रमुख चुनौती है। निम्नलिखित बिंदुओं में देश में स्वास्थ्य के क्षेत्र में बदहाली की तस्वीर देखी जा सकती है।

1. महिला / बाल मृत्युदर

भारत में अन्य देशों की अपेक्षा महिलाओं और बच्चों की मृत्युदर काफी अधिक है जिससे यह पता चलता है कि यहाँ स्वास्थ्य की देखभाल की स्थिति अच्छी नहीं है। भारत में प्रसव के दौरान मातृ–मृत्यु दर (एम एम आर) 550–570 है। इसका मतलब है 37 में से 1 महिला अपने जीवन के इस खतरे को झेलती है। चीन और श्रीलंका से यह एम एम आर 4 से 5 गुणा अधिक है। भारत में एक–तिहाई से भी कम महिलाओं को प्रसवपूर्व पूरी देखभाल प्राप्त होती है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्र में केवल एक तिहाई महिलाओं का ही सुरक्षित प्रसव होता है। दूसरी ओर शहरी क्षेत्रों में निजी अस्पताल फल–फूल रहे हैं जो अनावश्यक तौर पर सिजेरियन ऑपरेशन करते हैं।

भारत में 7.2 प्रतिशत शिशु मृत्यु–दर है जो गंभीर चिंता का विषय है। भारत में औसतन 1000 जन्मे बच्चों में से 72 शिशु की मृत्यु हो जाती है। कुछ राज्यों में तो यह 146 तक है सिर्फ केरल में 12 है। केरल में जन्मा बच्चा वाशिंगटन में जन्मे बच्चे से अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता है।

2. कुपोषण

देश में सफल हरित क्रांति, खाद्यान्न के पर्याप्त भंडार के बावजूद पांच वर्ष से कम आयु के 53 प्रतिशत बच्चे (लगभग 6 करोड़) कुपोषित हैं। यहाँ कम वज़न के बच्चों का जन्म होना भी आम बात है। भारत में यह 33 प्रतिशत है जबकि दक्षिण कोरिया और चीन में 9 प्रतिशत, थाइलैंड में 6 प्रतिशत और इंडोनेशिया में 8 प्रतिशत।

देश में कुपोषण के कारण होने वाली मौतें काफी अधिक हैं। इनके मुख्य शिकार बच्चे, गर्भवती महिलाएं, बूढ़े व्यक्ति और कमजोर वर्गों की महिलाएं हैं। इनके अच्छे स्वास्थ्य के लिए न केवल अच्छे पौष्टिक भोजन की अपितु अपेक्षित दवा की भी आवश्यकता होती है।

3. महिलाओं में रक्ताल्पता

देश में महिलाओं, खास कर ग्रामीण महिलाओं, के स्वास्थ्य की उचित देखभाल नहीं हो पाती और उन्हें पौष्टिक भोजन भी नहीं मिल पाता। काफी महिलाएं रक्ताल्पता से ग्रसित हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार 15–49 वर्ष के आयु वर्ग में 52 प्रतिशत विवाहित महिलाएं रक्ताल्पता से पीड़ित हैं। शहरी क्षेत्रों में यह 46 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में 54 प्रतिशत है। यह अनुपात केरल में 23 प्रतिशत और अरुणाचल प्रदेश में 86 प्रतिशत है। तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों में रक्ताल्पता इससे भी अधिक है। तीन वर्ष से कम आयु के 73 प्रतिशत बच्चे रक्ताल्पता के शिकार हैं–शहरी क्षेत्रों में 71 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों में 75 प्रतिशत।

बचपन में कुपोषण तथा माताओं के रक्ताल्पता से पीड़ित होने के कारण बच्चों के तंत्रिका तंत्र पर असर पड़ता है जो उनकी मानसिक क्षमता को प्रभावित करता है। माताओं की मृत्यु–दर अधिक होने के कई कारण हैं– जैसे असुरक्षित प्रजनन, स्वास्थ्य देखभाल में कमी, आपातिक प्रसूति सेवा में कमी, गर्भावस्था के दौरान महिला के स्वास्थ्य तथा पोषण पर उचित ध्यान न देना तथा निर्णय लेने और अपनी पंसद से कुछ करने के लिए महिलाओं में स्वतंत्रता की कमी।

हाल ही में किए गए एन.एफ.एच.एस. आँकड़ों (आई. आई. पी. एस. 2002) के अनुसार 1 से 5 वर्ष की आयु में बाल मृत्यु दर, निम्न जीवन स्तर के बच्चों में उच्च जीवन स्तर वाले बच्चों से 3.9 गुणा अधिक है। भारत में प्रति वर्ष 1 से 5 वर्ष की आयु के बीस लाख बच्चे, खासकर गरीब तबके के, ऐसी बीमारियों के कारण मरते हैं जिनकी

रोकथाम की जा सकती है। यदि पूरे देश में बाल स्वास्थ्य का अच्छा स्तर कायम करना है, जैसा कि केरल का है, तो प्रति वर्ष पांच वर्ष से कम आयु के बच्चों की होने वाली 16 लाख मौतों को रोकना होगा। इसका मतलब है प्रतिदिन 4380 मौतें टालनी होंगी और हर मिनट में 3 बच्चों की होने वाली मौतों को रोकना होगा।

4. स्वच्छ जल

इसके अलावा अधिसंख्य लोगों के लिए पीने के साफ पानी की कमी तथा साफ–सफाई का भी अभाव है। ऐसा अधिकतर शहरी इलाकों की झोंपड़पट्टियों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में है। ऐसा देखने में आया है कि अनेक अंतरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय कानूनी निर्देशों के बाद भी और स्वतंत्रता के लगभग छह दशक के बावजूद जरूरतमंद व्यक्तियों को राहत उपलब्ध नहीं हो पाती। वित्त तथा नीति के समर्थन के बगैर कानूनी प्रावधान अप्रभावी होते हैं।

5. दुर्घटनाएं

यहां यह बताना उचित होगा कि विकासशील देशों में दुर्घटना के कारण मौतें और शारीरिक विकृतियां भी अधिक होती हैं। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो की रिपोर्टों से पता चलता है कि भारत में हर दूसरे मिनट एक दुर्घटना होती है। 15 से 40 वर्ष के पुरुष दुर्घटना अभिघात से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। अनुमान है कि भारत के विभिन्न शहरों में चोट के कारण लगभग 4 लाख व्यक्ति अपनी जिंदगी गंवा देते हैं और 75 लाख लोग अस्पताल में भर्ती होते हैं । 35 लाख लोगों को आपात स्थिति में देखभाल की जरूरत पड़ती है। चिकित्सा, शल्य चिकित्सा तथा बाल आपात ऐसी मुख्य घटनाएं हैं जिनपर तत्काल ध्यान देने की जरूरत है।

6. एच. आई. वी./एड्स

एच. आई. वी./एड्स रोगियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। हाल ही में किए गए सर्वेक्षण से पता चला है कि कुछ ही वर्षों में भारत में रोगियों की संख्या अफ्रीका की आज की रोगियों की संख्या से अधिक हो जाएगी। इस रोग के बारे में जानकारी गांवों से शहरों तक झोपड़ी से लेकर महलों तक रहने वाले सभी लोगों को प्रदान किए जाने की जरूरत हैं। जब तक शीघ्रता से कार्रवाई नहीं की जाती, यह समाज के लिए एक खतरा बना रहेगा।

7. जनजाति और कमजोर वर्ग

भारत की जनसंख्या में जनजातीय लोग, विशेष रूप से पहाड़ी क्षेत्रों तथा जंगलों के आस–पास जो दुर्गम क्षेत्रों में रहते हैं, केवल 8 प्रतिशत हैं लेकिन देश में मलेरिया से होने वाली 60 प्रतिशत मौतें यहीं होती हैं। उन्हें स्वास्थ्य की देखभाल के बारे में न

तो कोई जानकारी होती है, न उनकी इस तक पहुँच। वे कुपोषण के साथ–साथ महामारी के भी शिकार होते हैं अतः उनके लिए चल–अस्पताल की एक योजना शुरू की जाए, जिसमें अपेक्षित पराचिकित्सा सुविधाएं, संरचनात्मक ढाँचा आदि हो जो महीने में कम से कम एक बार इन गांवों में जाए, उन्हें स्वास्थ्य सेवा प्रदान करे और वहाँ उपलब्ध भोजन की पौष्टिकता तथा पर्यावरण, साफ–सफाई और अन्य जरूरतों के बारे में बताए ताकि उनके स्वास्थ्य में सुधार हो सके।

वास्तविकता यह है कि सामाजिक आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग जैसे महिलाएं, गरीब, दलित, आदिवासी और भूमिहीन बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं से भी वंचित हैं। चूंकि स्वास्थ्य की देखभाल एक मौलिक अधिकार है, अतः इसे प्रदान करने के लिए अच्छे ढंग से उपाय किए जाने चाहिए।

संगठित यूनिवर्सल एक्सेस सिस्टम के तहत व्यापक स्वास्थ्य देखभाल प्रदान करके ही स्वास्थ्य रक्षा के अधिकार को सुनिश्चित किया जा सकता है। स्वास्थ्य देखभाल एककों को पूर्णरूप से सुविधायुक्त बनाने के लिए वहां स्वास्थ्य सुविधाएं, प्रशिक्षित चिकित्साकर्मी, आवश्यक दवाएं आदि प्रदान की जाएं। सभी सुविधाएं मिलें, विशेष रूप से, कमजोर और गरीब वर्ग को। उच्चतम न्यायालय ने अपने संक्षिप्त विचारण में कुछ बातों का होना आवश्यक बताया है जैसे :–

तत्काल चिकित्सा प्रदान करने के लिए पर्याप्त चिकित्सा सुविधा का होना, जिले तथा सबडिवीजन स्तर पर विशेष चिकित्सकों सहित अच्छे अस्पतालों की मौजूदगी, केंद्रीय संचार प्रणाली, रोगी को बड़े अस्पतालों में ले जाने के लिए ऐंबुलेंस, आपात स्थिति में डाक्टर युक्त ऐंबुलेंस का होना तथा आपात स्थिति का सामना करने के लिए अस्पतालों में पर्याप्त सुविधा का होना।

उपर्युक्त सभी निर्णयों में शीर्ष न्यायालय ने स्पष्ट किया कि स्वास्थ्य का अधिकार मौलिक अधिकार है जो राज्य को सभी लोगों को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए बाध्य करता है। राज्य तथा केंद्र के चिकित्सा तथा स्वास्थ्य संबंधी सभी अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि न्यायालय के इस निर्णय का अनुपालन करें।

8. अस्पतालों में रिश्वत/भ्रष्टाचार

रोगियों तथा उनके परिचरों से अक्सर ये शिकायतें मिलती हैं कि सरकारी अस्पतालों में हर स्तर पर रिश्वत देनी पड़ती है। समाचारपत्रों में भी अस्पताल के कर्मचारियों में व्याप्त रिश्वतखोरी की खबरें छपती रहती हैं, माना रिश्वतखोरी उनका अधिकार है।

इसको रोकने के लिए अस्पताल के उच्च अधिकारियों तथा चिकित्सा सेवा निदेशालय को तत्काल कार्रवाई करनी चाहिए अन्यथा निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने का विचार अर्थहीन बन जाएगा और संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन होगा।

इसलिए प्रत्येक राज्य के चिकित्सा सेवा निदेशालय में एक सतर्कता विभाग स्थापित करना चाहिए जहां आवश्यक सहायक स्टाफ के साथ एस.पी.या डी. एस. पी. के रैंक के एक पुलिस अधिकारी की प्रतिनियुक्ति हो ताकि वे सामान्य ड्रेस में व्यस्ततम समय मे अस्पताल जाएं और देखें कि क्या रोगियों से गैर–कानूनी रूप से रिश्वत की मांग की जा रही है। रोगियों तथा उनके सहायकों से पैसा लेने वाले व्यक्तियों के खिलाफ उपयुक्त कार्रवाई की जानी जरूरी है।

9. स्वास्थ्य संबंधी अधिकार

स्वास्थ्य की देखभाल संबंधी अधिकार के कई पहलू हैं – मौलिक जन स्वास्थ्य सेवा का अधिकार, आपातकालीन चिकित्सा सेवा का अधिकार, उचित मूल्य पर आवश्यक दवाएं प्राप्त होने का अधिकार, निवारण–ज्ञान का अधिकार तथा अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन में होने वाली कमी को दूर करने के लिए जबावदेही निश्चित करना, एच आई वी 'एड्स' रोगियों तथा वरिष्ठ नागरिकों के स्वास्थ्य देखभाल का अधिकार।

इन सबके अलावा कई ऐसे गरीब, अनपढ़ तथा अल्पसुविधाप्राप्त लोग भी हैं जिन्हें न तो स्वास्थ्य के अधिकार के बारे में पता है, न ही उनकी कोई देखभाल करता है। असंगठित मजदूर, गरीब, दूरवर्ती स्थानों पर रहने वाले जनजातीय लोग लगभग उपेक्षित हैं। इसलिए जब तक एक व्यापक स्वास्थ्य देखभाल योजना नहीं बनाई जाती तब तक सभी नागरिकों को स्वास्थ्य सेवा पहुंचना संभव नहीं है।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग स्वास्थ्य की देखभाल के अधिकार को वास्तविक बनाने के लिए उपाय कर रहा है। इस उद्देश्य के लिए आयोग ने देश के दक्षिणी, उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी हिस्सों में "स्वास्थ्य की देखभाल के अधिकार" पर जन सुनवाई (लोक अदालत) आयोजित करने का निर्णय लिया था।

स्वैच्छिक संगठन

स्वास्थ्य की देखभाल के अधिकार को वास्तविक बनाने और देश के कोने–कोने में स्वास्थ्य संबंधी जानकारी प्रदान करने के लिए स्वैच्छिक संगठन महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ये संगठन जनता के साथ–साथ राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की भी 'आंख और कान' हैं। संवैधानिक समीक्षा समिति की रिपोर्ट में भी स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका का उल्लेख किया गया है।

सभ्य समाज ने अपने स्वास्थ्य देखभाल संगठनों का देश के विभिन्न भागों में विस्तार कर स्वयं को मजबूत बना लिया है ताकि आम जनता को उसके संवैधानिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सहायता दी जा सके। स्वस्थ समाज ही स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण करता है।

समाज में जरूरतमंदों की सेवा करने के लिए उचित तथा प्रभावी जन

स्वास्थ्य–प्रणाली होनी चाहिए। नीचे दिए गए सुझावों का पालन करके जन–स्वास्थ्य प्रणाली को मजबूत किया जा सकता है :–

1 जन स्वास्थ्य सुविधा प्रणाली के तहत स्वास्थ्य केंद्र ऐसी जगह पर हों जहां आसानी से चल कर जाया जा सके। उक्त केंद्रों में योग्य डाक्टर और मूलभूत सुविधाएं भी होनी चाहिए।

2 गंभीर रोगों से पीड़ितों को विशेष अस्पतालों में भेजने की सुविधा तथा ऐंबुलेंस या अन्य वाहन उपलब्ध हो जिसमें दूसरे बड़े अस्पताल में ले जाने के दौरान जीवन को बचाए रखने के लिए न्यूनतम उपचार की सुविधा हो।

3 उचित मूल्यों पर असली दवाएं उपलब्ध करायी जानी चाहिए। नकली दवाओं पर प्रतिबंध को सख्ती से लागू किया जाए और एक औषध मूल्य नियंत्रण नीति बनाई जाए। इनका उल्लंघन करने वालों के खिलाफ दंडात्मक कार्रवाई की जाए।

4 सभी कार्पोरेट अस्पतालों और प्राइवेट नर्सिंग होम के लिए अनिवार्य किया जाए कि वे 10 प्रतिशत निःशुल्क सेवा प्रदान करने की सामाजिक जिम्मेदारी निभाएँ या राज्य द्वारा निर्धारित न्यूनतम शुल्क पर चिकित्सा सेवा प्रदान करें। इस प्रणाली का नियमित मॉनिटर करने के लिए राज्य द्वारा स्थापित एक निकाय को जिम्मेदारी सौंपी जाए।

5 अस्पतालों में भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करने के लिए प्रत्येक चिकित्सा निदेशालय में एक सतर्कता विभाग बनाया जाए।

6 सभी सरकारी अस्पतालों में क्षेत्रीय भाषा तथा राज्य के लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं में लिखा जाए कि अस्पताल के किसी भी कर्मचारी को कोई पैसा न दिया जाए, क्योंकि सरकार इन्हें वेतन देती है जो जनता का ही पैसा है। यदि कोई कर्मचारी पैसे मांगता है तो तत्काल अस्पताल के किसी जिम्मेदार अधिकारी को शिकायत की जाए और उसकी एक प्रति स्वास्थ्य सेवा निदेशालय के सतर्कता अधिकारी को भेजी जाए, जिस पर कार्रवाई की जानी चाहिए।

7 जहां अस्पताल की सुविधा नहीं है, वहां पर्याप्त मूलभूत सुविधाओं तथा डॉक्टरों के साथ महीने में कम से कम दो बार मोबाइल अस्पताल जाएं।

8 सभी प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के बच्चों की नियमित रूप से वर्ष में दो बार जांच हो और प्रधानाध्यापक तथा गांव के सरपंच द्वारा सत्यापित उनके नामों के साथ रिपोर्ट डी. एम. या कलेक्टर को भेजी जाए।

9 आहार विशेषज्ञ डॉक्टर स्थानीय क्षेत्र में उपलब्ध भोजन–सामग्री की सूची बनाएं तथा बच्चों, युवाओं, गर्भवती महिलाओं, वृद्ध नागरिकों तथा कमजोर वर्ग की

महिलाओं के लिए भोजन की मात्रा को दर्शाने वाले चार्ट तैयार करें ताकि पोषाहार को बढ़ावा मिले और कुपोषण को खत्म किया जा सके। यह कार्य हर वर्ष किया जाए और स्थानीय भाषा में प्रकाशित किया जाए तथा हर गांव के पंचायत कार्यालयों, स्कूलों और अस्पतालों के नोटिस बोर्ड पर लगाया जाए।

10 यह भी बताया जाए कि माता–पिता अपने बच्चों के श्रवण दोष, नेत्र विकार और वाक् विकार आदि की समस्या होने पर तत्काल उस पर ध्यान दें ताकि छोटी आयु में ही उनका इलाज किया जा सके।

11 ग्राम पंचायत (पूर्ण निकाय) तथा गांव, तालुक और जिला स्तर पर मान्य स्वैच्छिक संगठन अपने गांवों के अस्पतालों की कार्यप्रणाली के बारे में तिमाही रिपोर्ट जिला चिकित्सा अधिकारी, कलेक्टर या आयुक्त, राज्य चिकित्सा सेवा के निदेशक और स्वास्थ्य सचिव को भी भेजें जिसमें डॉक्टरों, महिला डॉक्टरों, नर्सों और अन्य कर्मचारियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति, संबंधित डॉक्टर के अनुपस्थित होने की अवधि या किसी भी डॉक्टर की तैनाती न होने और दवाओं की उपलब्धता के बारे में जानकारी हो।

12 मुख्य सचिव की अध्यक्षता में एक अनुवीक्षण निकाय की स्थापना की जाए जिसमें स्वास्थ्य सचिव, चिकित्सा सेवा निदेशक और सतर्कता विभाग के प्रभारी सचिव सदस्य हों। यह निकाय रिपोर्टों की जांच करे और समयबद्ध कार्यक्रमों के रूप में तत्काल कार्रवाई सुनिश्चित करे। अनुवीक्षण समीति की रिपोर्ट निर्वाचित प्रतिनिधियों के विचारार्थ हर छह माह पर विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत की जाए।

सन्दर्भ

1 'संविधान की कार्यप्रणाली की समीक्षा' करने के लिए राष्ट्रीय आयोग द्वारा प्रकाशित संविधान के अन्तर्गत सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन की गति संबंधी दस्तावेज।

2 जन स्वास्थ्य अभियान द्वारा आयोजित स्वास्थ्य देखरेख के अधिकार संबंधी राष्ट्रीय कार्यशाला, 5 सितम्बर, 2003 तथा मानव अधिकार के रूप में स्वास्थ्य देखरेख संबंधी राष्ट्रीय परामर्श, 6 सितम्बर, 2003 की रिपोर्ट।

3 भारत में आपात चिकित्सा सेवाएं–मौजूदा स्थिति तथा सुधार के लिए सिफारिशें संबंधी प्रेस विज्ञप्ति।

4 पी एम बक्सी द्वारा "मानव अधिकारों : राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य" नामक मानव अधिकार दस्तावेज पर पठन सामग्री।

बच्चे : राष्ट्र की अनमोल धरोहर

* न्यायमूर्ति डॉ0 शिवराज वी. पाटील

अंतरराष्ट्रीय मंच पर तथा घरेलू नीतियों में संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अभिसमयों, राज्य के विधानों तथा न्यायिक निर्वचनों के माध्यम से बच्चों के कल्याण के लिए सकारात्मक कार्रवाई की गई है। हमारे देश ने संयुक्त राष्ट्र के बाल अधिकारों पर अभिसमय का अनुसमर्थन किया था जिसमें बच्चों को सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकार प्रदान करने हेतु आवश्यक आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकार प्रदान करने के लिए आवश्यक विधिक मानक दिए गए हैं। मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र 1948, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा 1965 ऐसे प्रपत्र हैं जिनमें बाल अधिकारों का उल्लेख किया गया है। हमारे संविधान में किया गया 86 वाँ संशोधन बच्चों के प्रति देश की प्रतिबद्धता का प्रमाण है जिसके अनुसार 6–14 वर्ष के आयु वर्ग वाले बच्चों के लिए शिक्षा को एक मूल अधिकार बनाया गया है। शोषित–पीड़ित बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए भारत का उच्चतम न्यायालय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। इन तथ्यों के बावजूद बच्चों का शोषण आज भी हो रहा है। बच्चों के खेलने–पढ़ने के दिनों में उन्हें घरेलू कार्यों सहित अनेक तरह के कामों में जोत दिया जाता है, मजदूरी कम दी जाती है और काम ज्यादा लिया जाता है एवं नाना प्रकार से उन्हें शोषित किया जाता है, प्रवंचित किया जाता है। न उनके स्वास्थ्य की परवाह की जाती है और न ही शिक्षा की। पेट भरने के लिए उन्हें विकट परीक्षा देनी होती है। बच्चे आज भी चाचा नेहरू के जन्मदिन को बाल दिवस के रूप में मनाते हैं, लेकिन देखना है कि बच्चों के प्रति चाचा नेहरू का सपना कब साकार होता है; संवैधानिक और न्यायिक उपबंध कब पूरी तरह से व्यवहार में प्रतिफलित होते हैं?

नोबेल पुरस्कार विजेता गेब्रियल मिस्ट्राल ने कहा था :– "हम अनेक

* भारत के उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश, संप्रति – सदस्य, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

गलतियों और चूकों के दोषी हैं लेकिन बच्चों का परित्याग और जीवन के आधार की उपेक्षा करना हमारा सबसे गंभीर अपराध रहा है। ऐसी बहुत सी जरूरी चीजें हैं जिनका हम इंतजार कर सकते हैं लेकिन बच्चों के संबंध में इंतजार नहीं किया जा सकता है। इस समय उनकी हड्डियों का निर्माण हो रहा है, रक्त बन रहा है और उनकी इंद्रियों का विकास हो रहा है। उनके संबंध में की जानेवाली कार्रवाई को हम कल के लिए नहीं टाल सकते। बच्चों के संबंध में 'आज' ही कार्रवाई की जानी चाहिए।"

गत शताब्दी के दौरान प्रगतिशील लोकतांत्रिक देशों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि सामाजिक ताने–बाने में बच्चों के उचित स्थान को मान्यता दी गई है। अंतरराष्ट्रीय मंच पर तथा घरेलू नीतियों में संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अभिसमयों, राज्य के विधानों तथा न्यायिक निर्वचनों के माध्यम से बच्चों के कल्याण के लिए सकारात्मक कार्रवाई की गई है। पर्यावरण के परिरक्षण तथा सतत विकास के लिए किए जा रहे प्रयासों का लक्ष्य यह है कि अपने बच्चों को वह सब कुछ उपलब्ध कराया जाए जो स्वभावतः उन्हीं का है।

राष्ट्र संघ द्वारा 1924 में अंगीकार किए गए बाल अधिकार घोषणापत्र में कहा गया था "मानव समाज बच्चों को सर्वोत्तम साधन और सुविधाएं उपलब्ध कराएगा।" तभी से बाल अधिकारों की रक्षा के लिए अंतरराष्ट्रीय समुदाय अनेक प्रयास करता रहा है। हमारे देश ने संयुक्त राष्ट्र के बाल अधिकारों पर अभिसमय का अनुसमर्थन किया था जिसमें बच्चों को सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकार प्रदान करने के लिए आवश्यक विधिक मानक दिए गए हैं। मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणापत्र 1948, नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रसंविदा, 1966 ऐसे प्रपत्र हैं जिनमें बाल अधिकारों का उल्लेख किया गया है।

घरेलू स्तर पर भारत ने बच्चों की स्थिति सुधारने में अच्छी प्रगति की है। संविधान में किया गया छियासीवां संशोधन बच्चों के प्रति उत्साही व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित की गई समानुभूति का परिणाम है जिसके अनुसार 6 से 14 वर्ष के आयुवर्ग वाले बच्चों के लिए शिक्षा को एक मूल अधिकार बनाया गया। इसके अलावा बच्चों के जीवन को आसान और सुखमय बनाने के लिए अनेक सांविधियां भी हैं।

शोषित–पीड़ित बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए भारत का उच्चतम न्यायालय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है और यह उसकी गहरी चिंता का विषय रहा है। बँधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारतीय संघ के मामले (एस सी सी पृष्ठ 183 पैरा (10)) में उच्चतम न्यायालय को यह कहना पड़ा था :– "संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रदत्त गरिमा सहित जीने का अधिकार राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों और विशेषतः अनुच्छेद 39 के खंड (ड.) और (च) तथा अनुच्छेद 41 और 42 पर आधारित है। अतः उसमें कम से कम निम्नलिखित उपबंध अवश्य शामिल किए जाने चाहिए :– कामगारों, पुरुषों और

महिलाओं तथा किशोर बच्चों के दुरुपयोग को रोकते हुए उनके स्वास्थ्य और सामर्थ्य की रक्षा करना, बच्चों के लिए अवसर तथा सुविधाएं ताकि स्वस्थ ढंग से और स्वतंत्रता तथा गरिमामय स्थितियों में उनका विकास हो सके। शिक्षा की सुविधाएं, काम की उचित एवं मानवीय दशाएं तथा प्रसूति राहत। ये न्यूनतम आवश्यकताएं अवश्य होनी चाहिए ताकि व्यक्ति मानवीय गरिमा सहित अपना जीवन व्यतीत कर सके।''

इसके अतिरिक्त बँधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारतीय संघ मामले में दिए गए प्रेक्षण भी इस प्रसंग में संगत हैं (एस सी सी पृ 553 पैरा 4) ''भारत में बच्चों का विकास समाज के एक जिम्मेदार एवं उपयोगी व्यक्ति के रूप में तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी पर्यावरण उपलब्ध नहीं कराया जाता। विकसित या विकासशील प्रत्येक राष्ट्र अपने भविष्य को बच्चों की स्थिति से जोड़ता है। बच्चों की उपेक्षा करने का अर्थ समस्त समाज को नुकसान पहुँचाना है। यदि बच्चों को समाजिक, शारीरिक और मानसिक रूप से बाल्यावस्था से वंचित रखा जाता है तो राष्ट्र सामाजिक प्रगति, आर्थिक सशक्तीकरण, शांति एवं व्यवस्था, सामाजिक स्थिरता तथा उत्तम नागरिकता के लिए सामान्य मानव संसाधनों से वंचित रह जाता है। अतः संविधान के निर्माताओं ने बच्चों की भूमिका के महत्व और सर्वोत्तम विकास पर जोर दिया है।

रोजी जेकब बनाम जेकब ए0 चक्रमकल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह प्रेक्षण किया था (एस सी सी पृ0 855 पैरा 15) :– ''बच्चे मात्र चल संपत्ति नहीं हैं और न ही वे अपने माता–पिता के लिए मात्र खिलौना हैं। बच्चों के भाग्य और जीवन पर माता–पिता के परमाधिकार के संबंध में सामाजिक स्थितियां बदल गई हैं। अब उसका क्षेत्र मानवों के रूप में बच्चों के कल्याण के संबंध में विचार करना है ताकि उनका एक सामान्य संतुलित ढंग से विकास हो सके और वे समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें।''

1. (1984) 3 एस सी सी 161
2. (1997) 10 एस सी सी 549
3. (1973) 1 एस सी सी 840

देश का प्रत्येक बच्चा अपने व्यक्तित्व के सौहार्दपूर्ण एवं पूर्ण विकास के लिए राज्य के वित्त में अपना विधिक हिस्सा पाने का दावेदार और हकदार है। बच्चों तथा देश के हित में उनके विकास एवं कल्याण के लिए बजट में उनकी हिस्सेदारी में वृद्धि करने की आवश्यकता है। जैसे किसी पौधे को एक बड़े फलदार वृक्ष के रूप में बदलने के लिए संरक्षण, पोषण और उचित वातावरण की जरूरत होती है उसी प्रकार देश की सेवा हेतु उपयोगी और जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिए बच्चों को संरक्षण, प्रोत्साहन, पोषण और उचित वातावरण की आवश्यकता है।

बच्चों के लिए उचित स्वास्थ्य, शिक्षा तथा वातावरण आज के समय की महत्वपूर्ण जरूरत है। कहा जाता है कि प्रति वर्ष पांच वर्ष से कम आयु वाले काफी बच्चे अतिसार

के कारण मर जाते हैं और लाखों बच्चों को अन्य खतरनाक बीमारियां हो जाती हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी कन्या भ्रूण–हत्या धड़ल्ले से हो रही है। सरकार पोलियो, यकृतशोथ (हैपेटाइटिस) तथा एड्स जैसी बीमारियों के उन्मूलन के लिए निरंतर प्रयास कर रही है लेकिन जनसंख्या का बोझ बहुत तेजी से बढ़ने और बीमारियां तेजी से फैलने से सरकार के वास्तविक प्रयासों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। दुनिया की 16 प्रतिशत आबादी हमारे देश में है जबकि हमारे पास दुनिया की केवल 2.4 प्रतिशत भूमि ही है।

बच्चों की शिक्षा पर पैसा खर्च करने को सरकारी खजाने पर बोझ नहीं माना जाना चाहिए बल्कि अंततोगत्वा यह हमारे लिए निवेश का ही एक रूप होगा। यह एक ऐसा बुनियादी ढांचा होगा जिस पर समृद्ध राष्ट्र की इमारत खड़ी की जा सकती है। 6–14 वर्ष के आयुवर्ग के अंतर्गत लगभग 4.2 करोड़ बच्चे बुनियादी शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जैसा कि पालकीवाला ने महिला शिक्षा को सबसे ऊंची प्राथमिकता बताया था लेकिन महिला शिक्षा पर गहरे सामाजिक, सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को ही ग्रहण नहीं लगा है बल्कि इस पर वास्तविक रूप में ध्यान भी नहीं दिया गया। यूनिसेफ द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों के अनुसार भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के 7 लाख प्राथमिक तथा उच्च प्राथमिक विद्यालयों में हर छह में से केवल एक विद्यालय में ही है शौचालय की सुविधा है; इसी कारण लड़कियां स्कूल नहीं जा पाती हैं। आपरेशन ब्लैक बोर्ड, सर्वशिक्षा अभियान तथा दोपहर का भोजन योजना आदि शुरू की गई हैं ताकि बीच में स्कूल की पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या में कमी लाई जा सके। लेकिन हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि उस प्रयोजन के लिए बनाई गई नीतियां एवं प्रयास सतत् प्रभावी और कारगर हों न कि क्षणिक वायदे। बाल शिक्षा और लोकतंत्र की प्रगति एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। लोकतंत्र केवल तभी सफल हो सकता है जब नागरिक शिक्षित हों।

बच्चे राष्ट्र की अनमोल धरोहर हैं। एक मायने में उन्हें सर्वोत्तम सम्पत्ति भी कहा जा सकता है। बच्चे देश की प्रगति के लिए संभाव्य एवं उपयोगी मानव संसाधन हैं। कमलावती चट्टोपाध्याय ने लिखा था :– "जीवन में भावात्मक या गहनता की दृष्टि से मानब प्रतिभा की बर्बादी इससे अधिक और नहीं हो सकती जितनी कि शिक्षा के प्रोत्साहन, वैज्ञानिक प्रशिक्षण तथा अभिव्यक्ति के अनुकूल ढंग के अभाव में होती है।" हमें यह याद रखना चाहिए कि केवल सशक्त, जानकार और गुणवान बच्चे ही देश को शक्तिशाली और महान बना सकते हैं। बच्चे निर्दोष, संवेदनशील तथा दूसरों पर आश्रित होते हैं। बच्चों का परित्याग करना और उनके लिए जीवनोपयोगी सुविधाएं उपलब्ध न कराना मानवता के प्रति अपराध है।

लाखों बच्चे बहुत कठिन परिस्थितियों में रहते हैं। अनेक बच्चों को अनाथ लावारिसों, शरणार्थियों, विस्थापित व्यक्तियों तथा युद्ध–पीड़ितों के रूप में दर–दर की ठोकर खानी पड़ती है। उन्हें ऐसी विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी रहने को मजबूर होना पड़ता है जो खुद इन्सान द्वारा ही पैदा की गई होती हैं। अनुच्छेद 39 (ड) में

राज्य को किशोर बच्चों के स्वास्थ्य और सामर्थ्य का अभिभावक कहा गया है जो यह देखेगा कि आर्थिक आवश्यकताओं से मजबूर बच्चों का दुरुपयोग न किया जाए और उनसे जबरन ऐसा कोई काम नहीं करवाया जाए जो उनके लिए अनुपयुक्त हो। हमें याद रखना होगा कि बच्चों को चल–सम्पत्ति या विक्री–योग्य उपभोक्ता वस्तु या खिलौना नहीं समझा जाना चाहिए। उनकी शरीर–रचना भी हम जैसे प्रौढ़ लोगों की तरह ही है और उनमें हमारे समान तथा हमसे भी अधिक अच्छा तथा उपयोगी नागरिक बनने की क्षमता है। अतः उन्हें सभी आवश्यक सुविधाओं के साथ–साथ ऐसा वातावरण उपलब्ध कराना होगा ताकि वे आगे चलकर देश के जिम्मेदार तथा उपयोगी नागरिक बन सकें। बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए उनका पालन पोषण ऐसे पारिवारिक वातावरण में होना चाहिए जो प्रेम, आंनद और सद्भाव से युक्त हों। प्रौढ़ लोग बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। हम सभी को बच्चों की देखभाल करने के लिए निरंतर और ईमानदार प्रयास करने चाहिए ताकि उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सुनिश्चित किया जा सके।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण, आधुनिकीकरण तथा निजीकरण के दौर में मानवीय पहलू को ध्यान में रखना चाहिए। इससे बच्चों के अधिकारों और अन्य मानव अधिकारों के उल्लंधनो को यदि समाप्त नहीं तो कम अवश्य किया जा सकता है। मानव अधिकारों के सार्वभौम घोषणापत्र में संयुक्त राष्ट्र ने यह घोषणा की है कि बाल्यावस्था के दौरान बच्चों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और उसके लिए सहायता उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

यदि हम बच्चों की भोजन, स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी साधारण जरूरतों की उपेक्षा करते हैं या उन्हें अपेक्षित सुविधाएं पूरी तरह उपलब्ध नहीं कराते हैं तो भविष्य में हमें इसकी भारी कीमत चुकानी होगी। बच्चों के अधिकारों और एक जिम्मेदार तथा उपयोगी नागरिक बनने के महत्व के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा करनी चाहिए। इस संबंध में शिक्षण संस्थाएं, सरकारें, स्वैच्छिक संगठन तथा संचार माध्यम (मीडिया) महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। बहुलवादी समाज में विभिन्न चैनलों के माध्यम से विभिन्न स्तरों पर सामाजिक संप्रेषण को प्रोत्साहित किए जाने की जरूरत है। इसके लिए विकेंद्रीकरण के साथ साथ संवेदनशीलता और दक्षता की भी आवश्यकता है। शिक्षा प्रणाली तथा अन्य मीडिया द्वारा बच्चों और उनके माता पिता को सूचित करने के लिए विधियां तथा प्रकियाएं तैयार करनी होंगी ताकि बच्चों के अधिकारों को बढ़ावा देने और उनके शोषण एवं कष्टों को मिटाने में स्वैच्छिक संगठन प्रभावी भूमिका निभा सकते हैं। किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक और नीतिगत दोनों स्तरों पर संस्थागत सहायता उपलब्ध कराना अत्यंत आवश्यक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में शुरू से ही बच्चों का अत्यधिक शोषण किया जाता रहा है और उनके प्रति भेदभाव की समस्या रही है। बालश्रम सबसे सस्ता और अनुशासित माना जाता है। कारखानों व खेतों में, खतरनाक व्यवसायों, होटलों, रेस्तराओं

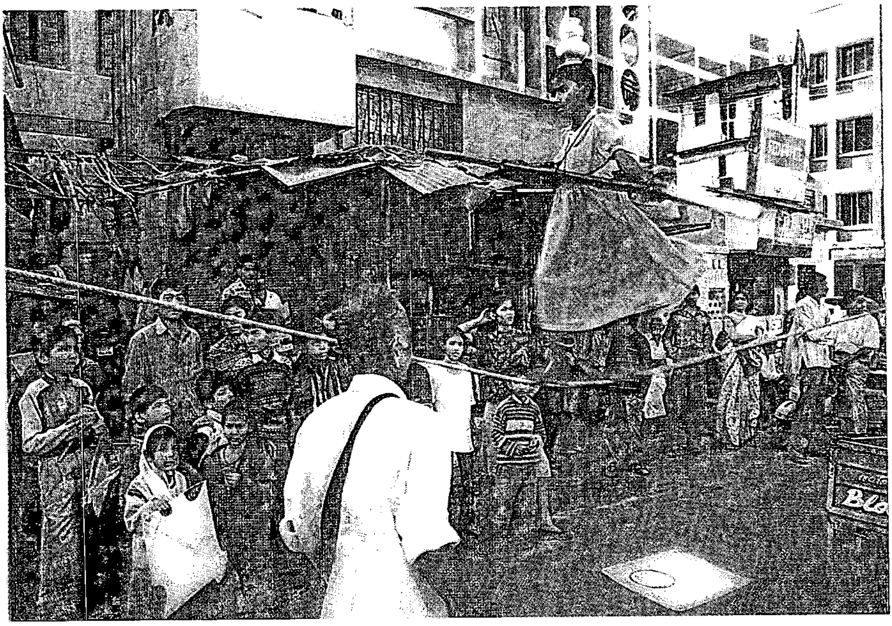

रोज़ी रोटी तलाशता बचपन
(फोटो साभार : श्री सुरेश पारिख, वडोदरा)

में इन बच्चों को जी तोड़ मेहनत करते हुए आसानी से देखा जा सकता हैं। घरों में भी इनसे घरेलू नौकरों के रूप में काम करवाया जाता है। 6–8 वर्ष की आयु के बच्चे भी मामूली–सी मजदूरी के लिए दिनभर या उससे भी अधिक समय तक काम करने के लिए विवश होते हैं।

2001 की जनगणना के अनुसार 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों की संख्या 15.78 करोड़ थी जो देश की जनसंख्या का 15.24 प्रतिशत है। बच्चों तथा देश के हित में उनका पूर्ण विकास किया जाना अति आवश्यक है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुत्री इंदिराजी को 26–10–1930 को एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने लिखा था :– "बहादुर बनो बाकी स्थितियां अपने आप ठीक हो जाएंगी।" बच्चे अबोध होते हैं और अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते हैं। उनका चित्त शुद्ध होता है तथा वे पूर्वाग्रह, भय तथा छल कपट से मुक्त होते हैं। उनपर ढंग से ध्यान दिए जाने और उनको सहारा दिए जाने की आवश्यकता है ताकि वे आगे चलकर देश को उपयोगी सेवाएं दे सकें। बच्चों के प्रति पंडित नेहरू का प्रेम और बच्चों की समस्याओं के बारे में उनकी सोच जग–जाहिर है। इसलिए प्रति वर्ष 14 नवंबर को पंडितजी का जन्मदिन बालदिवस के रूप में मनाया जाता है। उनका यह स्पष्ट विचार था कि यदि देश की महिलाओं को शिक्षित नहीं किया जाएगा तो भावी पीढ़ी पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

आज भी, महानगरों की गंदी बस्तियों में लाखों बच्चे ऐसे वातावरण में रह रहे हैं जहाँ अपराध होते हैं और नशीले पदार्थों का सेवन किया जाता है। बच्चों की उपेक्षा करना देश की अनमोल धरोहर और राष्ट्रीय संपदा को बर्बाद करने के अलावा और कुछ नहीं है। यदि बच्चों को शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, कपड़ा एवं आश्रय जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित रखा जाएगा तो सोचिए हमारे देश का भविष्य कैसा होगा? हम ऑक्सीजन का महत्व तभी समझते हैं जब वह हटा ली जाती है, क्योंकि उसके कारण व्यक्ति का दम घुट जाता है। बच्चों के कल्याण और पूर्ण विकास की उपेक्षा करने से भी ऐसा वातावरण पैदा हो जाता है मानो कि ऑक्सीजन हटा ली गई हो। इससे आने वाले वर्षों में देश की स्थिति दयनीय होती जाएगी। हमारे देश में मानव संसाधन विकास के लिए पूरा एक मंत्रालय है और अनेक एजेंसियां बाल कल्याण के कार्य में लगी हुई हैं। यह बात सही है कि बच्चों के स्वास्थ्य, शिक्षा और सामान्य कल्याण पर अधिकारियों और जनता ने ध्यान दिया है लेकिन वस्तुतः इस दिशा में अभी काफी कुछ किया जाना अपेक्षित है। एक अर्थ में राष्ट्र के गौरव एवं महानता की जिम्मेदारी बच्चों के ही कंधों पर है। यदि बच्चों की उचित देखभाल की जाती है तो आधुनिक भारत के निर्माता पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। लगभग 65 वर्ष पहले पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह पूछा था "यदि भारत मर जाता है तो कौन जीवित रहेगा? यदि भारत जीवित रहता है तो कौन मर जाएगा"? यदि भारत जीवित रहता है तो बच्चे कुशलपूर्वक रहेंगे।"

भारत के संविधान के अनुच्छेद 15,24,39 (ड.), 39 (च), 47 और 51 (क) में बच्चों के संबंध में प्रावधान किए गए हैं। संविधान के उपबंधों के अनुसार बच्चों को खतरनाक रोजगार के माध्यम से उनका शोषण न किए जाने, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने तथा उनके लिए विशेष व्यवस्था करने का अधिकार उपलब्ध कराया गया है। बच्चों के लिए केंद्र तथा तथा राज्य स्तर पर अनेक कानून बनाए गए हैं लेकिन जिस बात की वस्तुतः जरूरत है वह है उनको पूरी प्रतिबद्धता से लागू किया जाना।

बच्चों के कल्याण की चिंता अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने भी की है जिसे 1989 में संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा सर्वसम्मति से अंगीकार किए गए बाल अधिकारों से संबंधित संकल्प में व्यक्त किया गया है। इसमें बच्चों को बुनियादी मानव अधिकारों की गारंटी देने से संबंधित विधिक मानक निर्धारित किए गए हैं। इसके बावजूद जमीनी हकीकत अब भी निराशाजनक है क्योंकि तलाक के बाद उपेक्षित बच्चों, परित्यक्त महिलाओं की अज्ञानता, एच आई वी/एड्स के रोगी माता–पिता तथा बाल दुल्हनों, दूल्हों तथा बाल–विधवा की समस्याएं आज भी हैं। ये बच्चे समाज में मानसिक और शारीरिक शोषण के शिकार हैं और यंत्रणा झेल रहे हैं। दुर्भाग्य की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के इतने वर्षों बाद भी जातिवाद, अपराध और भ्रष्टाचार जैसी तीन बुराइयां कैंसर का रूप धारण करती जा रही हैं। इससे देश का शासन एवं विकास बुरी तरह से प्रभावित हो रहा है। इन बुराइयों को रोकने का कार्य जीवन के सभी क्षेत्रों विशेषतः शासन के सभी स्तरों से संबंधित केवल सक्षम, चरित्रवान, और दयालु लोगों द्वारा किया जा सकता है।

बच्चों में ऐसे गुण पैदा किए जाने चाहिए कि वे क्षेत्र, जाति, पंथ, समुदाय, भाषा आदि के आधार पर खड़ी की गई घृणा, हिंसा और अविश्वास की दीवारों को गिरा सकें और सभी मनुष्यों के बीच प्रेम और विश्वास की लौ जगा सकें। चूँकि बच्चे देश की सर्वोत्तम सम्पत्ति हैं अतः उनकी देखभाल एवं संरक्षण केवल सांविधिक उपबंधों के आधार पर नहीं बल्कि मानवीय व्यवहार और रुचि के आधार पर की जानी चाहिए। यह अंततः स्वयं राष्ट्र के लिए महान कार्य सिद्ध होगा जब बच्चे देश के शासन की बागडोर संभालेंगे। यदि बच्चों के प्रति उन लोगों की विशेष चिंता है जो उनकी नियति बनाने की स्थिति में हैं तो इसके अच्छे परिणाम निकलेंगे। बच्चों के कल्याण के लिए वचनबद्ध एवं चिंतित विशेषकर सत्ताधारी लोगों के प्रयास भविष्य में जरूर सार्थक सिद्ध होंगे। उम्र का बढ़ना अनिवार्य प्रक्रिया है लेकिन बुद्धिमान बनना वैकल्पिक है।" हमें बच्चों के संबंध में "बुद्धिमान बनाने" वाले विचार को तत्काल कार्यान्वित करना चाहिए।

मानव अधिकार संरक्षण में पुलिस की भूमिका

* एस. वी. एम. त्रिपाठी

मानवाधिकारों का स्वरूप और उनकी परिधि बहुत विस्तृत है। इसके संरक्षण के लिए हमारे देश में जो संवैधानिक व्यवस्था है उसमें पुलिस तथा न्याय–प्रणाली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए पुलिस से विशेष भूमिका और हस्तक्षेप की आशा भी की जाती है। पुलिस को विधिक कार्यान्वयन की सबसे बड़ी इकाई के रूप में देखा जाता है। पुलिस का प्रत्येक कार्य नागरिकों की गरिमा, आत्म–सम्मान, उनके वैयक्तिक जीवन, संवैधानिक अधिकारों आदि को प्रभावित कर सकता है। एक ओर जहां पुलिस से जनता की अपेक्षाएं बढ़ रही हैं, वहीं शांति–व्यवस्था और अपराध–नियंत्रण के क्षेत्र में पुलिस की कठिनाइयाँ भी बढ़ रही हैं। इनमें प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा आधिकारिक दिशा–निर्देशों की अवमानना तथा पुलिस की अपनी नकारात्मक छवि प्रमुख हैं। जनता का विश्वास हासिल करने और कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि पुलिस के कार्यों में पारदर्शिता हो तथा वह विधिक सीमाओं का आदर करे। इसके लिए कठोर अनुशासन, ऊंचे मनोबल और अथक प्रयास की ही नहीं वरन् अधिक संसाधनों की भी आवश्यकता है।

भारत के संविधान, न्याय प्रणाली, विधिक अधिनियमों तथा प्रशासन प्रक्रिया में निरंतर मानव अधिकार संरक्षण की एक सशक्त व्यवस्था की श्रृंखला स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। पुलिस फौजदारी न्यायिक प्रणाली का महत्वपूर्ण, व्यापक रूप से उपस्थित तथा दिखाई देने वाला एक अंग है। विधिक नियंत्रण लागू करने वाली सबसे बड़ी इकाई के रूप में समाज उसे देखता है। इसीलिए उन परिस्थितियों में भी जहाँ विधिक रूप से पुलिस का कार्यक्षेत्र नहीं है, जन–साधारण प्रायः यह अपेक्षा करता है कि पुलिस हस्तक्षेप करेगी। यदि ऐसा होता है तो कम से कम एक वर्ग इसे अनुचित मानता है।

---

* उत्तर प्रदेश संवर्ग के भारतीय पुलिस सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी, संप्रति – सदस्य, उत्तर प्रदेश राज्य मानव अधिकार आयोग, लखनऊ

मानव अधिकार की विधिक परिभाषा हालांकि मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में दी गई है परंतु इसमें कोई नया अधिकार सृजित नहीं किया गया है। यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः उपलब्ध है। इनके केंद्र में मानव जीवन, स्वतंत्रता, समता तथा गरिमा की अवधारणा है। सामाजिक परिवर्तन तथा विकास के साथ इन अधिकारों की परिधि तथा गहराई बढ़ रही है। विभिन्न न्यायिक निर्णयों ने भी इस परिवर्तन में समय-समय पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति से लेकर अब तक मानव अधिकारों के स्वरूप, परिधि तथा व्यापक अनुभूति की दिशा में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है।

पुलिस का जनता से निरंतर तथा अत्यंत निकट का संपर्क रहता है। पुलिस तथा व्यक्ति अथवा जन समूहों का समागम विशेष रूप से उस समय होता है जब वे सर्वाधिक आक्रामक भाव में होने के साथ-साथ असुरक्षित भी होते हैं। जब वे क्रुद्ध होते हैं, जब वे डरे हुए रहते हैं, जब वे हताश होते हैं, जब वे नशे में होते हैं, जब वे हिंसक भंगिमा में होते है तथा जब वे लज्जित होते हैं। अतः पुलिस का प्रत्येक कार्य नागरिकों की गरिमा, आत्म-सम्मान, उनकी एकांतता अथवा संवैधानिक अधिकारों को प्रभावित कर सकता है।

मानव अधिकार के संदर्भ में शासन तंत्र से जनता की अपेक्षाएं बढ़ रही हैं। इसके साथ ही समाज में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने तथा अपराध नियंत्रण एवं प्रबन्धन में कठिनाइयां भी बढ़ रही हैं। नियमों, परिनियमों तथा अधिनियमों के अनुपालन की ओर व्यक्ति का स्वाभाविक रुझान कम हो रहा है। जो सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठा के स्थान पर हैं उनमें से भी कुछ व्यक्ति निजी व्यवहार में नियमों की सीमाओं को सम्मान नहीं देते हैं आधिकारिक दिशा-निर्देशों को अवमानना के भाव से लेने की प्रथा सी चल पड़ी है। कोई भी विधिक व्यवस्था सुचारु रूप से तभी लागू की जा सकती है जब समाज के लगभग सभी अंग उसे स्वेच्छा से अपनाते हें। ऐसी दशा में ही दण्ड प्रक्रिया तंत्र विधि विरुद्ध आचरण करने वाले लोगों को कारगर ढंग में रोकने में सक्षम होगा।

मानव अधिकार संरक्षण के परिप्रेक्ष्य में फौजदारी न्याय प्रणाली के तीन मुख्य ध्येय हैं। इनमें से प्रथम है शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा तथा अपराध नियंत्रण का वातावरण स्थापित करना तथा उसे बनाए रखना। द्वितीय ध्येय है अपराधियों को न्यायसंगत दण्ड देना तथा दण्ड के पश्चात् उन्हें पुनः समाज में स्थापित करना ताकि वे भय मुक्त होकर अपनी जीविका चला सकें। न्याय प्रणाली में कार्यरत व्यक्ति स्वयं मानव अधिकार का हनन न करे, यह इसका अंतिम ध्येय है। इस प्रणाली के प्रमुख अंग पुलिस, अभियोजन विभाग, न्यायालय तथा कारागार विभाग कहे जा सकते हैं। इन सभी अंगों के लिए अपने अधिकार-क्षेत्र में ही रह कर कार्य करना अनिवार्य है। अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर यदि कोई कार्य करेगा तो उसी अनुपात में आचरण के दायित्व रहित होने की संभावना बढ़ेगी तथा नागरिकों की सुरक्षा तथा मानव अधिकार का संतुलन बिगड़ने की उतनी ही प्रबल संभावना होगी।

राज्य अथवा राष्ट्र की संप्रभुता का एक सर्वमान्य चिह्न समाज में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रहना है। यह दायित्त्व सुरक्षा तंत्र को नैसर्गिक रूप से स्थानांतरित हो जाता है। मानव अधिकार के दर्शन या सोच में परिवर्तन के साथ विकास भी हुआ है। इसके अनुसार राज्य अपने तंत्र द्वारा मानव अधिकार हनन के लिए तो सर्वदा उत्तरदायी रहा है। आधुनिक विचार यह है कि राज्य अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा मानव अधिकार के अतिक्रमण की भी जिम्मेदारी लेगा। इसी कारण पीड़ित व्यक्तियों को राज्य द्वारा अनुदान दिया जाता है चाहे उन्हे यह क्षति किसी जन सेवक द्वारा ही क्यों न पहुँचाई गई हो।

इस सन्दर्भ में कुछ आधारभूत तथ्यों पर दृष्टि डालना समीचीन होगा। उत्तर प्रदेश राज्य मानवाधिकार आयोग में विगत लगभग 2 वर्ष की अवधि में मार्च, 2005 तक 13,359 याचिकाएं प्राप्त हुई हैं। अभिलेखों के अनुसार इनमें से 5,943 पुलिस विभाग के खाते में रखी गई हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि अधिनियम की धारा 12 (ए) के अनुसार मानव अधिकार आयोगों का ध्यान जन सेवकों द्वारा मानव अधिकार हनन या हनन करने के लिए उकसाने या हनन रोकने में लापरवाही बरतने के प्रकरणों पर केंद्रित रहता है। पुलिस से संबंधित इतनी बड़ी संख्या में मानव अधिकार हनन की याचिकाओं में से अधिकतर मानव अधिकार हनन रोकने में विफलता के आरोप रहते हैं। इस संदर्भ में यदि केवल एक कारक की पहचान करनी हो तो विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि पुलिस द्वारा प्राथमिकी अथवा अन्य रिपोर्ट दर्ज न किया जाना प्रमुख है। चूँकि जन साधारण में यह धारणा घर कर चुकी है कि पुलिस बड़ी कठिनाई से अपराध की सूचना पंजीकृत करती है। इसलिए इस प्रकार के कुछ झूठे आरोप भी सरलतापूर्वक लगाए जाते हैं। इसी दिशा में रिपोर्ट दर्ज कराने वाले पीड़ित व्यक्ति द्वारा पुलिस पर अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार के आरोप भी लगाए जाते हैं। ऐसा सर्वथा संभव है कि मानव अधिकार हनन का मूल कृत्य किसी अन्य विभाग अथवा व्यक्ति विशेष द्वारा किया गया हो, परंतु आरोप सरकते हुए पुलिस पर पहुँच जाए। ऐसे कई उदाहरण उत्तर प्रदेश मानव अधिकार आयोग के समक्ष आए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आरोप सीधे पुलिस द्वारा उत्पीड़न के भी आते हैं। इस कारण बनी है जनता पुलिस के कार्यकलापों को सामान्यतया संदेह की दृष्टि से तो देखती है, परंतु पुलिस से सुरक्षा तथा मानव अधिकार संरक्षण के क्षेत्र में अत्यधिक अपेक्षाएं भी रखती है इसी कारण ऐसी स्थिति बनी हैं।

मानव अधिकार सरंक्षण के संदर्भ में कुछ सीमा तक पुलिस की नकारात्मक छवि के केवल कुछ कारकों का उल्लेख समीचीन होगा। आज कल पुलिस कर्मियों में आचार और नैतिक मूल्यों का प्रतिस्थापन प्रायः प्रारंभिक प्रशिक्षण के समय किया जाता है, जिसमें मानव अधिकार संरक्षण भी शामिल है। विशेषकर जब वह क्षेत्र में कार्यरत होते हैं तब इन अनुभूतियों को समय–समय पर दुहरा कर अथवा उदाहरण द्वारा सुदृढ़ नहीं किया जाता है। प्रायः यह सुनने में आता है कि "प्रशिक्षण में जो बताया गया है वह ठीक है,

परंतु अपराध नियंत्रण मे सफलता के लिए अब यह करो"। यद्यपि पुलिस विनियमों में यह वर्जित है परंतु अधिकतर लोग आँकड़ों के जाल में फँसे जाते हैं हालाँकि यह सर्वविदित है कि पंजीकृत अपराध तथा वास्तविक अपराध की संख्या में काफ़ी अंतर है। उक्त आचारगत तथा नैतिक अनुभूतियों में विश्वास कायम करना आवश्यक है और सेवाकाल में उसे बनाए रखने के लिए कारगर प्रयास की आवश्यकता है।

इसी क्रम में यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येक पुलिस कर्मी एक समूह का सदस्य है तथा उस समूह की प्रवृत्ति का धारक है। समूह की नैतिकता वैयक्तिक नैतिकता से भिन्न होती है। समूह का अपना दृष्टिकोण होता है जो कभी भयावह तथा समझ से परे हो सकता है। समूह एक सीमा तक प्रत्येक सदस्य की कार्यप्रणाली पर न केवल प्रभाव डालता है बल्कि उसे नियंत्रित भी करता है। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि पुलिस सेवा की कठोर अनुशासन व्यवस्था, विधिक अनिवार्यताएं तथा पुलिस नेतृत्व को नकारात्मक प्रभाव कैसे विफल करते हैं। यह प्रतिकूल प्रभाव स्पष्ट रूप से बढ़ते हुए बाह्य हस्तक्षेप के कारण और गंभीर हो गया है।

पुलिस में प्रायः उच्च कोटि की शारीरिक क्षमता, स्वास्थ्य स्तर, नैतिक सोच तथा स्वस्थ मनोवैज्ञानिक दशा वाले व्यक्तियों को शामिल करने की व्यवस्था है। परंतु समयांतर में अधिकतर पुलिस कर्मी सामाजिक, चिकित्सीय, भावात्मक तथा नैतिक मानदंडों की निम्न श्रेणी में पहुँच रहे हैं। इस तथ्य को नकारना बुद्धिमानी नहीं होगा कि पुलिस कर्मियों में नशे की लत, गृहकलह, स्वास्थ्य समस्याएं, तनाव की स्थिति और यहाँ तक कि आत्महत्या तथा अपराध में भागीदारी के प्रवृति बढ़ रही हैं। ये सभी रहन–सहन में बदलाव, सुविधाओं की कमी तथा कार्यप्रणाली द्वारा उत्पन्न तनाव के परिणामस्वरूप हो रहा है। उच्चतम स्तर पर यह अनुभव करने की बात है कि अच्छी तथा वास्तव मे जन–हितैषी पुलिस–व्यवस्था सस्ते में नहीं चलाई जा सकती।

पुलिस की कार्यप्रणाली में मानव अधिकार संरक्षण पूर्ण रूप से विधिक प्रक्रिया की मान्यता ही है। कोई भी न्यायालय अथवा आयोग पुलिस को अपने विधिक अधिकारों का प्रयोग करने से नहीं रोकता हैं। हमें यह भी मान कर चलना चाहिए कि संविधान, अधिनियम, परिनियम तथा प्रशासनिक आदेशों की बाढ़ होते हुए भी पुलिस कर्मी ऐसी परिस्थितियों में कार्य करते हैं जहाँ स्वविवेक का प्रयोग अनिवार्य है। यह एक विडम्बना है कि निम्न श्रेणी के पुलिस कर्मी स्वविवेक का प्रयोग अधिक करते हैं। बहुत से पुलिस कर्मी एकल कार्य संपादित करते हैं जहाँ पर्यवेक्षण की संभावना न्यूनतम रहती है। अतः जब तक मानव अधिकार संरक्षण की भावना नैसर्गिक रूप से पुलिस कर्मियों की कार्यविधि का अंग नहीं बन जाती तब तक समस्या का निराकरण कठिन है।

कोई भी विधिक व्यवस्था सुचारु रूप से तब तक लागू नहीं हो सकती है जब तक कि अधिकांश नागरिक उस व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करते। ऐसी दशा में ही दंड प्रक्रिया तंत्र विधि विरुद्ध आचरण करने वालों को कारगर ढंग से नियंत्रित

करने में सक्षम होगा। यह सर्वमान्य तथ्य है कि पुलिस कर्मी यदि अपनी क्षमता प्रदर्शित करें तथा मानव अधिकार संरक्षण के लिए सामान्यतः कटिबद्ध रहें तभी उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त होगा। भारत जैसे सक्रिय लोकतंत्र में समर्थन प्राप्त करने का अन्य कोई साधन (जैसे राज्य शक्ति का भय इत्यादि) नहीं है। काफ़ी लंबे समय से जनता और पुलिस के बीच अच्छे संबंध अच्छे बनाने पर बल दिया जा रहा है, परंतु इस दिशा में कोई ठोस सफलता नहीं मिली है। जनता का विश्वास केवल यह आस्था उत्पन्न करके ही प्राप्त किया जा सकता है कि पुलिस कर्मी मानव अधिकार संरक्षण के लिए कटिबद्ध तथा तत्पर हैं।

पुलिस के कार्यों से अनेक व्यक्तियों अथवा समूहों के अवैध हितों पर आघात हो सकता है। सही कार्य करने के लिए पुलिस को भी जनता का समर्थन मिलना आवश्यक हैं। इसी प्रकार बहुधा यह अनुभूति होती है कि पुलिस द्वारा सफल कार्य–संपादन के लिए विधिक प्रावधानों में बढ़ोतरी की आवश्यकता है। पुलिस विभाग समय–समय पर व्यावसायिक स्वायत्तता तथा विशेष विधिक प्राविधानों की मांग करता है ताकि अधिक कारगर ढ़ंग से अपराधों पर नियंत्रण कर शान्ति व्यवस्था स्थापित की जा सके। यह मांग आतंकवाद तथा अलगाववाद से प्रभावित क्षेत्रों में और अधिक मुखर हो रही है। इसके विपरीत एक महत्वपूर्ण वर्ग की सोच यह है कि जो वैधानिक अधिकार उपलब्ध हैं उनका उचित तथा प्रभावी ढंग से उपयोग नहीं किया जा रहा है। इसके साथ ही राज्य तथा प्रशासन द्वारा वे सभी कार्य नहीं किए जा रहे हैं जिनसे समाज में असंतोष की भावना तथा असंतुलन कम किया जा सके। इस विचारधारा के अनुसार किसी विशेष कानून की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान समय में न्यायालय, मुखर समूह और समाज का कोई अंग पुलिस के अधिकारों मे लेश मात्र भी वृद्धि के पक्ष में नहीं है।

विधि के अनुसार कार्य करने के पर एक प्रकार की सदिच्छा (गुडविल) पैदा होती है तथा समाज छोटी–मोटी त्रुटियों को अनदेखा करने को तैयार रहता है। इस समय विधि–व्यवस्था पर अत्यधिक दबाव है। अपराधियों का मनोबल मुख्य रूप से इसलिए बढ़ा है क्योंकि उनमें से कुछ सीधे राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने में सफल हो गए हैं तथा उन्हें शक्तिशाली व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ण रूप से अनुत्तरदायी अनौपचारिक प्रक्रिया औपचारिक व्यवस्था पर हावी होने की स्थिति में है। ऐसे वातावरण में पुलिस द्वारा यदि अवैधानिक कार्य किया जाता है तो उन्हें संरक्षण देने की क्षमता अब किसी भी स्तर पर नहीं है। पहले कुछ सीमा तक ऐसी क्षमता थी। अब पुलिस कर्मियों द्वारा सत्यनिष्ठा से कार्य करते हुए भी यदि त्रुटि होती है तो भी अधिकतर नागरिक उसे द्वेष युक्त कार्य ही मानते हैं। वास्तविक तथ्यों की जानकारी के अभाव में भी पुलिस की कार्यप्रणाली कभी उचित तथा कभी अनुचित प्रहार होते रहते हैं। यह किसी भी दृष्टि से पुलिस मनोबल के लिए उचित नहीं है। मेरे विचार में उच्च स्तरीय अनुशासन और मनोबल के बिना पुलिस अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकती है।

अतः इन अनुचित प्रहारों से बचने तथा उससे भी अधिक अपनी कार्य क्षमता में वृद्धि के लिए जनता का विश्वास प्राप्त करना पुलिस के लिए अपरिहार्य हो गया है। पुलिस के कार्यों में पारदर्शिता, विधिक सीमाओं का आदर तथा मानव अधिकार संरक्षण ही ऐसे उपाय हैं जिनसे यह संभव हो पाएगा। यह सभी जानते हैं कि विधि के दायरे में कार्य करने के लिए अधिक परिश्रम तथा लगन की आवश्यकता होती है इसके लिए अधिकाधिक संसाधन भी आवश्यकता है।

मानव अधिकार संरक्षण का संकल्प पुलिस व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर करना होगा। इसका कोई विकल्प नहीं है। पुलिस कर्मियों को प्रत्येक स्तर पर प्रदत्त अधिकारों को देखते हुए यह बहुत कठिन कार्य है। अब्राहम लिंकन के अनुसार "लगभग सभी व्यक्ति विपत्ति झेल सकते हैं परंतु यदि किसी के चरित्र को परखना चाहते हो तो उसे अधिकार दे दो।"

झारखण्ड में मनोरोग चिकित्सालय : मानव अधिकार के विशेष संदर्भ में

* लक्ष्मी सिंह

मनोरोगी ऐसा जीवन जीने को अभिशप्त होते हैं जिसमें उन्हें मनुष्य का दर्जा ही नहीं दिया जाता। ऐसे में उनके अधिकारों का हनन होना आम बात है। वे जीवन के मूलभूत अधिकारों में वंचित रहते हैं। इसका मुख्य कारण है पारिवारिक उपेक्षा और सामाजिक तिरस्कार। इन मनोरोगियों को जरूरत होती है प्यार की, स्नेह की, उचित चिकित्सा की और पर्याप्त देखभाल की। लेकिन, इन्हें झेलनी पड़ती हैं मानसिक और शारीरिक यातनाएं। मनोरोगियों के परिजन ही उनके उपचार में दिलचस्पी नहीं लेते हैं। यदि उपचार के लिए चिकित्सालय में भर्ती कराते भी हैं तो फिर उन्हें लेने वापस नहीं आते। स्वस्थ होने के बाद भी उन्हें संदेह और संशय की दृष्टि से देखा जाता है। महिला मनोरोगियों की स्थिति और भी दयनीय है। उन्हें दर–दर की ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया जाता है जिसका परिणाम होता है अपराधियों द्वारा उनका शारीरिक शोषण और उत्पीड़न। उनकी जिंदगी नरक से भी बदतर बन जाती है। सामाजिक तिरस्कार के साथ–साथ मनोरोगी चिकित्सालयों की कमी भी गंभीर समस्या है।

भारत का मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 मनोरोगियों की चिकित्सा एवं देखभाल के लिए बनाया गया कानून है। यह कानून किसी भी कल्याणकारी राज्य का एक प्रतिबिंब कहा जा सकता है। जिस प्रकार हमारी पौराणिक भारतीय संस्कृति के अनुसार अबलाओं, वृद्धों, दृष्टिहीनों, लंगड़ों, मनोरोगियों, विधवाओं, अनाथों इत्यादि की देखभाल को राजा का परम कर्त्तव्य एवं धर्म माना गया था उसी प्रकार आधुनिक युग में कल्याणकारी राज्य के लिए उससे भी बेहतर कार्य करना अपेक्षित है। इस अधिनियम के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य है कि मानसिक स्वास्थ्य प्राधिकारों, मानसिक रोगों से जुड़े हुए अस्पतालों एवं सेवा सदनों की स्थापना की जाए एवं मनोरोग से ग्रसित लोगों के

* भारतीय प्रशासनिक सेवा, झारखंड संवर्ग, सेवानिवृत्त मुख्य सचिव स्तरीय अधिकारी

अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया जाए। इस अधिनियम के अंतर्गत यह प्रावधान भी है कि मानसिक रोगियों को जब तक इलाज के लिए अस्पतालों में रखा जाएगा, इसका खर्च राज्य को वहन करना होगा।

मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 भले ही मानसिक रोगियों के अधिकार से संबंधित एक मील का पत्थर हो फिर भी उसमें मानसिक रूप से पिछड़े हुए लोगों के बारे में कोई जिक्र नहीं है। इस अधिनियम में प्रावधान है कि चिकित्सा के क्रम में मानसिक रोगियों की मानवीय गरिमा की रक्षा हो और उनके प्रति उत्तम व्यवहार हो। इसमें मनोरोगियों का शोध कार्य के लिए व्यवहार तब तक वर्जित है जब तक कि यह शोध कार्य उक्त मनोरोगी के सीधे हित में न हो। शोध कार्य उन रोगियों पर हो सकता है जिनकी लिखित अनुमति प्राप्त हो। यह अधिनियम प्रावधान करता है कि चिकित्सा से संबंधित ऐसा लेखन या पत्राचार नहीं किया जाए जो चिकित्सा के खिलाफ या हानिकारक हो। मानसिक रूप से पिछड़े हुए लोगों का जिक्र न होना शायद इस वजह से हो सकता है कि ऐसे रोगियों को किसी चिकित्सालय/अस्पताल/सेवा सदन में नहीं रखा जाता है। लेकिन यह सोचने का विषय है कि क्या मनोरोगियों की, विशेषकर मानसिक रूप से पिछड़े लोगों की चिकित्सा ज्यादातर अपने घर में नहीं होती है?

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग ने मनोरोगियों की सुगम एवं मानवीय आधारों के अनुरूप चिकित्सा पर बल दिया है। यह विदित है कि जो मानसिक रूप से बीमार हो जाता है वह अपने परिवार एवं समाज में तिरस्कृत हो जाता है। अगर सौभाग्य से मनोरोगी को मनोरोग चिकित्सालय में भर्ती कराया जाता है तो भी बहुत से परिवार उन रोगियों को वहीं छोड़कर भाग जाते हैं। जब ये मनोरोगी पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाते हैं तब उनके सामने विकट परिस्थिति घर वापस लौटने की होती है। मनोरोग चिकित्सालय के पास ऐसा उत्तम प्रबन्ध नहीं है कि स्वस्थ हो गए मनोरोगियों को आजीवन रहने की सुविधा उपलब्ध करा सकें। अतः प्रश्न यह उठता है कि स्वस्थ हो गए मनोरोगी कहां जाएं, कैसे अपनी परवरिश करें?

माननीय उच्चतम न्यायालय ने देश के विभिन्न मनोरोग चिकित्सालयों की माली हालत में सुधार लाने हेतु जोर दिया है। जब तमिलनाडु के एक मनोरोग चिकित्सालय में जंजीर में बंधे 25 मनोरोगियों की मृत्यु आग लगने से हो गई तो माननीय उच्चतम न्यायालय ने केंद्र सरकार को निर्देश दिया कि मनोरोगियों की देखभाल के लिए समुचित नीति बनाई जाए और प्रत्येक राज्य में केंद्र सरकार द्वारा संचालित एक मनोरोग चिकित्सालय की स्थापना हेतु कार्रवाई की जाए। माननीय न्यायालय ने यह भी निर्देश दिया कि मनोरोगियों की चिकित्सा के स्तर में गुणवत्ता लाई जाए और उनके पुनर्वास हेतु कार्यक्रम तैयार किए जाएं तथा मनोरोगियों को विधिक सहायता का प्रावधान हो। प्रत्येक राज्य के विधिक सहायता परिषद के दो सदस्यों को प्रत्येक माह मनोरोग चिकित्सालयों का निरीक्षण करना होगा एवं जब किसी मनोरोगी को चिकित्सालय में भर्ती कराया जाएगा तब विधिक सहायता से जुड़े हुए सदस्यों द्वारा एवं किसी न्यायिक

पदाधिकारी द्वारा उक्त रोगी के अभिभावक को उनकी ही भाषा में मनोरोगी के अधिकारों के बारे में बताया जाएगा। प्रत्येक मनोरोग चिकित्सालय एवं सेवा सदन, चाहे वह सरकारी हो अथवा निजी, का परिभ्रमण बोर्ड ऑफ विजिटर्स द्वारा किया जायगा। राज्य के स्वास्थ्य पदाधिकारियों को यह निर्देश दिया गया कि वे बोर्ड ऑफ विजिटर्स की स्थापना एक समयबद्ध कार्यक्रम के तहत करें। राकेश चन्द्र नारायण बनाम बिहार राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने रिनपास (रांची इन्स्टीट्यूट ऑफ ब्यूरो साइकेट्री एण्ड एलाइड साइसेंज) को एक स्वायत्तशासी निकाय के रूप में गठित करने का निर्देश दिया। यह प्रथम अवसर था जब माननीय न्यायालय ने मनोरोगियों के अधिकारों के संरक्षण हेतु ऐसा कदम उठाया था।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को विभिन्न मनोरोग चिकित्सालयों के कार्यकलापों का अनुश्रवण एवं पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व सौंपा है। इन मनोरोग चिकित्सालयों में रिनपास एक (RINPAS) भी एक है। इसकी स्थापना सन् 1925 में हुई थी। जब से मानव अधिकार आयोग ने रिनपास के बेहतर संचालन की ओर ध्यान दिया है तब से रिनपास की स्थिति में अभूतपूर्व सुधार हुआ है। इसके पूर्व, इस चिकित्सालय में जब भी किसी बीमार व्यक्ति को भर्ती कराया जाता था, उसे वोर्डर लोगों की मर्जी पर जीना पड़ता था क्योंकि ज्यादातर रोगी वार्ड के अन्दर ताले में रहते थे और डॉक्टर बहुत कम ही वार्ड का निरीक्षण करते थे। 'रिनपास' में पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मणिपुर, मिजोरम एवं बिहार के मनोरोगियों को रखा जाता था। 1580 शय्या की क्षमता होने के बावजूद मनोरोगियों की संख्या 2350 भी पार कर जाती थी। इलेक्ट्रो कनवल्सिव थेरापी मनोरोगियों का मुख्य उपचार था और इसके अलावा, वार्डरों द्वारा इन रोगियों से निजी व्यवहार हेतु घास या लकड़ी कटवाई जाती थी। इन रोगियों के पंजीकरण अथवा डिस्चार्ज के कोई नियम नहीं थे। 1976 से ओ.पी.डी. का संचालन स्वास्थ्य अधीक्षक के सरकारी आवास में हो रहा था। कभी–कभी स्वस्थ व्यक्तियों को साज़िश के तहद मानसिक रोगी घोषित कर परिवार के सदस्यों द्वारा भर्ती कराया जाता था ताकि उसकी सम्पत्ति हड़पी जा सके। इस प्रकार के बहुत सारे कुकृत्य होते थे जिसके फलस्वरूप मनोरोगियों को एक नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कभी–कभी शारीरिक यातनाएं भी दी जाती थीं। बिना चिकित्सा कराए रोगियों को बाहर कर दिया जाता था। लेकिन अब ये सारी बातें इतिहास बन चुकी हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के हस्तक्षेप से अब मनोरोगियों को पौष्टिक आहार मिलता है, उन्हें ढंग के कपड़े मिलते हैं और उनकी देखभाल भी अच्छी तरह से की जा रही है। रोगियों की चिकित्सा के लिए एक्स–रे मशीन, ई.ई.जी. और ई.सी.जी. की सुविधाएं है तथा बायोकेमिस्ट्री एवं हीमाटोलॉजी के लिए ऑटो ऐनालाइज़र है। यहाँ देश की सबसे अच्छी, सभी सुविधाओं वाली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला है। इसके अलावा 'रिनपास' में मनोरोगियों के मनोरंजन, खेल–कूद तथा पठन–पाठन की भरपूर सुविधाएं हैं। इन्हें कई प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिए जाते हैं ताकि बाद में वे जीविकोपार्जन कर सकें।

जहाँ तक अस्पताल में मानव अधिकार से जुड़े हुई सुविधाओं का प्रश्न है, उसकी समस्या सुलझ गयी है लेकिन 'रिनपास' को खुद के अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया है दिनांक 30.6.2004 तक बिहार ने करीब 27 करोड़ रूपये, मणिपुर ने करीब 72 लाख रूपये एवं अरूणाचल प्रदेश ने करीब ढाई लाख रूपये के बकाया का भुगतान नहीं किया था। वर्त्तमान में झारखण्ड सरकार रिनपास को वित्तीय सहायता दे रही है तथा जो उद्देश्य माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा तय किये गये थे, उन्हें प्राप्त किया जा रहा है। सिर्फ मनोरोग विज्ञान में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं मनोरोग विज्ञान में नर्सिंग का काम बाकी है।

इसी प्रकार रांची में एक और सरकारी संस्था है जिसका नाम है – सेंट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइकेट्री (सी.आई.सी.)। यह भी एक पुराना चिकित्सालय है और भारत सरकार के अधीन है। इसकी स्थापना सन् 1918 में हुई थी। मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 का पहला प्रारूप इसी संस्थान में तैयार किया गया था। इस संस्थान में अन्य कार्यक्रमों के अलावा मनोरोगियों की चिकित्सा भी होती है। शय्या की कुल संख्या 673 है और विभिन्न राज्यों एवं एजेंसियों का आरक्षित कोटा भी है। यहाँ 24 घंटे का इमरजेन्सी यूनिट है, बच्चों के लिए अलग मनोरोग विज्ञान इकाई है। कुल 16 वार्ड हैं जिसमें से 9 पुरुषों के लिए और 6 महिलाओं के लिए है जबकि एक परिवार इकाई है। यहाँ पर स्वस्थ हुए रोगियों के पुनर्वास हेतु कार्यशाला है। सी.आई.पी. (केन्द्रीय मनोरोग विज्ञान संस्थान) में वाह्य रोगियों के चिकित्सा का प्रबंध है। यहाँ चिकित्सा के लिए आने वाले मनोरोगियों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। सी.आई.पी. में उच्च स्तर के प्रशिक्षण कार्यक्रम कार्यान्वित हो रहे हैं जो स्नातकोत्तर स्तर के प्रशिक्षणार्थियों के लिए हैं। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रम में अधिकतम 54 प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है। प्रत्येक साल सी. आई. पी. के जरिये 40–50 शोध–पत्र विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं। सम्प्रति सी.आई.पी. से सामाजिक मनोरोग विज्ञान पर एक राष्ट्रीय पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है तथा मनोरोगियों के शारीरिक स्वास्थ्य से जुड़ी तीन शोध परियोजनाएं चलाई जा रहीं हैं। भारत में सी. आई. पी. एकमात्र केंद्र है जो मनोरोगियों की शारीरिक बीमारियों का अध्ययन कार्य डेनमार्क, थाईलैंड, जर्मनी, स्विटजरलैंड, ब्रिटेन, यू.एस.ए. एवं नाइजीरिया के साथ मिलकर कर रहा है। यहाँ अमूमन एक रोगी को 55 दिनों की चिकित्सा प्राप्त होती है। शय्या अधिभोग 418 है। किंतु यहाँ भी वही समस्याएं हैं जो 'रिनपास' में है अर्थात् जो लोग ठीक हो जाते हैं वे अस्पताल छोड़ नहीं पाते क्योंकि उन्हें ले जाने के लिए कोई भी नहीं रहता है। विभिन्न राज्यों से भेजे गये मनोरोगी आते हैं किन्तु उन पर जो खर्च हुआ है उसपर बकाया रू0 101,26,76,445 है जिसका भुगतान अभी भी देय है। फलस्वरूप यह अस्पताल वित्तीय बोझ से दबने के कारण मनोरोगियों के उपचार के क्रम में कठिनाई महसूस कर रहा है। राँची में डेविस मनोरोग चिकित्सालय संस्थान निजी क्षेत्र का संस्थान है। यह संस्थान भी रिनपास तथा सी. आई. पी. की तरह मनोरोगियों को बेहतर सुविधा एवं चिकित्सा उपलब्ध करा रहा है। हाल में इस संस्थान ने पचास वर्ष पूरे किए हैं।

अभी तक हमारा समाज इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाया है कि मनोरोगी ठीक भी हो सकते हैं। मनोरोगियों के परिवारों में हमेशा डर बना रहता है। रोगी के ठीक होने पर भी उन्हें सभी लोग शक की निगाह से देखते हैं। इससे ऐसे व्यक्तियों का मनोबल गिरता है। इन्हें कहीं भी नियोजन प्राप्त करना अत्यधिक कठिन हो जाता है। जन–समुदाय में इन्हें ठग लेने की प्रवृत्ति नजर आती है। जब तक समाज के चिंतन में परिवर्तन नहीं आएगा, जब तक उपचार के पश्चात् इन मनोरोगियों को सामान्य व्यक्ति नहीं समझा जाएगा तब तक इनके अधिकारों का हनन होता रहेगा। स्वस्थ हुए मनोरोगियों को समाज में इज्जत के साथ जीने का अवसर नहीं मिल पाता है।

अगर परिवार के सदस्यगण इन मनोरोगियों को वापस ले भी जाते हैं तो भी गरीबी के चलते अथवा अवहेलना के कारण इन रोगियों को समय पर दवा एवं सेवा नहीं मिल पाती है जिसके चलते वे फिर से मनोरोगी हो जाते हैं। सामाजिक तिरस्कार के अलावा इन मनोरोगियों के आस–पास प्रशिक्षित चिकित्सकों की कमी के चलते प्रायः ऐसे रोगियों की चिकित्सा नहीं हो पाती है। इसके अलावा, अगर निजी क्षेत्र में मनोरोग चिकित्सक प्राप्त हो भी जाते हैं तो उनका चिकित्सा–शुल्क इतना ज्यादा रहता है कि चिकित्सा कराना बहुत महंगा साबित होता है। इसी कारण बहुत सारे परिवार मनोरोगी को सरकारी चिकित्सालय में भर्ती करा देने के पश्चात् फरार हो जाते हैं। 'रिनपास' में 20 प्रतिशत शैय्याओं का अधिभोग दीर्घ–काल तक रहने वाले मनोरोगियों द्वारा किया जाता है। अभी तक इन मनोरोगियों के मानव अधिकारों का धड़ल्ले से हनन हो रहा है। ज्यादातर मनोरोगी अपने ही कुटुम्बों द्वारा मानसिक एवं शारीरिक यातनाएं भोगते हैं तथा जिन मनोरोगियों को समय रहते उचित चिकित्सा नहीं मिल पाती है, उनका शोषण एवं तिरस्कार भी होता है। कभी–कभी विभिन्न कारागारों से आए मनोरोगियों को उक्त कारागारों द्वारा लंबे अरसे तक वापस नहीं लिया जाता है जिसके चलते जिन अन्य मरीजों को सख्त देखभाल की आवश्यकता रहती है उन्हें जगह नहीं मिल पाती है। मानसिक रोगियों के पुनरोद्धार के लिए विशेष आयोजन नहीं रहने के कारण वे समझ नहीं पाते हैं कि स्वास्थ्य लाभ के पश्चात् उन्हें करना क्या है।

जहाँ तक महिला रोगियों का सवाल है, उनके साथ ज्यादा अत्याचार एवं अन्याय होता है। अगर कोई लड़की विवाह योग्य है और साथ ही साथ मनोरोगी भी है, तो उसका उपचार कराए बगैर झूठ बोलकर उसकी शादी कर दी जाती है। जब लड़की अपने ससुराल जाती है और उनके ससुराल वालों को इस झूठ का पता चल जाता है तब ज्यादातर मामलों में उस लड़की को घर से बाहर कर दिया जाता है। फलस्वरूप न वह अपने मायके जा सकती है और न ही उसे ससुराल में स्थान मिलता है। अकेले बाहर सड़क पर भटकने के चलते वह अपराधियों द्वारा शारीरिक रूप से शोषित होती है और फिर उसका जीवन नरक बन जाता है जिससे एकमात्र मृत्यु ही उसे निजात दिला सकती है। ऐसी दुःखद परिस्थिति राष्ट्र भर में पाई जाती है और इनके मानव अधिकारों का संरक्षण नहीं हो पाता है।

मनोरोगियों के मानव अधिकारों का हनन निम्नलिखित क्षेत्रों में होता है :–

(1) गोपनीयता का अधिकार,
(2) देखभाल का उचित प्रबन्ध,
(3) मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित समुचित सुविधाएं,
(4) अपराधियों के जुर्म एवं
(5) सूचना की सुलभता।

आधुनिक युग में विभिन्न प्रकार के आर्थिक, सामाजिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के चलते मानसिक तनाव बहुत बढ़ गया है। इसीलिए मनोरोगियों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। जिन लोगों का मनोरोग प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है उनकी चिकित्सा हो सकती है लेकिन ऐसे लोगों का क्या होगा जो अप्रत्यक्ष रूप से मनोरोगी है? वैसे भी जो घोषित मनोरोगी हैं, उनकी देखभाल के लिए भारत वर्ष में समुचित प्रबंध नहीं है। सरकारी मनोरोग चिकित्सालयों में उतनी संख्या में शय्या का प्रबंध करना एक वृहद् समस्या है। साथ ही मनोरोग विज्ञान के क्षेत्र में मनोरोग चिकित्सकों तथा नर्सेज की बहुत कमी है जिसके चलते सभी मनोरोगियों को उच्च स्तरीय चिकित्सा उपलब्ध कराना संभव नहीं हो पाता है। निजी क्षेत्र में मनोरोगी चिकित्सालय बहुत कम संख्या में हैं और उनकी गुणवत्ता भी चिंता का विषय है। ग्रामीण इलाकों में मनोरोग चिकित्सालय की दुर्लभता को देखते हुए मुझे आश्चर्य नहीं होता है कि जब कभी–भी किसी परिवार में कोई सदस्य मानसिक रूप से बीमार हो जाता है तो उसे झाड़–फूंक करने के लिए ओझा, गुणी तथा तांत्रिकों के पास ले जाया जाता है। अज्ञानता इतनी है कि ग्रामीण सोचते हैं कि ऐसे मरीजों को भूत का प्रकोप हो गया है इसीलिए वे अंधविश्वास में पड़कर गलत उपचार कराते हैं। अतः समय का तकाजा है कि मनोरोगियों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए प्रत्येक राज्य में मनोरोग चिकित्सालय स्थापित करने की व्यवस्था की जाए। दाखिला पाए मरीजों की संपूर्ण देखभाल और उसके खर्च का उत्तरदायित्व सरकार का होना चाहिए।

सभी जगह मनोरोग चिकित्सालय स्थापित करने में समय लगेगा अतः जरूरत इस बात की है कि जो पहले से स्थापित सरकारी एवं गैर–सरकारी मनोरोग चिकित्सालय हैं, उन्हें सुदृढ़ किया जाए और उनमें स्वस्थ हो गए मनोरोगियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिलाया जाए। इसके अलावा मनोरोगियों की देखभाल एवं उन्हें एक इज्जत की जिन्दगी जीने का मौका कैसे दिया जाए इस पर शिक्षा तथा प्रचार–प्रसार होना चाहिए। सभी विद्यालय एवं शैक्षणिक संस्थानों तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, सिनेमा, समाचार–पत्रों, यहाँ तक कि हाट–बाजारों में प्रदर्शनी के द्वारा भी लोगों में मनोरोगियों के बारे में चेतना जागृत करना उचित होगा ताकि वे ऐसे बेबस लोगों का कष्ट समझें एवं उनकी देख–भाल करें। प्रत्येक परिवार, चाहे उसके घर में मनोरोगी अथवा मानसिक रूप से पिछड़ा हुआ सदस्य भले ही न हो, को यह शिक्षा देनी होगी कि यह एक ऐसी परिस्थिति है जो कभी–भी

किसी के घर उत्पन्न हो सकती है। अतः जो सामान्य रूप से स्वस्थ लोग हैं उन्हें इन मनोरोगियों के बारे में सहानुभूति तथा इनका ध्यान रखना चाहिए।

अगर मनोरोगियों की देखभाल उचित ढंग से करनी हो और उनके मानव अधिकारों की रक्षा करनी हो तो यह निर्विवाद है कि भारत में मनोरोगियों की सामाजिक सुरक्षा का प्रबंध करना होगा। हमारा राष्ट्र जब तक ऐसे कमजोर वर्ग के लोगों, की शतप्रतिशत देखभाल नहीं करेगा, तब तक मनोरोगियों के मानव अधिकार के संरक्षण के बारे में सोचना भी बेईमानी है। हम तब तक अपने आपको एक सभ्य समाज का सदस्य नहीं कह सकते जब तक हम ऐसे असहाय, दुर्बल व्यक्तियों का पूर्णरूपेण ध्यान नहीं रखते।

स्वास्थ्य सेवाएं – एक मानवाधिकार

* अरुणा शर्मा

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा स्वास्थ्य की दी गयी परिभाषा इसे मानवाधिकार के रूप में देखने की शुरूआत है। सार्वभौम मानवाधिकार घोषणा पत्र और भारतीय संविधान में वर्णित नीति–निर्देशक तत्वों में भी इसका उल्लेख हुआ है। परन्तु दु:खद बात यह है कि आर्थिक संसाधनों की कमी की आड़ में सरकारें स्वास्थ्य सुविधा के विकास के दायित्व से बच जाती हैं। हालांकि वास्तविकता यह है कि यद्यपि स्वास्थ्य रक्षा के संसाधन पर्याप्त नहीं हैं तथापि यदि उपलब्ध संसाधनों का ईमानदारी से समुचित प्रबन्धन किया जाए तो स्वास्थ्य सेवाओं में गुणात्मक वृद्धि होगी साथ ही शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच व्याप्त स्वास्थ्य सेवाओं का भारी अंतर भी कम हो सकेगा।

विश्व स्वास्थ्य संगठन स्वास्थ्य की परिभाषा पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक बेहतरी के रूप में देता है, महज बीमारियां या विकलांगता न होने के रूप में नहीं। यह परिभाषा स्वास्थ्य के अधिकार को मौलिक मानवाधिकार के रूप में देखने की शुरूआत करती है। सार्वभौम मानवाधिकार घोषणा–पत्र (यू डी एच आर) के अनुच्छेद 12.2 में स्वास्थ्य के अधिकार को स्वीकार किया गया है। इस तरह, किसी प्रकार के भेदभाव के बगैर उच्चतम शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। भारतीय संविधान ने राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत के अनुच्छेद 42 और 47 अध्याय IV में इसका उल्लेख किया है। हालांकि इन्हें न्यायपालिका द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता, बावजूद इसके कि नीति निर्माताओं तथा उन्हें लागू करने वालों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि ये सेवाएं प्रदान करें।

अनुच्छेद 42 : राज्य काम की न्यायसंगत और मानवीय स्थितियां सुनिश्चित करने तथा मातृत्व राहत सुनिश्चित करने के लिए प्रावधान करेगा।

अनुच्छेद 47 : राज्य अपने नागरिकों का जीवन स्तर तथा पोषण स्तर ऊपर उठाने

* भारतीय प्रशासनिक सेवा, मध्य प्रदेश संवर्ग की वरिष्ठ अधिकारी, संप्रति – संयुक्त सचिव, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

और जनस्वास्थ्य को बेहतर बनाने को अपना एक प्राथमिक कर्त्तव्य मानेगा। खासतौर पर वह चिकित्सकी उपयोग को छोड़कर स्वास्थ्य के लिए नुकसानदेह नशीले पेय और दवाइयों के सेवन को रोकने के प्रयास करेगा।

उपरोक्त निर्देशक सिद्धांतों को अध्याय IV के अनुच्छेद 21 में वर्णित मौलिक अधिकारों के साथ पढ़ा जाना चाहिए। इसमें स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य रक्षा के अधिकार को शामिल किया गया है तथा उन्हें जीवन के अधिकार का अभिन्न अंग माना गया है (उपभोक्ता शिक्षा तथा संसाधन केंद्र बनाम भारत सरकार)।

दुर्भाग्यवश, सामाजिक–आर्थिक प्रतिबद्धताओं और जिम्मेदारियों को पूरा कर पाने में सरकार की असफलता की प्रमुख वजह आर्थिक अक्षमता बताई जाती है। यह लेख इस बात का विश्लेषण करेगा कि क्या आर्थिक अक्षमता वास्तविक समस्या है या समस्या कहीं और स्थित है। क्या यह प्रबंधन की समस्या है?

भारत में उपलब्ध स्वास्थ्य रक्षा के संसाधन समुचित तो नहीं कहे जा सकते, लेकिन वे काफी हैं। यदि भारत सरकार के योजना आयोग दसवीं पंचवर्षीय योजना 2002–07, खंड II तथा केंद्रीय स्वास्थ्य सूचना ब्यूरो, स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा जारी भारत की स्वास्थ्य सूचना 2000 एवं 2001 संबंधी गणित का विश्लेषण किया जाए, तो हम पाते हैं कि पिछले दशक में स्वास्थ्य रक्षा संबंधी संसाधनों और स्वास्थ्य कर्मियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1991 में अस्पतालों की संख्या 11,174 (57 प्रतिशत निजी) थी जो सन् 2000 में बढ़कर 18,218 (75 प्रतिशत निजी) हो गई। सन् 2000 में देश में 12.5 लाख डॉक्टर तथा 8 लाख नर्सें थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक 1800 व्यक्ति पर एक डॉक्टर उपलब्ध था। यदि देशी चिकित्सा पद्धतियों तथा होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति सहित अन्य पद्धतियों को भी शामिल कर लिया जाए तो प्रत्येक 800 व्यक्ति पर एक डॉक्टर उपलब्ध है। इससे 1500 की आबादी पर एक डॉक्टर की अनुमानित अपेक्षा न केवल पूरी होती है, बल्कि और बेहतर हो जाती है। हर वर्ष लगभग 15,000 स्नातक डॉक्टर तथा 5,000 स्नोतकोत्तर डॉक्टर प्रशिक्षित होकर निकलते हैं। इस प्रकार, स्वास्थ्य रक्षा की उपलब्धता का मामला डॉक्टरों या दवाइयों की कमी के बजाय प्रबंधन का मामला अधिक बन जाता है।

ग्रामीण इलाकों की आबादी की तुलना में अस्पताल के बिस्तरों का अनुपात शहरों की तुलना में 15 गुणा कम है। शहरी आबादी की तुलना में गांवों की आबादी पर डॉक्टरों का अनुपात छह गुणा कम है। शहरी क्षेत्रों में सरकारी स्वास्थ्य व्यय की तुलना में ग्रामीण इलाकों में जन स्वास्थ्य पर प्रतिव्यक्ति व्यय सात गुणा कम है। हालांकि स्वास्थ्य रक्षा पर किया जाने वाला व्यय सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत है, लेकिन कुल व्यय में राज्य का व्यय केवल 0.9 प्रतिशत है। शेष व्यय लोग स्वयं अपने संसाधनों का उपयोग कर करते हैं। इस प्रकार, देश में होने वाले समस्त स्वास्थ्य व्यय का महज 17 प्रतिशत राज्य वहन करती है और 82 प्रतिशत व्यय लोग अपनी जेब से करते हैं। भारत की

जनस्वास्थ्य संरचना की सबसे महत्वपूर्ण इकाई प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र है। हाल ही के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि केवल 38 प्रतिशत प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में ही आवश्यक कर्मचारी हैं और केवल 31 प्रतिशत केंद्रों में ही सभी जरूरी आपूर्तियां (इसे आवश्यक सामग्री निवेश के 60 प्रतिशत के रूप में पारिभाषित किया गया है) की जाती हैं। आश्चर्य तो यह है कि केवल तीन प्रतिशत प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में ही 80 प्रतिशत आवश्यक सामग्री–निवेश सुलभ है।

केंद्रीय सरकार के प्रायोजित कार्यक्रम, राज्य क्षेत्र के कार्यक्रम जैसे सरकारी कार्यक्रमों में सभी चीजों के लिए प्रावधान है। इनमें ए एन एम में दाई के प्रशिक्षण से लेकर जागरूकता पैदा करने तक, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों का निर्माण (राज्य, केंद्र क्षेत्र, ग्रामीण विकास, दानकर्ता एजेंसियों के द्वारा), दवाईयों की आपूर्ति (यू एन सेफ, महिला एवं बाल कल्याण विभाग आदि द्वारा), गर्भवती माताओं के लिए परिवहन, गरीबी रेखा से नीचे के लोगों का स्वास्थ्य बीमा आदि जैसे अनेक कार्यक्रम शामिल हैं। अतः यह दूरी के कारण पहुंचने की समस्या, संरचना की कमी, दवाओं की कमी का मामला है। इसकी वजह का विश्लेषण निम्न रूपेण किया जा सकता है :–

1. इन सभी एजेंसियों के संसाधन बिखरे हुए हैं।
2. स्वास्थ्य बीमा कार्यक्रम को राष्ट्रीय कार्यक्रमों के साथ न जोड़े जाने के कारण ये आरंभ ही नहीं हो पाए।
3. क्या देशी चिकित्सा पद्धतियों, निजी एवं जनस्वास्थ्य संस्थानों के बीच एक नेटवर्क स्थापित किया जा सकता है?

उपरोक्त तीन प्रश्न प्रबंधन की कमी है न की आर्थिक अक्षमता। उचित प्रबंधन स्वास्थ्य के अधिकार को एक सच्चाई में आसानी से बदल सकता है। एक समन्वित प्रयास से यदि उक्त समस्या का निदान ढूंढा जाए तो गुणात्मक सुधार परिलक्षित होंगे।

स्वभाषा का प्रयोग स्वयं एक मानव अधिकार है

* अनिल गर्ग

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सार्थकता तभी है जब हमें अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनी पसंद की भाषा चुनने की छूट हो। पसंद की भाषा वही होती है, जिस पर हमारा पूरा अधिकार होता है और प्रायः वह भाषा मातृभाषा होती है। इस मातृभाषा को स्वभाषा भी कहते हैं। स्वभाषा सिर्फ इसलिए ही कारगर नहीं है कि उस पर हमारा अधिकार होता है बल्कि इसलिए भी कि स्व–परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए वह सर्वथा समीचीन भी होती है। हमारे समाज की अनेक संकल्पनाएँ पराई भाषाओं में उपलब्ध नहीं होतीं, जाहिर है उनके लिए वहाँ उपयुक्त शब्द भी नहीं होते। स्वभाषा को छोड़कर किसी अन्य भाषा से काम चलाना या काम करने की बाध्यता होना, वैसा ही है जैसा स्वाभाविक रक्त संचार के होते हुए बाई पास सर्जरी से रक्त संचार की व्यवस्था करना। ऐसी कृत्रिमता की विवशता मानवाधिकारवादियों के समक्ष एक प्रश्न चिह्न है। भारतीय संदर्भ में अनेक प्रत्याशी पर्याप्त जानकारी के बावजूद कुछेक प्रतियोगिता परीक्षाओं में सिर्फ इसलिए पिछड़ जाते हैं क्योंकि उनका अंग्रेजी पर अधिकार नहीं होता। इसी प्रकार उच्च न्यायालयों में भी स्वभाषा का चलन न होने के कारण न्याय की आकांक्षी जनता निरीह बनी रहती है।

भाषा प्रत्येक समाज की संस्कृति का एक अभिन्न अंग है और व्यक्ति के स्तर पर वह उसे परम्परा से प्राप्त होती है। भाषा ही वह मूल इकाई है, जिसके माध्यम से हम न केवल पारिवारिक बल्कि समस्त मानव जाति के बीच में अपने संबंधों को स्थापित करते हैं। वैचारिक आदान–प्रदान और भावानात्मक सम्प्रेषण का सबसे बड़ा आधार भाषा का ही होता है। भाषा के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े रूप को यदि हम देखें तो हम

* भारतीय प्रशासनिक सेवा, उत्तर प्रदेश संवर्ग के वरिष्ठ अधिकारी

पाँएगे कि मनुष्य शैशव काल से ही अपनी आवश्यकताओं, आकाक्षांओं को प्रकट करने के लिए भाषा के भिन्न–भिन्न रूपों का प्रयोग करता है। छोटे शिशु का भूख या किसी कष्ट से रोना, किसी का पीड़ा से कराहना, आनन्द उत्साह में ठहाके लगाना, लज्जा से गर्दन झुका लेना, दुःख में अश्रुपात होना, किसी के हृदय के दुःख–सुख की अभिव्यक्ति के भाषायी सोपान हैं। गूँगे लोगों का हाथों, नेत्रों के अनुभाव विधान से अपनी भावनाओं को प्रकट करना और न जाने कितने प्रकार से हम संकेतो, संचालनों, अंग प्रर्दशनों और कूट शब्दों के द्वारा अपनी बात दूसरे तक पहुंचाने के अनेक प्रकार ढूंढ लेते हैं और अपनी भावनाओं को दूसरे तक सम्प्रेषित करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने तो राम के वियोग में दुःखित घोड़ों को 'दुःख से द्रवित पाया' नहिं पय पियहिं, वारिहि लोचन वारि'। तात्पर्य यह कि मनुष्य जीवन में मात्र शब्दों से ही अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता, बल्कि उसके अनेक रूप अनुभाव प्रधान और संकेतों से भी जुड़े होते हैं और इस भाषा को भी समझने वाले होते हैं जो संकेतों और अनुभावों से दूसरे की मूक भाषा का अभिप्राय समझ लेते हैं।

अभिव्यक्ति का एक प्रमुख, पारम्परिक और सांस्कृतिक माध्यम है भाषा और जब भाषा है तो उसके साथ निजता का भी एक सम्बन्ध होता है। हर मनुष्य की अपनी एक मातृभाषा होती है और वह मातृभाषा देश और काल परिवर्तित हो जाने पर भी नहीं बदलती। भाषा हमें एक प्रकार से सामाजिक रिक्थ अथवा विरासत के रूप में मिलती है जिसमें हम अपने आप को अभिव्यक्त कर सके, दूसरों की भावनाओं, विचारों को सुनें और समझ सके। संसार की कोई भी भाषा हो उसके भाषी का यह कर्त्तव्य होता है कि वह उस भाषा को जितना अधिक अपने उपयोग की पाता है उसे वह और आगे बढ़ाये और उसके भाषिक दायरे को अधिक से अधिक विस्तृत करने का प्रयास करे। वह इस यज्ञ में अपनी शब्द सम्पदा की आहुतियाँ देकर उसकी सुगंध, उसके अभिव्यंजना कौशल में वृद्धि करे और उसके स्वरूप को अधिक से अधिक निखारे। इसलिए अपनी देश काल की परिस्थितियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।

वास्तव में चिन्तन की गंभीरता और अभिव्यक्ति की स्पष्टता अपनी ही भाषा में सर्वोत्तम हो सकती है। किसी भी व्यक्ति के मन में जब कोई विचार उत्पन्न होता है तो वह विचार मानस पटल पर अंकुरित होता है। जिस भाषा में वह विचार अंकुरित, पल्लवित और प्रस्फुटित होता है वह भाषा अपनी निजी भाषा होती है। लेकिन जब हम उसे अभिव्यक्ति देने के लिए किसी दूसरी भाषा का सहारा लेते हैं तो हम उसे वैसी पूर्णता से अभिव्यक्त नहीं कर पाते। कोई भी व्यक्ति अनेक भाषाओं का ज्ञाता हो सकता है और अपने को अभिव्यक्त भी कर लेता है लेकिन चिन्तन की मौलिकता और गंभीरता निज भाषा में ही संभव है :–

10 दिसम्बर 2004 को मानव अधिकार दिवस के अवसर पर आयोग द्वारा प्रकाशित हिंदी तथा अंग्रेजी पत्रिका का लोकार्पण करते हुए अंतरराष्ट्रीय समन्वय समिति के अध्यक्ष मॉर्टिन कज़ेरम तथा आयोग के अध्यक्ष

पढ़ौ लिखौ कोउ लाख विधि, भाषा बहुत प्रकार,
पै जबहीं कुछ सोचिहौं, निज भाषा अनुसार।

भारत जैसे विशाल देश में पानी और बानी हर दस कोस में बदल जाती है। यहाँ भाषा और बोलियों की बहुतायत है, फिर भी सोचने, विचारने, कथनी, करनी की जो उच्चता और प्रांजलता है वह निज भाषा में ही संभव है। भाषा के साथ निजता का और निजता के साथ भाषा का अटूट और प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है। कोई भी भाषा अपनी अभिव्यंजना में न जाने कितने शब्द और अभिव्यक्तियों के तरीके दूसरी भाषाओं से लेती है और उनको आत्मसात् करती है तथा किसी भाषा के अनेक शब्द दूसरी भाषाओं में जाकर घुल–मिल जाते हैं। किसी भी भाषा के चरित्र से मानव जाति के चरित्र को समझा जा सकता है। जिस प्रकार हम निज भाषा को मानव जाति के अधिकार के रूप में उपयोग करते हैं, तो उसी प्रकार हमारा यह भी कर्त्तव्य है कि अपनी भाषा को और अधिक ऊंचा उठाने, उसे समुन्नत करने, उसकी शब्द सम्पदा को बढ़ाने, उसके वाक्य गठन को प्रभावी बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें। वस्तुतः स्वभाषा ऐसे दर्पण के समान है जिसमें न केवल मनुष्य का व्यक्तित्व प्रतिविम्बत होता है अपितु उसके विकास क्रम, संस्कार, संस्कृति और राष्ट्रीयता को भी समझने का अवसर मिलता है। स्वभाषा के प्रयोग से भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने में सरलता, स्पष्टता व प्रवाहमयता स्वयमेव आ जाती है। बोल–चाल की लोक भाषा जब व्याकरण के अनुशासन में बँध जाती है तब वह स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर साहित्य की भाषा बन जाती है।

मानव इतिहास की सारी कहानी उसके व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा और उसके सम्मान के महत्त्व की कहानी है। सम्प्रति मानव अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता ने उन छोटे–छोटे विषयों को भी समाहित कर लिया है जो अभी तक उपेक्षित थे। स्वभाषा का अधिकार भी उनमें से एक है। सामाजिक जीवन में उदारता व सहिष्णुता के गुणों को प्रमुखता देने से मानवीय संचेतना का विकास होता है। मानवीय संचेतना के द्वारा ही नैसर्गिक न्याय विधान सृजित होता है। इससे मनुष्य अपने अधिकारों के साथ ही शान्तिपूर्ण सामाजिकता तथा सुखद व्यक्तिगत जीवन में विश्वास करता है। जीवन की यही मुख्यधारा मानवीय संवेदना के समानान्तर धारा को प्रवाहित करती है। साहित्य मानव चेतना को पुष्पित, पल्लवित व प्रकाशित करता है। चेतना अनुभूति और चिन्तन से परिपुष्ट होती है। अनुभूति का संबंध हृदय की संवेदना से है। मानवीय संवेदना एवं साहित्यक संचेतना से मानवता अनुप्राणित होती है। साहित्य सृजन के लिए भाषा आवश्यक होती है, जो मनुष्य की स्वभाषा से ही प्राण तत्व ग्रहण करती है।

स्वभाषा का मानवाधिकार के तौर पर प्रयोग किया जाना समसामयिक चिन्तन व सोच का गंभीर विषय है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को "मानवाधिकार घोषणा पत्र" जारी किया गया था इसका मुख्य उद्देश्य है कि मानवाधिकारों तथा मूलभूत स्वतंत्रताओं को बिना

जाति, धर्म, लिंग अथवा भाषा के भेद–भाव के समान रूप से लागू एवं प्रोत्साहित करें। इस घोषणा–पत्र में कहा गया है कि सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए हैं तथा प्रतिष्ठा एवं अधिकारों में समान हैं। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का अधिकार है। उन्हें विचारों की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। वर्ष 1966 में "नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की अन्तरराष्ट्रीय प्रसंविदा" तथा "आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा" की गयी। इनमें जीवन, स्वतंत्रता तथा सुरक्षा का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विचारों की स्वतंत्रता मुख्य हैं। मानवाधिकारों को प्रोत्साहन देने की दिशा में यह एक सार्थक प्रयास व महान उपलब्धि है। मानव अधिकारों की स्वीकार्यता के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और अन्य प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम है।

मानव अधिकारों का भारतीय संस्कृति में सदैव प्रतिष्ठापूर्ण स्थान रहा है। वर्ष 1993 में भारतीय संसद द्वारा "मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम" पारित किया गया है। अधिनियम में कहा गया है कि "मानव अधिकार से अभिप्राय संविधान द्वारा गारण्टीयुक्त तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सम्मिलित एवं भारत में न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं गरिमा से है"। मानव अधिकारों के अन्तरराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय प्रावधानों के अधिकांश अंश हमारे संविधान में अन्तर्निहित हैं। भारतीय संविधान में भाषा की भावना का समुचित आदर करते हुए आठवीं अनुसूची में बाइस भाषाओं को सम्मिलित किया गया है। देश की प्रमुख सम्पर्क भाषा हिन्दी को संघ की राजभाषा का दर्जा प्राप्त है।

संविधान की प्रस्तावना और मौलिक अधिकारों में भी स्वभाषा संरक्षण का समावेश किया गया है। मानव अधिकार संविधान द्वारा अंगीकृत लोकतांत्रिक व्यवस्था की आधारशिला है। संविधान के भाग–तीन में संस्कृति और शिक्षा संबंधी मूल अधिकार की चर्चा है। अनुच्छेद 29 में भाषा–संरक्षण को समाहित किया गया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उसका मूल भाव निहित है। इसमें मुख्य रूप से "मानव की गरिमा" को प्रमुखता दी गई है। "मानव की गरिमा" में "स्वभाषा" के महत्व को स्वीकार किया गया है। संविधान के अनुच्छेद–19 में वाक्स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता" तथा अनुच्छेद 21 में "प्राण–रक्षा एवं दैहिक स्वतंत्रता" का उल्लेख है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा प्राण–रक्षा एवं दैहिक स्वतंत्रता तभी संभव है जब स्वभाषा को संरक्षण प्राप्त हो। अनुच्छेद 29 में समाविष्ट भाषा संरक्षण के प्रावधान से ही संविधान की प्रस्तावना में अंकित "मानव की गरिमा" के भाव की पूर्ति की जा सकती है।

मानव अधिकार की अवधारणा में मानव–गरिमा, मानव–विकास, मानव–संरक्षण समाहित है। वास्तव में "स्व–भाषा" का भाव भी इसमें निहित है। हमारे बहुभाषी देश में राष्ट्रभाषा, राजभाषा व मातृ भाषा को यथास्थान महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संविधान के भाग–17 में भाषा संबंधी प्रावधान उल्लिखित हैं। वास्तव में मातृभाषा ही सबसे

आयोग द्वारा प्रकाशित मानव अधिकार शब्दावली (अंग्रेजी–हिंदी) का लोकार्पण करते हुए आयोग के अध्यक्ष, साथ में सदस्यगण (बायें से) श्री पी.सी. शर्मा, न्यायमूर्ति श्री वाई. भास्कर राव तथा श्री आर.एस. काल्हा

बलशाली, प्रभावी व श्रेयस्कर होती है। इसे ही स्वभाषा का दर्जा दिया गया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि स्वभाषा को सर्वाधिक महत्व दिया जाए। उसके विकास और उन्नयन हेतु सतत प्रयास किए जाएं, साथ ही संविधान के मूल अधिकार एवं मानवाधिकार के प्रावधानों के अन्तर्गत इसे वास्तविक रूप से संरक्षण प्रदान किया जाए, ताकि उसके द्वारा आम लोग अपना सर्वांगीण विकास कर सकें। संविधान की प्रस्तावना की आत्मा मानव गरिमा की सार्थकता और उसका निहितार्थ स्वभाषा से ही मानव अधिकार के रूप में फलीभूत हो सकता है।

मानवाधिकार और अद्‌र्धसैनिक बल

* डॉ0 विक्रम सिंह

आज देश जहां एक और उग्रवाद, आतंकवाद जन आन्दोलन आदि समस्याओं से ग्रस्त है वहीं दूसरी और भूकम्प, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाएँ देश के किसी न किसी भाग में तबाही मचाती रहती है। ऐसी स्थिति में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो गयी है। इनकी भूमिका को प्रभावशाली और उत्तरदायी बनाने के लिए अनेक उपाय किए गये है जिनमें भारत सरकार द्वारा जुलाई 1985 में निर्गत आचार संहिता, मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा, राष्ट्रीय मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 आदि प्रमुख है। विगत कुछ वर्षो में उच्चतम न्यायालय द्वारा जनहित में अनेक ऐसे निर्णय लिए गये हैं जिनका अर्द्धसैनिक बलों के कार्यशैली पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। परन्तु दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि विगत कुछ वर्षों में अर्द्धसैनिक बलों और पुलिस के प्रति जनता का अविश्वास बढ़ा है। कारण जो भी हो पर इतना स्पष्ट है कि इसके लिए पुलिस और जनता दोनों किसी न किसी रूप में जिम्मेदार है अतः आवश्यकता इस बात की है कि पुलिस अपने कर्तव्यों का पालन सजग होकर करे और जनता उनके असहनीय कार्यो की प्रशंसा कर उनका उत्साहवर्द्धन करे। हाल के वर्षों में उत्तर प्रदेश में एस0 टी0 एफ0 नामक विशेष कार्य बल गठित किया गया है जिसने माफियाओं और अपराधियों पर कारगर लगाम लगाया है। इतना ही नहीं इन बल के विरुद्ध अभी तक मानवाधिकार हनन का कोई मामला प्रकाश में नहीं आया है।

भारत को एक अखंड राष्ट्र बनाये रखने में अद्‌र्ध सैनिक बलों का विशेष योगदान है। विदेशी आक्रमण से लेकर आंतरिक सुरक्षा संबंधी समस्याओं जैसे–सांप्रदायिक उन्माद, प्राकृतिक आपदा, निर्वाचन, जातिगत समस्या आदि के समय अद्‌र्ध सैनिक बलों द्वारा प्रभावी कार्रवाई की गई है जिसके परिणाम सर्वविदित हैं। किसी भी लोकतांत्रिक देश में जन आंदोलन एक सामान्य प्रक्रिया है और इसमें पुलिस की, विशेषकर अर्द्ध सैनिक

* भारतीय पुलिस सेवा, उत्तर प्रदेश संवर्ग के वरिष्ठ अधिकारी, सम्प्रति – अपर पुलिस महानिदेशक, लखनऊ

बलों की निर्धारित व विधिसम्मत् भूमिका है। बदलते परिवेश में, जहां आतंकवाद ने अपना सिर उठाया है, जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है, वहीं अर्द्ध सैनिक बलों का कार्य दिन प्रति–दिन कठिन व दुष्कर होता जा रहा है। कश्मीर एवं पूर्वोत्तर राज्य ही नहीं, आवश्यकतानुसार लगभग पूरे राष्ट्र को अर्द्ध सैनिक बलों की निर्धारित व विधिसम्मत् भूमिका है। कश्मीर एवं पूर्वोत्तर राज्य ही नहीं, आवश्यकतानुसार लगभग पूरे राष्ट्र को अर्द्ध सैनिक बलों की आवश्यकता रहती है। दस्यु उन्मूलन अभियान, विवादित स्थलों की सुरक्षा, कानून व्यवस्था की स्थितियों से निपटने हेतु अर्द्ध सैनिक बल की आवश्यकता निरंतर बनी रहती है। कई स्थानों पर तो अर्द्ध सैनिक बलों की लगभग पूर्णकालिक नियुक्ति हो गई है तथा इनके अभाव में जनमानस में असुरक्षा की भावना जागृत होती है। इन समस्याओं ने एक तरफ तो विकराल रूप धारण कर लिया है तथा दूसरी ओर अर्द्ध सैनिक बलों की मांग निरंतर बढती जा रही है और इन पुलिस बलों का कार्य निरंतर फैलता जा रहा है। परिणामस्वरूप समय–समय पर कुछ दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटित हो जाती हैं, जिसके लिए अर्द्ध सैनिक बलों की उचित–अनुचित आलोचना की जाती है व उनके संबंध में यदा–कदा एक पक्षीय टिप्पणी व मीडिया ट्रायल तक हो जाते हैं।

अर्द्ध सैनिक बल प्रशिक्षित एवं अनुशासित पुलिस कर्मियों का एक समूह है व सामान्यतया विभागीय व राष्ट्रीय गौरव के प्रतीक भी। यदि वह विधिसम्मत् कार्रवाई करें तो निःसंदेह सदैव प्रशंसा व आभार का पात्र रहेंगे। अर्द्ध सैनिक बल मानव अधिकार संबंधी विभागीय एवं विधिक पहलुओं पर भली–भांति प्रशिक्षित एवं सतर्क रहें तो अकारण आलोचना व दुष्प्रचार से बच सकते है। यद्यपि यह विषय अत्यंत बृहद् है फिर भी निम्नलिखित बिंदुओं पर यदि ध्यान दिया जाए तो इनके लाभप्रद परिणाम मिल सकते हैं:

(1) भारत सरकार द्वारा जुलाई, 1985 में निर्गत आचार संहिता:

यह संहिता केंद्रीय गृह मंत्री द्वारा सभी केंद्र शासित प्रदेशों एवं अन्य राज्यों के प्रमुख सचिवों को प्रेषित की गई थी जिसमें कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं का सारांश इस प्रकार है:

(क) पुलिस को अपने अधिकारों और कार्यों की सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए और उनका आदर करना चाहिए। उन्हें न्यायपालिका के कार्यों में अनधिकार हस्तक्षेप करने का आभास नहीं देना चाहिए तथा प्रकरणों पर निर्णय देने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उन्हें न तो किसी व्यक्ति के पक्ष में किसी से प्रतिशोध लेना चाहिए तथा न ही दोषी को दंड देना चाहिए।

(ख) कानून का पालन करवाने में अथवा व्यवस्था बनाए रखने में पुलिस को समझाने–बुझाने, सलाह तथा चेतावनी के तरीके काम में लाने चाहिए। इनके विफल हो जाने पर परिस्थितियों की मांग के मुताबिक अल्प मात्रा में ही बल प्रयोग करना चाहिए।

(ग) पुलिस का प्राथमिक कर्तव्य अपराध तथा अव्यवस्था को रोकना है। पुलिस को यह समझना चाहिए कि उसकी दक्षता की कसौटी इन दोनों का अभाव है, न कि इनसे निपटने के लिए की गई पुलिस कार्रवाई का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(घ) पुलिस को यह ज्ञान होना चाहिए कि वे जनता के सदस्य हैं, अंतर केवल इतना ही है कि समाज के हित में तथा उसकी ओर से उन्हें उन कर्तव्यों पर पूर्णकालिक ध्यान देने के लिए नियुक्त किया गया है, जिनका निर्वाह करना सामान्यतः प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक है।

(ङ) पुलिस को सभी लोगों के प्रति संवेदनशील तथा विचारवान होना चाहिए और उनके कल्याण का सदा ध्यान रखना चाहिए। उन्हें लोगों की संपत्ति तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का विचार किए बिना सभी को वैयक्तिक सेवा तथा मित्रता अर्पित करने और आवश्यक सहयोग प्रदान करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

उपरोक्त सभी समस्त नीति निर्देश अत्यंत सारगर्भित हैं जिसमें संविधान के मूल तत्व का समावेश है और साथ ही मानवीय गरिमा व अनुशासन को प्रमुख स्थान दिया गया है।

(2) **मानव अधिकार की सार्वभौमिक घोषणा** : इस घोषणा का भारतीय विधानों में समावेश किया गया है। भारतीय संविधान, दं0प्र0 सं0 1973 आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान दं0प्र0 सं0 1973 एवं अन्य विधानों में राष्ट्र संघ की सार्वभौमिक घोषणा का भली भांति समावेश है। दं0प्र0 सं0 1973 में विशेष ध्यान दिया गया है कि पुलिस बलों द्वारा गिरफतारी, तलाशी आदि में मानव अधिकारों का हनन न हो।

(3) **राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की शक्तियाँः (मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993)** : आयोग के पास मानव अधिकार हनन के प्रकरणों में जाँच तथा आपराधिक अनुसंधान की शक्तियाँ हैं।

(अ) शिकायत की जांच करते समय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के अंतर्गत वाद के संबंध में सिविल कोर्ट की सभी शक्तियाँ प्राप्त होंगी।

(ख) **अन्वेषण** : जाँच कार्य से संबंधित अन्वेषण के प्रयोजनार्थ आयोग केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार की सहमति से किसी भी अधिकारी अथवा अन्वेषण संस्था की सेवाएं ले सकता है। आयोग का अपना एक अन्वेषण प्रभाग भी है।

सशस्त्र बलों के संबंध में प्रक्रियाः

सशस्त्र बलों द्वारा मानव अधिकारी के उल्लंघन की शिकायतों पर कार्रवाई

करते समय आयोग द्वारा निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जाती है:

(क) प्रस्ताव या याचिका प्राप्त होने पर केंद्र सरकार से रिपोर्ट मांगेगा।

(ख) रिपोर्ट प्राप्त होने पर या तो शिकायत पर कार्रवाई नहीं करेगा या मामले के अनुसार सरकार को सिफारिश भेजेगा।

(ग) केंद्रीय सरकार आयोग को तीन मास के भीतर या आयोग द्वारा दिए गए समय में आयोग की सिफारिश पर की जाने वाली कार्रवाई की सूचना देगी।

(घ) आयोग उपधारा के अंतर्गत प्रकाशित रिपोर्ट की प्रति प्रार्थी या उसके प्रतिनिधि को देगा।

उच्चतम न्यायालय के कुछ महत्वपूर्ण निर्णय:

यह हर्ष का विषय है कि विगत कुछ वर्षों से न्यायालयों, विशेषकर उच्चतम न्यायालय द्वारा जनहित में अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिए गए हैं जिनमें जनभावना का आदर हुआ है तथा जिसका पुलिस तथा अर्द्ध सैनिक बलों की कार्य पद्धति पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है।

(अ) डी. के. बसु बनाम पश्चिमी बंगाल सरकार

इस निर्णय में गिरफ्तारी हथकड़ी –बेड़ी लगाने, पूछताछ करने वे बंदी के हितों के संरक्षण हेतु नीति निर्देश दिए गए हैं।

(ब) इंदर सिंह बनाम पंजाब राज्य 1995–

माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा समस्त पुलिस बलों के सम्बन्ध में दिये गये निर्देश का सारांश निम्नवत् है:

''हमारे विचार से अपराध शाखा को छोड़कर संपूर्ण पंजाब पुलिस इसके लिए निंदा की पात्र है। पुलिस का कर्तव्य लोगों की रक्षा करना है न कि इस प्रकार के अपराध करना। इस प्रकार के अनेक उदाहरण सामने आये हैं और यह प्रवृत्ति तुरंत रुकनी चाहिए अन्यथा न जाने इस देश का क्या होगा। केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो की रिपोर्ट से सिद्ध होता है कि पुलिस उपाधीक्षक जैसे उच्च पंक्ति के एक पुलिस अधिकारी इस आशंका के आधार पर कि उसके भाई को आतंकवादियों द्वारा लाए जाने में उन सात व्यक्तियों का हाथ रहा होगा, एक पुलिस दल लेकर उनके घर गया और उन्हें बलात् ले गया। वे सात व्यक्ति पंजाब राज्य के विभिन्न थानों में विधि विरुद्ध ढंग से निरुद्ध रखे गए और सातों व्यक्ति लापता हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना बिल्कुल उचित है कि संभाव्यतः उन्हें उठा ले जाने वालों ने ही उनकी हत्या कर दी''।

''हम पंजाब राज्य को निर्देश देते है कि उक्त सात व्यक्तियों में से प्रत्येक के

विधिक प्रतिनिधियों को दो सप्ताह के भीतर एक लाख, पचास हजार रुपये की राशि दें"

(स) **पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत सरकार 1996**– टेलीफोन, वायरलेस उपकरणों की निगरानी के संबंध में माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा वृहद् नीति निर्देश दिए हैं जिससे कि इण्डियन टेलीग्राफ एक्ट की धारा 5 व उपधारा 2 के प्रावधानों का दुरुपयोग न हो।

इस निर्णय में यह स्पष्ट किया गया है कि सर्वप्रथम शासन के वरिष्ठ अधिकारियों से पूर्व अनुमति प्राप्त की जानी चाहिए। अनुमति प्राप्त हो जाने के उपरांत निर्धारित अवधि तक ही यह कार्रवाई प्रचलित रखी जा सकती है। किस अवधि में कितने दूरभाष पर यह प्रक्रिया अपनाई, इसकी समीक्षा भी किए जाने का प्रावधान है। इस निर्णय के उपरांत जहां मौलिक स्वतंत्रता प्रशस्त हुई वहीं इसके द्वारा हो रहे दुरुपयोग पर भी प्रभावी नियंत्रण हुआ।

फर्जी मुठभेड़ों के आरोपः

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे देश में कई अद्र्ध सैनिक बलों पर फर्जी मुठभेड़ को लेकर समय–समय पर आरोप लगाए गए हैं। यदि इन आरोपों को सत्य माना जाए तो यह विचारणीय है कि आखिर ऐसी क्या परिस्थितियां थीं कि पुलिस बलों को अवैधानिक कृत्य करना पड़ा। कुछ विचारकों का मत है कि पुलिस कर्मचारियों की संख्या, जनसंख्या के अनुपात में नगण्य है। व्यावसायिक दक्षता में जहां गिरावट आई है वहीं प्रशिक्षण का भी अभाव है। उपलब्ध कराये गये संसाधन एवं उपकरण प्राचीन स्तर के हैं। यह कटु सत्य है कि जनता एवं सभी की अपेक्षाएं इस प्रकार की हैं कि उनका कसौटी पर खरा उतरना अत्यंत दुष्कर है। अतः पूछताछ के दौरान व कानून व्यवस्था की स्थिति में अनावश्यक बल प्रयोग से लेकर फर्जी मुठभेड़ तक की शिकायत आती है।

इस समस्या के निराकरण हेतु यह उचित होगा कि पुलिस कर्मचारियों एवं अधिकारियों की संख्या में वृद्धि की जाए एवं उनको भली–भांति प्रशिक्षित भी कराया जाए। सभी स्तर के अधिकारियों के सेवा–काल के मध्य अल्प–अवधि प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से उनकी प्रतिभा को निखारना चाहिए। यह उत्साहवर्धक है कि लगभग सभी अद्र्ध सैनिक बलों द्वारा मानव अधिकार संरक्षण संबंधी विषय को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है। इसके संबंध में लघु एवं दीर्घ प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए गए हैं। इस दिशा में सीमा सुरक्षा बल का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने विभिन्न कार्यशालाएँ, सैन्य सम्मेलन एवं जन–संपर्क के माध्यम से पुलिस बलों को मानव अधिकार संबंधित विषयों पर संवेदनशील बनाया है। उनके द्वारा राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के सौजन्य से भी इन विषयों पर प्रशिक्षण कार्यक्रम चलवाए गए हैं। जम्मू–कश्मीर के संबंध में तो सैन्य बलों की नियुक्ति से पूर्व ही उन्हें मानवाधिकार संरक्षण पर भली–भांति

प्रशिक्षित किया जाता है। वहां पर नियुक्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों के संबंध में निम्नलिखित कार्रवाई की जाती है:–

(क) ऑपरेशन से पूर्व एवं बाद में सभी कर्मचारियों को भली– भांति सतर्क किया जाता है तथा ब्रीफ व डी–ब्रीफ किया जाता है।

(ख) गणना के समय प्रत्येक सैनिक को भली–भांति उसके कर्तव्यों के प्रति सजग किया जाता है।

(ग) मानवाधिकार संबंधी विषयों पर सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों हेतु सरल भाषा में परिपत्र निर्गत किए गए हैं।

(घ) सभी कर्मचारियों के प्रयोगार्थ सहज भाषा में हस्तपुस्तिका तैयार की गई है जो सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों के पास उपलब्ध है।

(ड) मानवाधिकार उल्लंघन के प्रकरण पर दोषी कर्मचारियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाती है।

जन सहयोग एवं विश्वसनीयता:

किसी भी पुलिस बल की विश्वसनीयता का विशेष महत्व होता है। विश्वसनीयता बनाने हेतु सामान्य समय में सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए। जनता के प्रतिष्ठित नागरिकों तथा अन्य समूहों से संपर्क में रहना चाहिए चाहे वह समितियों के माध्यम से अथवा अन्य कोई सेवा संबंधी अराजनैतिक मंच हों। अद्र्ध सैनिक बलों द्वारा किए गए अच्छे कार्यों के बारे में जनता को अवगत कराने का प्रयास किया जाए। इस अभियान में अल्पसंख्यकों के संबंध में अपनी छवि इस प्रकार की बनाए जिससे कि अल्पसंख्यक अपने हितों के बारे में भली–भांति आश्वस्त व सुरक्षित अनुभव करें। इस प्रकार की छवि बन जाने के उपरांत समस्या के समय पुलिस बल का कार्य काफी सरल हो जाता है। अद्र्ध सैनिक बलों द्वारा कही गई बातों को जनता गंभीरतापूर्वक ग्रहण करती है और विश्वास भी करती है।

सीमा सुरक्षा बल द्वारा इस दिशा में कई मौलिक प्रयोग किए गए हैं और इनके उत्साहवर्धक परिणाम भी प्राप्त हुए हैं। सीमा सुरक्षा बल द्वारा कई स्थानों पर खेलों का आयोजन किया गया है। स्कूलों को किताबें, मेज कुर्सी आदि उपलब्ध कराई गई हैं। चिकित्सा शिविर ऐसे स्थानों पर लगाए गए हैं, जहां पर यह सुविधा उपलब्ध नहीं थी। पेयजल, सड़क बनावाने व स्कूलों की मरम्मत आदि का कार्य भी उनके द्वारा करवाया गया है। एक महत्वपूर्ण प्रयोग में इनके द्वारा जम्मू कश्मीर के बच्चों को पूरे देश में भारत दर्शन करवाया गया। इन बच्चों के लखनऊ आगमन पर मुझे भी इनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। इन बच्चों का उत्साह व देशप्रेम देखने योग्य था। निःसंदेह, अपने घर कश्मीर जाकर जब ये बच्चे विभिन्न स्थानों पर किए गए अनुभव भाईचारे व सौहार्द की चर्चा करेंगे तो इसके रचनात्मक परिणाम होंगे जिसका लाभ सभी को मिलेगा।

उत्तर प्रदेश की स्पेशल टास्क फोर्स:

उत्तर प्रदेश में एक अद्‌भुत प्रयोग किया गया है। संगठित अपराधियों माफियाओं एवं दुर्दांत अपराधियों के विरुद्ध एक ऐसे पुलिस बल का गठन किया गया है जिसका नाम एस. टी. एफ. (विशेष कार्य बल) है। इस बल के समस्त अधिकारी स्वेच्छा से इस बल में आए हैं। उनकी व्यावसायिक दक्षता उच्च कोटि की है व सेवा अभिलेख भी उच्च कोटि के हैं। अपने लगभग सात वर्ष के कार्यकाल में इस कार्य बल द्‌वारा लगभग 52 कुख्यात अपराधियों को मुठभेड़ में मार गिराया और 618 को बंदी बनाया गया। इसमें अत्यधिक कुख्यात राष्ट्र विरोधी तत्व हरकत–उल–अंसार के सदस्य भी सम्मिलित हैं। यह गर्व का विषय है कि इसकी कार्यप्रणाली पर कोई भी प्रश्न चिह्न नहीं लगा है क्योंकि इनके द्‌वारा अपना कार्य पूर्ण व्यावसायिक दक्षता द्‌वारा किया गया न कि अकारण बल प्रयोग द्वारा। अपने सृजन से आज तक लगभग 7 साल की अवधि में मानव अधिकार हनन का कोई भी प्रकरण विशेष कार्य बल अथवा उसे अधिकारियों के विरुद्‌ध प्रकाश में नहीं आया। यह उनकी उच्च कोटि की व्यावसायिक दक्षता एवं सेवा भाव का परिणाम है कि विशेष कार्य बल द्वारा सदैव विधि सम्म्त कार्रवाई की गई है एवं मानव अधिकार संरक्षण में इस बल की छवि अत्यंत उज्ज्वल है।

पुलिस के जानकार व्यक्तियों का मत है कि उच्च कोटि की व्यावसायिक दक्षता रखने वाले अधिकारी एवं कर्मचारी मानवाधिकार का हनन नहीं करते हैं। वांछित प्रशिक्षण के अभाव में एवं जनसंख्या के अनुपात में उनकी संख्या की कमी के कारण पुलिस बलों का प्रत्युत्तर अवसादग्रस्त एवं अवैधानिक भी हो सकता है। प्रत्येक स्तर पर वांछित प्रशिक्षण, अवसादविहीन किए जाने हेतु विभिन्न कार्य योजनाएं प्रचलित की जाए जिससे कि सभी अद्‌र्ध सैनिक बल जनता के प्रति सम्मान की दृष्टि अपनाएं और विषम परिस्थितियों में भी कोई ऐसा कार्य न करें जिससे पुलिस बल की छवि धूमिल हो।

संस्कृति, न्याय और मानवाधिकार

* के. पी. सिंह
** डॉ0 दीपा सिंह

मानवाधिकार मानवीय विचारधारा द्वारा सभ्यता और संस्कृति को दिए गए अति महत्वपूर्ण उपहार हैं। इन अधिकारों के बिना कोई भी मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। राज्य और समाज ने इन अधिकारों को स्वीकार किया है। मानवाधिकारों का विकास पूरब और पश्चिम की पृष्ठभूमि में अलग–अलग हुआ है। मानवाधिकार का पाश्चात्य स्वरूप अधिकार प्रधान है, पूरब में यह कर्त्तव्य प्रधान है। हालाँकि पूरे विश्व में मानवाधिकारों की उत्पत्ति धार्मिक शिक्षा से हुई है। अशोक के जीवन ने यह सिद्ध किया कि मानव अधिकार की रक्षा करते हुए एक प्रबुद्ध शासक अहिंसा और प्रेमभाव से शासन कर सकता है। इस्लाम के अनुसार संपन्न लोगों को कम भाग्यशाली लोगों के प्रति न्याय और उदारता का भाव रखना चाहिए। हिन्दू मनीषा की यह मान्यता रही है कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति' अर्थात् सत्य एक है, विद्वान इसका अलग–अलग प्रकार से वर्णन करते हैं। ऐसे कथनों द्वारा भारत में विभिन्न प्रथाएँ, धर्म और सत्य के मार्ग के प्रति आदर भाव व्यक्त होता है। भारत में 'सर्व धर्म समभाव' एक मार्गदर्शी सिद्धांत है और भारतीय धार्मिक ग्रंथों में उच्च मानवीय मूल्यों को स्थान दिया गया है।

संस्कृति, न्याय और मानवाधिकार मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण दर्शन है। अपनी–अपनी संस्कृति के बन्धनों में बंधा मनुष्य जीवन पर्यन्त न्याय और अन्याय की खोज में लगा रहता है। वह यह भूल जाता है कि संस्कृति और न्याय का आधार मानवाधिकार ही है। मानवाधिकारों का उदय संस्कृति और न्याय के अभ्युदय से बहुत पहले हो जाता है। शनैः शनैः भौगोलिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि में मानवाधिकार के परिभाषित एवं अपरिभाषित मापदण्ड परम्पराओं का रूप धारण कर लेते हैं। न्याय, सामाजिक परम्पराओं तथा मानवाधिकारों की संयुक्त अभिव्यक्ति मात्र है परन्तु कानून

* भारतीय पुलिस सेवा, हरियाणा संवर्ग, महानिरीक्षक, हरियाणा सरकार
** एडवोकेट, पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय

और मानवाधिकारों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है। न्याय भौगोलिक तथा सामाजिक जंजीरों में जकड़ा एक यन्त्र है जबकि मानवाधिकार सभ्यता और राष्ट्र की सीमाओं के परे एक सार्वभौम सत्य है। मानवाधिकार रहित संस्कृति और न्याय की परिकल्पना करना सार्थक नहीं हो सकता। यह विचित्र विडम्बना है कि प्रत्येक संस्कृति और न्याय का आधार मानवाधिकार होते हुए भी मानवाधिकारों की वैधानिक अवधारणा बीसवीं शताब्दी में ही मूर्तरूप ले सकी।

मानवाधिकार शास्त्रीय और समकालीन मानवीय विचारधारा द्वारा सभ्यता और संस्कृति को दिए गए सबसे महत्वपूर्ण उपहार हैं। प्रत्येक समाज की हर पीढ़ी में मानवाधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने और उन्हें बढ़ावा देने का संघर्ष निरन्तर चलता रहा है। नए अधिकार पुराने अधिकारों के गर्भ से जन्म लेते हैं। प्रत्येक स्थान पर मनुष्य की अन्तर्भूत आध्यात्मिक और भौतिक आवश्यकताएं होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए उसके पास प्राकृतिक और निर्विघ्न अधिकार होते हैं। इन अधिकारों के बिना कोई भी मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। राज्य और समाज दोनों ने ही इन अधिकारों को व्यापक रूप से स्वीकार किया है और मान्यता भी प्रदान की है। 'हाब्स' के अनुसार प्रत्येक कानून को प्रभुता सम्पन्न राज्य ही पवित्रता प्रदान कर सकता है।

समाज का आधार उसकी साझी नैतिकता होती है। नैतिकता सम्पूर्ण विचार नहीं है। 'मिल्स' के अनुसार 'जहाँ भी कोई वर्ग प्रबल होता है, वहाँ उस देश की नैतिकता उस वर्ग के हितों और उस वर्ग की श्रेष्ठता की वर्ग–भावना को देखते हुए ही उपजती है।' जब हम मानवाधिकार की बात करते हैं तो इसका अर्थ होता है वे अधिकार मानव जाति के उस वर्ग के अधिकार जो प्रबल वर्ग के हितों से प्रभावित होते हैं। अतः नैतिकता और मानवाधिकार दो अलग–अलग अवधारणाएं हैं। मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो हमारी प्रकृति में निहित हैं और जिनके अभाव में हम मनुष्यों की तरह नहीं जी सकते और अपनी आध्यात्मिक तथा अन्य सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। इनका आधार मनुष्य की उस आकांक्षा में निहित है जो ऐसे जीवन की चाह रखती है जहां मनुष्य को सुरक्षा और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। मानवाधिकार कानून के शासन और मानवीय प्रतिष्ठा को बढ़ावा देने की सभ्य समाज की इच्छा शक्ति को प्रतिबिम्बित करते हैं। मानवाधिकारों को कभी–कभी मूलभूत अधिकारों या प्राकृतिक अधिकारों की संज्ञा भी दी जाती है। मूलभूत अधिकार संविधान प्रदत्त होते हैं तथा उन्हें विधायिका अथवा सरकारी कानून नहीं छीन सकते। प्राकृतिक अधिकार ऐसे कानून और रीतियों के समूह हैं जो पूरे देश पर लागू होते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय कानून के अनुसार मानवाधिकार व्यक्तिगत कानूनी अधिकार और स्वतंत्रताएं हैं जो राज्य या सरकार द्वारा किसी व्यक्ति विशेष के विरुद्ध अमानवीय कार्रवाई का विरोध करते हैं। ये अधिकार अविभाज्य हैं। जिसका अर्थ है 'कोई मनुष्य इन अधिकारों

को स्वेच्छा से न तो त्याग सकता है, न किसी व्यक्ति को समर्पित कर सकता है और न ही उन्हें किसी अन्य स्थान पर स्थानान्तरित कर सकता है या बेच सकता है' । मानवता मनुष्य की साझी है और समानता एवं स्वतंत्रता इस साझ की शक्ति है। मानवाधिकार अमानवीय दमन और शोषण के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष के नैतिक बल के प्रतीक हैं। जैसे–जैसे मानव विकसित होता है और जागरूक होता हैं वैसे–वैसे वह अपने अधिकारों के बारे में भी सचेत होता है। मानवाधिकारों की विचारधारा का भी विस्तार हो रहा है और अब इसमें केवल परम्परागत नागरिक और राजनैतिक अधिकार ही शामिल नहीं हैं बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार भी शामिल हैं। सामुदायिक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्ति से न होकर समूहों के विकास से होता है। शान्ति के अधिकार और स्वच्छ वातावरण के अधिकार को भी मानवाधिकारों में शामिल किया गया है।

डॉ0 नागेन्द्र सिंह के अनुसार मानवाधिकारों के चार दृष्टिकोण होते हैं : पहला– राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्योंकि उनकी उत्पत्ति राष्ट्रीय दायरे में ही होती है। दूसरा– अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण, यह पहले जैसा ही गहन है। मानवाधिकारों को अलग–अलग डिब्बों में न तो बन्द किया जा सकता है और न ही उन्हें राष्ट्रीय सीमाओं तक सीमित रखा जा सकता है। तीसरे प्रकार के मानवाधिकार वे हैं जो मनुष्यों को शान्तिकाल में प्राप्त होते हैं। चौथे प्रकार का सम्बन्ध युद्धकालीन मानवीय अधिकारों से है। विकास के अधिकार के बिना मानवाधिकार का विचार अधूरा है। वे विधिशास्त्री, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं, यदि मानव के विकास को अनदेखा कर देते हैं, तो उनका चिन्तन सतही और खोखला है।

समानता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाएंगी यदि प्राकृतिक संसाधनों का सम्यक् वितरण न किया जाए। मार्क्सवाद के अनुसार मानवाधिकार भौतिक द्वन्द्ववाद की सार्वभौम परिणति है। मार्क्स के अनुसार मानवाधिकारों को प्राकृतिक दर्शन की पृष्ठभूमि में देखना न तो यथार्थवादी है न ही ऐतिहासिक रूप में तर्कसंगत। मार्क्सवादी विचारधारा मानवाधिकारों को प्राकृतिक या अविभाज्य मानने के लिए तैयार नहीं है। उसका मत है कि जब तक पूंजीपति उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रखते हैं तब तक व्यक्तिगत अधिकार एक छलावा है। कानून, न्याय, नैतिकता, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता आदि मात्र ऐतिहासिक श्रेणियां है जिनमें लोगों के जीवन की भौतिक शर्तें और उनकी सामाजिक परिस्थितियां उनके सही स्थान का निर्धारण करती हैं। इसके विपरीत पूंजीवादी समाज में उत्पादन पर कुछ लोगों का नियन्त्रण होता है और इसलिए वह समाज व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। सच तो यह है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकार समाज की आर्थिक, सामाजिक प्रक्रिया एक निरंतर संघर्ष है जो कुछ लोगों के उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और अधिकार के कारण उत्पन्न होता है। मार्क्स के अनुसार और साम्यवादी साहित्य में मानव अधिकार व्यक्ति के न होकर सामूहिक होते हैं। पूंजीवादी समाज में मानवाधिकार की परिभाषा और रूपरेखा भिन्न होती है। पूंजीवादी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा, लाभ, विरासत या उत्पादन के साधनों का स्वामित्व को स्वीकार्यता प्राप्त

है। इसलिए राज्य और कानून को इन अधिकारों के प्रयोग में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

मानवाधिकारों का विकास पूरब और पश्चिम की पृष्ठभूमि में अलग–अलग हुआ है। मानवाधिकार का पाश्चात्य स्वरूप अधिकार प्रधान है, जबकि पूरब में यह कर्तव्य प्रधान है। किन्तु दोनों परिवेशों में इसकी उत्पत्ति का माध्यम एक ही है। पूरे विश्व में मानवाधिकारों की उत्पत्ति धार्मिक शिक्षा से हुई है और इसकी प्रगति भी धर्म के विकास के साथ जुड़ी रही। पश्चिम में गिरजाघरों के पादरियों ने एक लम्बे समय तक राजनैतिक और सामाजिक वातावरण पर अपना दबदबा रखा। हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम धर्म का विकास पूरबी विश्व में हुआ जहां कर्तव्य प्रधान मानवाधिकारों का विकास हुआ। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है – मैंने अपनी अनपढ़ किन्तु बुद्धिमान माँ से सीखा कि उचित प्रकार से कर्तव्य निभाने के पश्चात् ही यथोचित् अधिकार प्राप्त होते हैं। इसलिए हमें जीने का अधिकार भी तभी मिलता है, जब हम विश्व की नागरिकता का कर्तव्य निभाते हैं। जो अधिकार ऐसे नहीं हैं, वे अधिकार चेष्टाएं हैं।" पूरबी दर्शन में, बिना किसी हिचकिचाहट के प्रत्येक मनुष्य के कुछ कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं और उसकी ही नहीं समूचे समाज की बेहतरी इस बात पर निर्भर करती है कि वह उन कर्तव्यों का अपेक्षित ढंग से निर्वहन करे। पूरब के सभी धर्मों में अधिकार का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस पृष्ठभूमि में मानवाधिकारों के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। प्राकृतिक कानून 'सर्वोपरि कानून' हैं। राज्य यदि इन कानूनों के विपरीत निर्णय लेते हैं तो वे सत्ता का दुरूपयोग करते हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार समाज मनुष्य का घर है और कानून, अनुशासन और न्याय सदाबहार उद्यम। कोई भी क्रिया प्रतिक्रिया को जन्म देती है। इसी प्रकार शोषण और निरंकुश शासन विद्रोह और क्रान्तियों को जन्म देता है। इस मामले में बौद्ध धर्म का मार्क्सवाद के साथ सीधा सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद उदारवाद की तरह शून्य में उत्पन्न नहीं हुआ है। बौद्ध धर्म का मानव अधिकार के प्रति योगदान में अशोक एक महान व्यक्तित्व हैं। उन्होंने यह महसूस किया कि वास्तविक विजय बल द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती और उसे पाने के लिए केवल सत्य और न्याय ही हथियार है। अशोक के जीवन ने यह सिद्ध किया कि मानव अधिकार की रक्षा करते हुए एक प्रबुद्ध शासक अहिंसा और प्रेमभाव से शासन कर सकता है।

इस्लाम धर्म के अनुसार मानव अधिकार विशिष्ट गुण है और मनुष्य प्रकृति का सबसे पूर्ण प्राणी। मानव अधिकार का भव्य संसार मनुष्य की इसी प्रतिष्ठा पर आधारित है। अदब–अर–रहमान–अब्न–अनीफ को सलाह देते हुए पैगम्बर ने कहा, "कभी भी किसी से विश्वासघात या द्रोह मत करो और न ही किसी का अंग भंग करो, न किसी बच्चे अथवा स्त्री की हत्या करो। यह खुदा और उसके पैगम्बर के बीच तुम्हारे दिशा निर्देश के लिए एक समझौता है।" इस्लाम धर्म में मनुष्य की सांसारिक और आध्यात्मिक क्रियाएं एक ही नाम पर आधारित हैं इसलिए इस्लामी कानून में कोई घोषणा पत्र या

कन्वेन्शन नहीं है। इस्लाम मनुष्य को उसके सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वरूप में देखता है। इस्लाम के अनुसार सम्पन्न लोगों को कम भाग्यशाली लोगों के प्रति न्याय और उदारता का भाव रखना चाहिए। पवित्र कुरान के अनुसार मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है और सार्वभौम संवेदना का मूर्त रूप। कुरान में कई जगह लिखा है कि ब्रह्माण्ड में भगवान के कई अंश हैं और वे मनुष्य में भी विद्यमान हैं। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य में दैविकशक्ति विद्यमान है। इस्लाम की एक विशेषता यह है कि वह बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करता है। मनुष्य दोनों का मिश्रण है। इस्लाम धर्म भी है और धर्म निरपेक्ष भी, वह विश्वास भी है और कानून भी, वह सार्वजनिक जीवन भी है और निजी जीवन भी। इस्लाम के अनुसार मनुष्य में अंतर्भूत प्रतिष्ठा है जिसे मानव अधिकार के सार्वभौम घोषणा पत्र को बनाने वालों ने विवेक ओर अन्तरात्मा का नाम दिया है। आठवीं शताब्दी के इस्लाम दर्शन के मुल्तजी लाइट्स नामक अनुयायी ने जिस दर्शन को बढ़ावा दिया वह सार्वभौम घोषणा पत्र से बहुत मिलता–जुलता है जिसमें अन्तरात्मा विवेक का आधार है। विवेक मनुष्य की स्वच्छन्दता को नियंत्रित करता है। इसके आधार पर वह मानव जाति के क्रियाकलापों की विवेचना करता है।

मानवाधिकार भारतीय मनीषा के किसी न किसी प्रकार से अंग रहे हैं। चाहे वेद हों या उपनिषद या अन्य काव्य ग्रन्थ, यह सत्य प्रत्येक भारतीय ग्रन्थ में एक सरसरी नज़र से ही दिखाई दे जाता है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य एक है, विद्वान इसका अलग–अलग प्रकार से वर्णन करते हैं। ऐसे कथनों द्वारा भारत में विभिन्न प्रथाएं, धर्म और सत्य के मार्ग के प्रति आदर भाव व्यक्त होता है। भारत में 'सर्व धर्म समभाव' एक मार्गदर्शी सिद्धान्त है और भारतीय धार्मिक ग्रंथों में उच्च मानवीय मूल्यों को स्थान दिया गया है। 'आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' अर्थात् श्रेष्ठ और सकारात्मक प्रभाव सब दिशाओं से आने दो। पृथ्वी सूक्त में समन्वय और पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी मात्र के लाभ की बात की गई है। ऋग्वेद में एक ऐसे प्रबुद्ध समाज की बात की गई है जिसमें मनुष्य की समानता, प्रतिष्ठा, भाइचारे और सभी के सुख प्राप्ति के प्रयासों की स्वीकृति है : 'अजेस्तसा अकनिस्तासा ऐते, सम भ्रातारों वा वृधुहु सौभाग्या।' हिन्दू दर्शन के अनुसार संसार में एकता के लक्ष्य को अहिंसा द्वारा ही प्राप्त किया जाता है और यही बात पूरब के बौद्ध, जैन और समकालीन धर्मो ने कही है।

मानवाधिकार किसी कानून द्वारा नहीं बनाए जाते, ये स्वतः ही प्राकृतिक अधिकारों का स्थान ले लेते हैं। हर सभ्य देश और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे संगठन को यह पहचान लेना चाहिए। इन अधिकारों पर संशोधन की प्रक्रिया भी लागू नहीं होती। कानून के अनुसार इन अधिकारों की रक्षा करने का अर्थ यह भी होता है कि उनका आदर किया जाए। पूर्व पुलिस अधिकारी प्रकाश सिंह के अनुसार, "अन्तरराष्ट्रीय समाज को इस बात से सचेत रहना होगा कि कहीं मानवाधिकारों को एक हथियार बनाकर अपने राजनैतिक विरोधियों को परेशान न किया जाए या फिर इनकी आड़ में किसी सार्वभौम सत्ता सम्पन्न देश के आन्तरिक मामलों में दखल न दिया जाए। मानवाधिकार की शक्ति कूटनीति

खेलने का साधन नहीं बननी चाहिए। यह एक वास्तविक खतरा है क्योंकि अधिकांश अन्तरराष्ट्रीय संगठनों में महाशक्तियों की विचारधारा ही हावी रहती है।"

कुछ एशियाई देश एक अलग प्रकार की अवधारणा की बात कर रहे हैं। मानवाधिकारों पर श्वेत पत्र में चीन ने अपने मार्क्सवादी रुख को स्पष्ट करते हुए लिखा, "किसी भी देश या राष्ट्र के लिए सबसे महत्वपूर्ण अधिकार है जीवित रहने का जिसके बिना अन्य अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।" इक्कीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी चुनौती होगी कि मानवाधिकारों की एशियाई विचारधारा का अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकारों की विचारधारा के साथ किस प्रकार तालमेल बैठाया जाए।

विश्व के विभिन्न भागों में मानवाधिकारों के विभिन्न अर्थ हैं। यद्यपि सभी में मूल बात यह है कि लोगों की स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा को किस प्रकार सुरक्षित रखा जा सके। प्रारम्भ में यह कठिनाई अवश्य हुई कि समस्त विश्व समुदाय को मानवाधिकारों के एक पैमाने पर किस प्रकार लाया जाए। मानवाधिकार के मामले में किसी ऐसे कानून को नहीं बनाया जा सकता, जो पूरे संसार में लागू हो, क्योंकि प्रत्येक देश के नागरिक अपने सामान्य अधिकारों का उपभोग अपने–अपने संविधान संबंधी विचारधारा के अनुरूप ही करते हैं। इस मामले में अन्तरराष्ट्रीय कानून भी कुछ नहीं कर सकता क्योंकि सम्प्रभुता का सिद्धान्त ऐसा है, जिसके कारण कोई व्यक्ति किसी अन्तरराष्ट्रीय कानून के अधीन नहीं हो सकता। मानवाधिकार की विचारधारा का अर्थ श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए सकारात्मक सोच, इसे पाने के लिए प्रयत्नशील रहना, क्षेत्रीय और सांस्कृतिक विभिन्नताओं को स्थान देना और ऐसे विषय जिनका सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता और मानव प्रतिष्ठा से हो, पर निरन्तर संवाद करते रहना है। प्रभावशाली देश यदि मानवाधिकार पर एकाधिकार करने का प्रयास करें तो उन प्रयासों को प्रारम्भ में ही निष्क्रिय करना होगा। लक्ष्य की प्राप्ति तभी होगी जब समस्त विश्व में एक जैसे मानदण्ड वाले मानवाधिकार लागू हों।

यदि मानवाधिकारों को उनके ऐतिहासिक और सामाजिक सन्दर्भ से अलग कर दिया जाए तो उन्हें समझना कठिन है। इसमें कोई संशय नहीं कि इंग्लैण्ड का मैग्ना कार्टा (1215), अमेरिका का बिल आफ राइट्स (1791) और 1789 के फ्रैंच डिक्लरेशन ऑफ मैन एण्ड सिटीजन उनके अपने समाज की देन हैं। किंग जॉन ने अपने सामन्तों को सन्तुष्ट किया, थॉमस जैफरसन स्वयं दासों के स्वामी थे और फ्रैंच डिक्लरेशन ऑफ राइट्स ऑफ मैन एण्ड सिटीजन महिलाओं पर लागू नहीं होती थी और न ही उनकी दासता को समाप्त किया। यद्यपि ये तीनों घटनाएं समाजों के इतिहास में विकास को दर्शानेवाली और मानवाधिकारों के इतिहास में महत्वपूर्ण थीं। मानवाधिकार कोई पाश्चात्य खोज नहीं है और न ही इन मूल स्वतंत्रताओं का प्रारम्भ 1215 के मैग्ना कार्टा, फ्रैंच अथवा अमेरिकी घोषणा पत्रों से अठाहरवीं शताब्दी में होता है। सभी मानवीय समाजों में मानवाधिकारों की अवधारणा होती है और यह उनके इतिहास में मूर्त रूप में दिखाई

भी देती हैं। परम्परागत संस्कृतियां व्यक्ति को आत्मशासित नहीं मानते थे और न ही यह मानते थे कि उनके ऐसे अधिकार हैं जो समाज के दायरे से बाहर हों। व्यक्ति एक बड़े समाज का अंश था जिसमें उसकी भूमिका और जगह निर्धारित थी। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय समाज में ही व्यक्ति के अविभाज्य अधिकारों की अवधारणा सामने आई। किसी समाज की मानवाधिकार की सोच सर्वत्र स्वीकार्य परिकल्पना से भिन्न हो सकती है। फिर भी मानवाधिकारों को हम इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं कि उन्हें सर्वत्र समझा जा सके।

राज्य व्यक्ति के जीवन को तो नियन्त्रित कर सकता है परन्तु मनुष्य के स्थान को नियन्त्रित नहीं कर सकता। वह हर नियन्त्रण जो मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों एवं विचारों की स्वतंत्रता को काबू में करने का प्रयास करे उसका निरीक्षण बहुत सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इसके साथ ही कोई भी अधिकार दूसरों की कीमत पर नहीं प्राप्त किया जा सकता। मानव अधिकारों की रूपरेखा उसके कर्तव्यों द्वारा पूरित की जानी चाहिए। यह देखा गया है कि समाज का उच्च वर्ग अपने अधिकारों और निम्न वर्ग के कर्तव्यों के प्रति तो सचेत रहता है किन्तु वह अन्य लोगों के मानवीय अधिकारों को भूल जाता है। जब तक समाज शोषण से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता तब तक मानव अधिकार समाज के शोषित वर्ग के लिए एक मजाक हैं। समस्त संसार में दो तरह के शोषण हैं – आर्थिक और राजनैतिक। किन्तु भारत में मनुस्मृति द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में शोषण की अनुमति दी गई है। शोषण के कारण सामाजिक व्यवस्था असंतुलित बन गई है। अधिकार समान वर्ग में ही प्रभावी होते हैं। असमान लोगों के समाज में मानवाधिकार की रक्षा एक जटिल समस्या है। यदि हम असमानता को बढ़ावा देते रहेंगे तो मानवाधिकारों की सुरक्षा स्वयं को धोखा देने की बात होगी।

संदर्भ

1. उपेन्द्र बक्शी, इनह्यूमन रांग एण्ड ह्यूमन राईट्स, 1994, हर–आनन्द पब्लिकेशन, नई दिल्ली
2. मौसिज मोस्कोविज, इण्टरनेशनल कन्सर्न विद् ह्यूमन राईट्स 1973
3. एस. कृष्णामूर्ति, ह्यूमन राईट्स एण्ड दि इण्डियन पुलिस 1994, आर. आर. पब्लिसर्स, बेंगलौर।
4. एस. के. कपूर एण्ड नागेन्द्र सिंह, इण्टरनेशनल लॉ, सेन्ट्रल लॉ एजेंसी, 1998 इलाहाबाद।
5. डॉ0 दीपा सिंह एवं के. पी. सिंह, मानवाधिकार एवं पुलिस तंत्र 2002, दि ब्राइट लॉ हाऊस, चांदनी चौक, दिल्ली।
6. सुब्रह्मण्यम्, ह्यूमन राईट्स एण्ड पुलिस एसोसिएशन फॉर एडवांसमैंट ऑफ पुलिस एण्ड सिक्योरिटी साइंसिज, 1998 हैदराबाद।

7. के. पी. सक्सेना, ह्यूमन राईट्स–प्रस्पेक्टिव एण्ड चैलेंजिज, 1994 इन्स्टीट्यूट फॉर वर्ल्ड कांग्रेस ऑन ह्यूमन राईट्स, नई दिल्ली।

8. जस्टिस वी. आर. कृष्णा अय्यर, ह्यूमन राईट्स–ए जजिज मिसलेनी, 1995, बी. बार. पब्लिसिंग कारपोरेशन, दिल्ली।

9. टी.एस. बत्रा, ह्यूमन राईट्स–ए क्रिटिक, 1979, मैट्रोपोलिटन बुक कम्पनी, नई दिल्ली।

10. आर. वी. कुमार एण्ड बी. पी. शर्मा– ह्यूमन राईट्स एण्ड दि इण्डियन आर्म्ड फोरसिज, 1998–स्ट्रेलिंग पब्लिसर्ज, नई दिल्ली।

11. एस.एन. ध्यानी, फण्डामेंटल्स ऑफ ज्यूरिसप्रूडेंस, सेन्ट्रल लॉ एजेंसी, इलाहाबाद।

12. बी. पी. सिंह सेहगल– ह्यूमन राईट्स इन इंडिया, ह्यूमन राईट्स इन दि बुद्धिस्ट परस्पेक्टिव, 1995, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

13. एम. जी. चितकारा– ह्यूमन राईट्स–कॉमिटमैंट एण्ड बेटरायल, 1996, ए.पी. एच. पब्लिसिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली।

14. बी. एन. मलिक, ए फिलॉसफी ऑफ पुलिस, एलाईड पब्लिसर्स, नई दिल्ली।

पर्यावरण – एक मानवाधिकार

* डॉ० के. एस. द्विवेदी

पर्यावरण–प्रदूषण समस्त मानव जाति के लिए गंभीर खतरा है। इससे मनुष्य के मूलभूत अधिकार अर्थात् जीवन के अधिकार का हनन होता है। प्रकृति के असंतुलित और अविवेकपूर्ण दोहन से पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुंची है जिसका सीधा परिणाम है – वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण। यह अनेक बीमारियों की जड़ है तथा शारीरिक एवं मानसिक विकृतियों का कारण भी। इस भूमंडल में स्वस्थ जीवन जीना व्यक्ति का सर्वोच्च मानवाधिकार है। पर्यावरण–प्रदूषण के कारण हो रहे इस अधिकार–हनन को रोका जाना अत्यंत आवश्यक है। इस दिशा में राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई प्रयास भी हुए हैं। भारतीय चिंतन–परंपरा में स्वच्छ पर्यावरण की बात हमेशा से की जाती रही है। आज जरूरत इस बात की है कि इस प्राणघातक प्रदूषण को नियंत्रित करने और उससे निपटने के लिए पुरजोर प्रयास किए जाएं वरना यह हमें ही नहीं बल्कि आगे आने वाली पीढ़ियों को भी निगल जाएगा।

मानवाधिकार का संबंध उन परिस्थितियों से है जो मनुष्य को उसकी स्वाभाविक नियति तक पहुँचने के लिए अनिवार्य हैं तथा जिनमें उसके व्यक्तित्व के सभी आयाम अपने पूर्ण रूप में विकसित होते हैं। मानवाधिकार का केंद्र बिंदु मनुष्य है, अतः सर्वोत्कृष्ट मानवाधिकार व्यक्ति की प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता है। जीवन मानव का मूलभूत अधिकार है परंतु जीवन का तात्पर्य केवल पशु स्तर का अस्तित्व नहीं है। अमेरिका के न्यायमूर्ति फील्ड ने कहा था कि जीवन शब्द में मात्र पशु स्तर के अस्तित्व से कुछ अधिक निहित है। इसमें मनुष्य के सभी अंग और शारीरिक–मानसिक क्षमताएं भी शामिल हैं, जिनसे जीवन का सुख भोगा जाता है। भारतीय न्यायपालिका ने संविधान के अनुच्छेद 21 की व्याख्या करते हुए जीवन के अधिकार में परंपरा, संस्कृति और विरासत; शिक्षा के अधिकार; आजीविका के अधिकार; प्रदूषण रहित जल एवं वायु के अधिकार तथा संतुलित पर्यावरण के अधिकार को भी सम्मिलित माना है।

* भारतीय पुलिस सेवा, बिहार संवर्ग, सम्प्रति, उपमहानिरीक्षक, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)

पहले यह बात विचित्र सी लग सकती थी कि पर्यावरण–प्रदूषण मानवाधिकार हनन से संबंधित हो सकता है किंतु अब अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण प्रदूषण को मानव जीवन के लिए गंभीर खतरा माना जा चुका है और वैश्विक स्तर पर इससे उबरने के प्रयास किए जा रहे हैं। इसलिए जब पर्यावरण–विसंगति मानव जीवन के लिए ही घातक है तो उसे मानवाधिकार–हनन से संबंधित मानने में कोई संदेह नहीं रह जाता क्योंकि जीवन का अधिकार सर्वोच्च मानवाधिकार है।

पर्यावरण–प्रदूषण

पर्यावरण की संकल्पना अत्यंत व्यापक है। साधारण तौर पर हम इसे अपने आसपास के परिवेश एवं वातावरण से संबंधित समझते हैं, किंतु वस्तुतः पर्यावरण में वह संपूर्ण भौतिक एवं जैविक व्यवस्था सन्निहित है जिसके अवयव स्थल मंडल, जल मंडल, वायु मंडल तथा जीव मंडल हैं तथा जिसके अंतर्गत जीवधारियों का स्वाभाविक विकास होता है। पर्यावरण में सामाजिक परिवेश का भी समावेश है किंतु "पारिस्थितिकी" के अंतर्गत वे परिस्थितियां आती हैं जिनसे पर्यावरण का भौतिक एवं जैविक संतुलन प्रभावित होता है, अतः यहाँ पर्यावरण से तात्पर्य उपर्युक्त भौतिक तथा जैविक मंडल से ही है।

मानव जीवन पारिस्थितिक संतुलन तथा पर्यावरण के गुणस्तर पर निर्भर करता है। पारिस्थितिक संतुलन सभी जीवधारियों की उत्तरजीविता के लिए अनिवार्य है। अतः जीवन का अधिकार पर्यावरण संतुलन के अधिकार का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यदि किसी परिस्थिति या क्रिया–कलाप से पर्यावरण का प्राकृतिक–संतुलन प्रभावित होता है तो वह मानव जाति के विरुद्ध जीवन के अधिकार का हनन है और उसे मानवाधिकार–हनन के रूप में लिया जाना चाहिए। मानव–विकास का इतिहास प्रकृति के नियंत्रण और दोहन में समाहित है। प्राकृतिक संसाधनों का संतुलित तथा विवेकपूर्ण दोहन एवं उपयोग मानवजाति की प्रगति का पर्याय है तो असुंलित तथा अविवेकपूर्ण दोहन विनाश का कारण बन सकता है। पर्यावरण का प्राकृतिक स्वरूप प्रकृति है। प्रकृति में प्राकृतिक व्यवस्था के अंतर्गत परिवर्तन से पर्यावरण के भौतिक और प्राकृतिक तत्वों के प्रभाव तथा उपयोग से मनुष्य के आर्थिक एवं सामाजिक पर्यावरण निर्मित होते हैं। जैव विकास के सिद्धांत की दृष्टि से देखें तो मनुष्य सहित संपूर्ण जीव–जगत पर्यावरण की ही उपज है तथा उनका वर्तमान और भविष्य भी पर्यावरण पर निर्भर रहता है। अन्य प्राणियों की तुलना में पर्यावरण के संदर्भ में मनुष्य की भूमिका विशिष्ट है क्योंकि एक ओर तो वह दूसरे प्राणियों की भांति पर्यावरण की उपज है तो दूसरी ओर पर्यावरण का नियंत्रक या संचालक भी। वह पर्यावरण को समृद्ध करने की बौद्धिक क्षमता तो रखता ही है, जाने–अनजाने उसके विनाश के उपाय भी करता रहता है, भले ही वैसा करना उसके लिए आत्मघाती हो।

पर्यावरण के अवयवों का आपस में अन्योन्याश्रित संबंध है। प्रकृति–दोहन की मानवीय क्रियाओं से पर्यावरण के कारकों में असंतुलित परिवर्तन हो रहा है जिसका

स्वाभाविक रूप से समायोजन या परिमार्जन संभव नहीं है। फलतः पर्यावरण में हानिकारक अवशिष्ट उत्पन्न होते हैं जिससे पृथ्वी, जल, वायु आदि दूषित हो जाते हैं। इस प्रकार पर्यावरण प्रदूषित होता जाता है और प्राणि मात्र को घातक ढंग से प्रभावित करता है। प्रदूषणों को उत्पन्न करने वाले तत्वों को प्रदूषक कहते हैं। प्रदूषक प्राकृतिक या मानव निर्मित हो सकते हैं। प्रायः प्राकृतिक प्रदूषकों के कुप्रभावों का प्रबंध प्रकृति स्वयं कर लेती है परंतु मानव–निर्मित प्रदूषकों को निष्क्रिय करने की क्षमता उसमें कम होती है। अतः प्रदूषण मुख्य रूप से मनुष्य के कृत्यों से उत्पन्न होता है। पर्यावरण के प्रदूषकों का माध्यम विशेष रूप से वायु, जल या स्थल होता है।

वायु प्रदूषण में वायु संघटक तत्वों की गुणवत्ता में ह्रास हो जाता है। ओज़ोन परत की अल्पता, हरित गैसों की सांद्रता का बढ़ जाना आदि इसके मुख्य उदाहरण हैं। जल प्रदूषण में सागरीय जल, नदियों तथा तालाबों का जल एवं भूमिगत जल का प्रदूषण आता है। मरुस्थलीकरण, मृदा–प्रदूषण तथा लवणीकरण स्थलीय प्रदूषण के मुख्य उदाहरण हैं। प्रदूषण के मानवीय कारणों के मुख्य स्रोत हैं:– औद्योगिक स्रोत तथा जनसंख्या स्रोत। औद्योगिक स्त्रोत से गैसीय प्रदूषक, ठोस प्रदूषक, हानिकारक रासायनिक प्रदूषक, रसायन मिश्रित अपशिष्ट जल तथा ऊष्मा प्रदूषक निःसृत होते हैं। असंतुलित तथा प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा दोहन, खनन एवं वनों की कटाई भी पर्यावरण असंतुलन का एक मुख्य कारण है। कृषि प्रदूषकों में कीटनाशी, शाकनाशी एवं रोगनाशी रसायन, रासायनिक खाद, मशीन तथा यंत्र, रेडियोएक्टिव तत्व तथा कूड़ा–कचरा आदि प्रमुख हैं। जनसंख्या स्रोत से सीवेज–जल, गंदगी, कूड़ा, वाहनों से निःसृत गैस–मुख्य रूप से कार्बनडाइआक्साइड तथा कार्बन मोनोआक्साइड और मशीनों, वातानुकूलन यंत्रों से निःसृत गैसें तथा ध्वनि प्रदूषक उत्पन्न होते हैं। जल, वायु, भू तथा ध्वनि–प्रदूषण से होने वाले नुकसानों से हम सभी परिचित हैं।

प्रदूषण के कारण, कारक, स्रोत, परिणाम, प्रकार या उपचार में से प्रत्येक का विषय–क्षेत्र काफी विस्तृत है तथा प्रत्येक अपने आप में शोध का विषय हो सकता है। यहां हम उनसे संबंधित मुख्य बिंदुओं का उल्लेख कर सकते हैं।

जल जीवन का आधार है। जल के बिना जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। विश्वस्तर पर वर्तमान काल में जल प्रदूषण की भीषण समस्या है। घरेलू गंदगी तथा वहिः स्राव, वाहित मल, सीवर लाइनें, जिटजैंट के अपशिष्ट, औद्योगिक अपशिष्ट, उर्वरक रसायन, कीटनाशक जैसे कृषि अपशिष्ट, औद्योगिक संयंत्रों को ठंडा करने के लिए जल का उपयोग करने से तापीय प्रदूषण, खनिज तैलीय प्रदूषण तथा रेडियोधर्मी अपशिष्ट जल प्रदूषण के मुख्य स्रोत है। प्रदूषित जल जैव–जगत के लिए अत्यंत हानिकारक है। प्राणी मात्र की जैविक वृद्धि में प्रदूषित जल अवरोध उत्पन्न करता है। अतिसार, तपेदिक, लकवा, चर्मरोग, अंधापन तथा पीलिया जैसी बीमारियों का कारण जल–प्रदूषण हो सकता है। पानी में लोराइड की अधिकता के कारण रीढ़ की हड्डी तथा अन्य हड्डियां भी टेढ़ी एवं कमजोर हो सकती हैं। भारत सहित अन्य विकासशील देश इन समस्याओं

से सर्वाधिक ग्रसित हैं जहाँ आबादी के एक बड़े भाग को शुद्ध पेय जल उपलब्ध नहीं है।

वायु भी एक जीवनी–तत्व है किंतु औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी गतिविधियों के क्रम में निःसृत अपशिष्ट पदार्थों ने वायु को प्रदूषित कर दिया है। घरेलू तापन, ईंधन, पेट्रोलियम पदार्थों के जलने से निकली गैसें, मशीन तथा कारखानों, यानों से निःसृत गैसें, खदानों से निकलने वाले कणिकीय प्रदूषक तथा नाभिकीय रेडियो एक्टिव तत्व मुख्य वायु प्रदूषक है। वायु प्रदूषण का दृश्यता, सूर्य की तपन, वर्षा की मात्रा तथा अम्ल वर्षा पर प्रभाव पड़ता है, जो मौसम, ओज़ोन–परत, ग्रीन हाउस गैस तथा जीव–जंतुओं में जैदिक क्रियाओं, वनस्पति एवं मानव स्वास्थ्य को कुप्रभावित करता है। वायु–प्रदूषण आर्थिक विकास तथा औद्योगिक एवं नगरीय विस्तार की उपज है। भू–प्रदूषण का मुख्य कारण–नगरीय, औद्योगिक, कृषि, खनन तथा घरेलू अपशिष्ट हैं। नगरीय तथा घरेलू अपशिष्ट में कूड़ा–कर्कट, मल–मूत्र, डिटर्जेंट, सड़े–गले वानस्पतिक पदार्थ, मृत जानवर तथा अन्य प्रकार के कचरे होते हैं जिनके उचित ढंग से निस्तारण न होने के कारण कई प्रकार की बीमारियों के जीवाणु/विषाणु उत्पन्न होते हैं तथा मिट्टी की उर्वरता पर भी बुरा प्रभाव डालते हैं। कृषि अपशिष्ट भी सुरक्षित निस्तारण के अभाव में ऐसी ही समस्या को जन्म देते हैं। औद्योगिक तथा खनन अपशिष्ट के रूप में विषैले, अम्लीय तथा क्षारीय रसायन भूमि की उर्वरा शक्ति को क्षीण या समाप्त कर देते हैं।

भूमि से खनिजों का खनन भी कई प्रकार से पर्यावरण को प्रभावित करता है। खानों में सबसे बड़ा प्रदूषक धूल होती है जो श्वास के माध्यम से खानों में काम करने वाले श्रमिकों को तो क्षति पहुंचाती ही है, खनन क्षेत्र के आसपास के नागरिकों को भी बुरी तरह प्रभावित करती है। खानों में धूल के कणों की सांद्रता 7000 कण प्रति घन से0 मी0 तक पाई जाती है। खानों से विषाक्त गैसों का स्राव भी होता है जिससे श्वास के माध्यम से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

उच्च तीव्रता वाली ध्वनि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के लिए जब अवांछनीय एवं कष्टकारी हो जाती है तो वह ध्वनि–प्रदूषण की श्रेणी में आ जाती है। सामान्य बातचीत में ध्वनि की माप लगभग 60 डेसिबेल रहती है। 30 डेसिबेल की ध्वनि फुसफुसाहट में होती है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 30 डेसिबेल तक मनुष्य सो सकता है। उसके बाद उसकी नींद में व्यवधान का खतरा है। मोटर वाहन की ध्वनि लगभग 90 डेसिबेल की होती है। मनुष्य औसतन 75 डेसिबल तक की ध्वनि सहन कर सकता है। इससे अधिक को शोर की श्रेणी में रखा जा सकता है। 90–95 डेसिबेल वाली ध्वनि से मनुष्य का नाड़ी तंत्र प्रभावित होने लगता है और उससे उच्चतर तीव्रता घातक होती जाती है। शहरों में अधिक यातायात वाले मार्गों पर ध्वनि स्तर 90 डेसिबल से 100 डेसिबल रहता है। ध्वनि–प्रदूषण का सामान्य कुप्रभाव चिड़चिड़ापन तथा अनिद्रा हो सकता है, परंतु 100 डेसिबल से अधिक तीव्रता होने पर श्रवण–शक्ति का ह्रास और 150 डेसिबल से अधिक तीव्रता पर ध्वनि प्रदूषण प्राणघातक हो सकता है। ध्वनि प्रदूषण के

परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिक, तंत्रिका–तंत्र संबंधी, हारमोनल–असंतुलन, मांस–पेशियों में खिंचाव, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप, आंतों के रोग शिर–शूल, अस्थिरता तथा गर्भवती महिलाओं में चिंता और उनके गर्भस्थ शिशुओं में जन्मजात विकृतियां आदि प्रभाव भी हो सकते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण के उपरोक्त दृष्टांत बहुत स्थूल उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसी दशाएं या परिस्थितियां हो सकती हैं जिनसे पर्यावरण के संघटक तत्वों का संतुलन अवांछनीय रूप से परिवर्तित होकर हानिकारक हो जाए। भारत के पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986 की धारा 2 (ख) के अनुसार पर्यावरण प्रदूषण से अभिप्राय ऐसे ठोस, द्रव्य या गैसीय पदार्थों है जो ऐसी सांद्रता में विद्यमान है जो पर्यावरण के लिए क्षतिकर हो सकता है या जिसका क्षतिकर होना संभाव्य है। इसी अधिनियम की धारा 2 (क) में पर्यावरण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि पर्यावरण के अंतर्गत जल, वायु और भूमि है और वह अंतर संबंध है जो जलवायु और भूमि, मानवों, अन्य जीवित प्राणियों, पदार्थों और सूक्ष्म जीव तथा संपत्ति के बीच विद्यमान है। इस प्रकार पर्यावरण में जल, वायु और भूमि तथा पर्यावरण के संघटकों के प्राणि जगत एवं वनस्पति जगत से अंतर–संबंधों का समावेश है। अतः कोई भी ऐसी परिस्थिति जो इन संघटकों या जैव–जगत से उनके अंतर–संबंधों को अवांछनीय ढंग से परिवर्तित करती है तो उसे पर्यावरण–प्रदूषण माना जाएगा।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि मानव–विकास का संपूर्ण इतिहास प्रकृति के दोहन और उपयोग की कहानी है। तद्नुरूप मानव–जाति सभ्यता के विकास के साथ–साथ प्रकृति के अधिकाधिक दोहन की तरकीबों की खोज करती रही। वैज्ञानिक–अविष्कार औद्योगीकरण, नगरीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति इसके परिणाम हुए। मनुष्य आदि काल से ही प्रकृति के महत्व से परिचित था, किंतु प्रकृति को हानि पहुँचाने के कुपरिणामों की चेतना उसे बहुत बाद में आई। प्रदूषण की विभीषिका के रूप में बाढ़, सूखा, भूस्खलन, रेगिस्तानों का विस्तार, भूमि की उर्वरता में कमी, जल एवं वायु प्रदूषण, ओज़ोन की परत का क्षरण, वर्षा का असंतुलन और प्रदूषण से उत्पन्न होने वाली जानलेवा बीमारियों ने स्वयं पर्यावरण की विसंगतियों की चेतावनी दे दी है। आज पर्यावरण–प्रदूषण संपूर्ण मानव–जाति के लिए खतरा बन गया है।

अंतरराष्ट्रीय प्रयास

1948 में संयुक्त राष्ट्र ने प्रकृति संरक्षण के अंतरराष्ट्रीय संघ (आई.यू.सी.एन.) की स्थापना की जिसे अब प्रकृति और प्राकृतिक साधनों के संरक्षण का अन्तरराष्ट्रीय संघ कहते हैं। पर्यावरण संबंधी नीति निर्धारण और प्रशासन इसका कार्यक्षेत्र है। इस संघ ने विश्व स्वास्थ्य संगठन, खाद्य और कृषि संगठन तथा वैज्ञानिक संघों की अंतरराष्ट्रीय परिषद के सहयोग से 1968 में पेरिस में जीवमंडल सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन में जो नीतियाँ तय हुई थी उन पर 1972 में स्टाकहोम में आयोजित "मानव

पर्यावरण सम्मेलन" में विचार किया गया। स्टॉकहोम सम्मेलन में 113 देशों के प्रतिनिधियों तथा 400 गैर–सरकारी संस्थाओं ने भाग लिया था। यह निश्चय किया गया कि पर्यावरण संरक्षण के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जाने चाहिए। इस अवसर पर पर्यावरण संरक्षण की विश्व–नीति भी बनाई गई एवं राष्ट्रीय सरकारों और अंतरराष्ट्रीय संगठनों के लिए 109 सूत्री सिफारिशें तथा 26 सिद्धांत अंगीकृत किए गए। इस सम्मेलन की खास बात यह थी कि पहली बार यह महसूस किया गया कि आर्थिक विकास पर्यावरण के ह्रास के रूप में प्रतिफलित हो रहा है। सम्मेलन के बाद सरकारों ने "संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम" (यू.एन.ई.पी.) की स्थापना की जो आज भी विश्वस्तर पर पर्यावरण संरक्षण के उत्प्रेरक के रूप में कार्यरत है।

1983 में संयुक्त राष्ट्र ने जब "पर्यावरण और विकास के विश्व आयोग" (डब्ल्यू. सी.ई.डी.) की स्थापना की तब यह महसूस किया गया कि पर्यावरणीय ह्रास जिसे औद्योगिक विकास का सीमित नुकसान वाला दुष्प्रभाव माना जा रहा था। वह विकासशील देशों के अस्तित्व पर खतरा बन गया है। अतः आयोग ने विकास की वैकल्पिक पद्धति के रूप में 'चिरजीवी–विकास' की अवधारणा प्रस्तुत की। चिरजीवी विकास पद्धति का तात्पर्य था कि हम अपनी आवश्यकताएं इस ढंग से पूरी करें जिससे आने वाली पीढ़ियों की आवश्यकता पूर्ति संबंधी क्षमता एवं अधिकार का हनन न हो। संयुक्त राष्ट्र ने आयोग के प्रतिवेदन पर विचारोपरांत "पर्यावरण एवं विकास" विषय पर शिखर सम्मेलन कराने का निर्णय लिया। यहाँ पर मैं रस्किन की वे पंक्तियां उद्धृत करना समीचीन समझता हूँ जिनमें उन्होंने कहा था कि "ईश्वर ने हमें यह धरती उधार दी है। यह धरती जितनी हमारी है उतनी ही उनकी भी, जो हमारे बाद इस पर आने वाले हैं। यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने कार्यों द्वारा आगामी पीढ़ियों को इसके लाभों से वंचित न होने दें।"

1972 के प्रथम भूमंडलीय पर्यावरण सम्मेलन, स्टाकहोम के बीस साल बाद जून 1992 में ब्राजील की राजधानी रियो–डि–जेनेरो में संयुक्त राष्ट्र ने पर्यावरण और विकास सम्मेलन आयोजित किया जिसे "पृथ्वी शिखर सम्मेलन" के नाम से जाना जाता है। इन बीस वर्षों में पर्यावरण की स्थिति में काफी गिरावट आई। वायु प्रदूषण का स्तर कई गुणा बढ़ गया था। ताप बढ़ाने वाली गैसों के उत्सर्जन से भी वायुमंडलीय परिवर्तन हो रहे थे। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से ओज़ोन परत क्षीण हुई और सूर्य की पराबैंगनी किरणों से जीव–जन्तु प्रभावित होने लगे। इस दौरान पृथ्वी से लगभग 50 करोड़ एकड़ वन क्षेत्र का सफाया हो गया तथा लगभग 50 करोड़ टन उपजाऊ कृषि–मृदा का क्षरण हुआ। समुद्री तथा धरातलीय जल का औद्योगिक कचरे से भीषण प्रदूषण हुआ जिसके परिणामस्वरूप अनेक वनस्पतियों एवं जंतुओं की प्रजातियाँ विलुप्त हो गईं। 1992 का यह सम्मेलन कई मायनों में अभूतपूर्व था। इस सम्मेलन में 178 से अधिक राष्ट्राध्यक्षों तथा शासनाध्यक्षों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों और कलाकारों ने भी भाग लिया। सम्मेलन का मूल संदेश था कि हमारी मनोवृत्ति में परिवर्तन के बिना

पर्यावरण सुधार संभव नहीं है। इस संदेश में विकसित और विकासशील देशों की समस्याओं का अंतर सन्निहित था। विकसित देश पर्यावरण के गुणस्तर गिरने से चिंतित तो थे परंतु अपने औद्योगिक विकास को कम करने को तैयार न थे जिसका कुपरिणाम पूरी मानव–जाति को भोगना पड़ रहा है। विकासशील देश चाहते थे कि विकसित देशों के असंतुलित शोषण से पर्यावरण प्रदूषित हुआ है, अतः प्रदूषण दूर करने और पर्यावरण संतुलित करने का खर्च उन्हीं को उठाना चाहिए। तथापि पर्यावरण–प्रदूषण को मानवता के लिए गंभीर खतरा मानते हुए रियो सम्मेलन में विकास की परंपरागत प्रक्रिया में परिवर्तन को लक्ष्य में रखकर तीन मुख्य अभिलेख अंगीकृत किए गए। प्रथमतः अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चिरस्थायी विकास का क्रियान्वयन कार्यक्रम एजेन्डा–21 तैयार किया गया। द्वितीय, पर्यावरण एवं विकास पर रियो घोषणा–पत्र जारी किया गया जिसमें राष्ट्रों के अधिकार और कर्तव्यों का विवेचन करने वाले कई सिद्धांत सन्निहित हैं। तृतीय, वनों के चिरस्थायी प्रबंधन के सिद्धांत प्रकाशित किए गए। इसके अतिरिक्त विधिक रूप से बाध्यकारी दस्तावेज के रूप में जैविक विविधता तथा "जलवायु" पर दो संधियों के प्रारूप हस्ताक्षर के लिए रखे गए।

रियो घोषणा–पत्र की भूमिका इस संदर्भ में सुस्पष्ट एवं महत्वपूर्ण है जिसमें वैश्विक स्तर पर न्यायपूर्ण भागीदारी और सहयोग के आधार पर विकास तंत्र और पर्यावरण के सरंक्षण का लक्ष्य रखा गया। रियो घोषणा–पत्र इस धारणा पर आधारित है कि पृथ्वी का प्रत्येक खण्ड उसका अक्षुण्ण हिस्सा है तथा उनमें पारस्परिक निर्भरता का तत्व विद्यमान है। इस क्रम में अगली कड़ी सितंबर, 2002 की "चिरस्थायी विकास पर जोहान्सवर्ग घोषणा" है जिसमें वैश्विक पर्यावरण एवं प्रदूषण पर प्रकाश डाला गया। इसके अतिरिक्त भी अनेक समझौते, संधियां तथा प्रसंविदाएं हैं जो पर्यावरण संरक्षण और सुधार को समर्पित हैं। इन अंतरराष्ट्रीय संधियों और समझौतों की सफलता विवादास्पद हो सकती है, किंतु इतना निर्विवाद सत्य है कि पर्यावरण प्रदूषण को अब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जानलेवा मान लिया गया है और हर राष्ट्र में इसके निराकरण की दिशा में कुछ न कुछ कार्य किए जा रहे हैं।

भारतीय दृष्टिकोण

इस ज्वलंत विषय पर भारतीय दृष्टिकोण और भूमिका पर प्रकाश डालना भी जरूरी है। इस दृष्टि से वेदों में प्रकृति को देवता के रूप में मान्यता देना और पर्यावरण की महत्ता को स्वीकार किया जाना महत्वपूर्ण है। यजुर्वेद के .... "अग्निर्देवता, वातो देवता, सूर्यो देवता, चन्द्रमा देवता, वसवो देवता, बृहस्पतिर्देवता, रुद्र देवता आदित्यामरुतो देवता विश्व–देवा देवता, बृहस्पतिर्देवतेन्द्र देवता, वरुणो देवता" से लेकर शुक्ल यजुर्वेद के ..... ओम् द्यौः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वम् शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः साम सा शान्ति रेधि" तक में पृथ्वी तथा उसके घटकों के संतुलन में ही मानव कल्याण तथा सुख शांति की हमारे मनीषियों ने कल्पना की है।

"आदित्यो ह वै प्राणः" (प्रश्नोपनिषद)
"वायु है वै प्राणो भूत्वा शरीरमाविशत" (प्रश्नोपनिषद)
"शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु" (अथर्ववेद)
"माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्याः" (अथर्ववेद)

उपर्युक्त में सृष्टि के अवयव सूर्य (अग्नि), वायु जल तथा क्षिति की कृपा की याचना की गई है। वृक्षों का मानव जाति पर उपकार का स्मरण दिलाते हुए उनकी वंदना करते हुए कहा गया है :-

धन्ते भरं कुसुम पत्रफलावलीनां धर्मव्यथां
वहहि शीत भवा रूपजश्च, यो देहमर्पयति

चान्य सुरवस्य हेतोस्तस्मै वदन्य गुरवे तरवे नमोस्तु। – (भामिनी विलास) तथा पुत्र से बढ़कर वृक्ष को महत्व दिया गया है :-

दशकूप समावापी, दशवापी समोह्रदः
दश ह्रद समः पुत्रो, दश पुत्र समो दुमः। (मत्स्य पुराण)

छान्दोग्य उपनिषद में पृथ्वी, जल, औषध, वायु तथा पुरुष (चेतना) को प्रकृति का घटक कहा गया है और उनकी शुद्धता तथा संतुलन से रस (आनंद) की उपलब्धि बताई गई है :-

एष्मं भूतानार पृथिवी रसः।
पृथिव्या आपो रसः।
अपामोषध्यो रसः।
औषधीनां पुरुषो रसः।

उच्च पर्यावरण संधारण के साथ–साथ भारतीय मनीषी प्रदूषण के प्रति भी सतर्क हैं और उसकी वर्जना करते हैं :-

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्टोवनं समुत्सृजेत।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितां वा विषाणि वा। (मनु–स्मृति 4–

अर्थात् जल में मल, मूल, थूक अथवा दूषित पदार्थ रक्त या विष का विसर्जन नहीं करना चाहिए।

ऐतिहासिक काल में वनस्पतियों, वृक्षों तथा विभिन्न प्राणियों की पूजा के प्रमाण सिंधु सभ्यता के समय से ही प्राप्त हुए हैं। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में अभयारण्यों की स्थापना और उनके संरक्षण का प्रावधान था तथा वन की क्षति या प्राणियों की हत्या करने पर दंड दिया जाता था। सम्राट अशोक ने पशु–पक्षियों को न मारने के संबंध में नियमों का शिलालेख पर उल्लेख कराया। परवर्ती शासन व्यवस्था में ऐसी परंपरा का आग्रह रहा किंतु दृढ़तापूर्वक उसका पालन न हो सका। उस युग में मशीनरी का

प्रचलन तो न था इसलिए प्रदूषण की उतनी गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं हुई किंतु जंगलों की कटाई तथा पशु–पक्षियों का वध होता रहा। अंग्रेजों के आने के बाद जंगलों की बेतहाशा कटाई हुई तथा वन्य जीवों का शिकार बेरोक–टोक हुआ। जब वन्य जीव और वनों को काफी क्षति हो चुकी तब 1855 में चार्टर ऑफ इंडिया एक्ट के रूप में वन संरक्षण नीति बनाई गई। 1864 में डिट्रिच ब्रौडिस को भारत का पहला "इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ फारेस्ट" बनाया गया। वे 1881 तक अपने पद पर रहे। अपने कार्यकाल में उन्होंने भारत में वन विभाग का विकास किया, अतः उन्हें भारतीय वन विभाग का जन्मदाता कहा जाता है। सन् 1878 में पहला वन अधिनियम बना जिसमें आरक्षित वन में पशु–वध पर रोक लगाई गई। इसके बाद वन तथा वन्य प्राणियों की सुरक्षा हेतु और भी छिटपुट उपाय किए गए किंतु उनमें लुप्तप्राय जीवों और अभयारण्यों के संरक्षण की भावना ही थी न कि पर्यावरण संरक्षण की।

स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरांत हमारे देश में पर्यावरण संरक्षण की चेतना का उदय 1972 के स्टाकहोम सम्मेलन के बाद हुआ। उसी के बाद सरकारी स्तर पर पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रम चलाए गए। केंद्र सरकार ने पर्यावरण नियोजन एवं समन्वय कार्यक्रम की स्थापना की जो बाद में पर्यावरण मंत्रालय के रूप में विकसित हुआ। 1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से नीति–निदेशक सिद्धांतों में एक नया अनुच्छेद 48 (क) जोड़ा गया जिसके अनुसार "राज्य का यह कर्तव्य होगा कि पर्यावरण को बनाए रखे, उसे सुधारे और देश के वनों एवं वन्य जीवन की रक्षा करे।"

इसी संवैधानिक संशोधन से भारतीय संविधान में जोड़े गए मौलिक कर्तव्यों के अध्याय में सन्निहित किया गया कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह वनों, झीलों, नदियों एवं वन्य जीव सहित समस्त प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करे तथा उसे बेहतर बनाए और सभी जीवधारियों के प्रति करुणा भाव रखे। सन् 1992 के रियो पृथ्वी शिखर सम्मेलन में भारत की महत्वपूर्ण भागीदारी रही। इस सम्मेलन के द्वारा कई सरकारी एवं गैर–सरकारी संस्थान पर्यावरण शिक्षा हेतु स्थापित किए गए। विश्वविद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा प्रारंभ की गई और राज्य स्तर पर पर्यावरण प्रकोष्ठ बनाए गए। किंतु अब भी सामान्य भारतीय जन–मानस में पर्यावरण संरक्षण की चेतना का पर्याप्त संचार नहीं हो सका है और हमारा देश पर्यावरण असंतुलन की समस्या से जूझ रहा है। अतः पर्यावरण संरक्षण के प्रति और जागरूकता बढ़ाने की आवश्यकता है।

पर्यावरण–प्रदूषण से बचाव तथा उन्मूलन के विश्वस्तरीय प्रयासों के कदम से कदम मिलाते हुए भारतीय विधि–विधान तथा न्यायपालिका ने भी सराहनीय योगदान किया है। लंदन कन्वेन्शन आन प्रिजर्वेशन आफ फौना एंड फ्लोरा, 1933 तथा रोम इंटरनेशनल प्लांट प्रोटेक्शन कन्वेन्शन, 1951 की स्वीकृति के परिणामस्वरूप इन विषयों पर विधि निर्मित करना भारतीय विधायिका के लिए आवश्यक था। संविधान के अनुच्छेद 253 के अंतर्गत संसद को इन विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्रदत्त है।

अब यह निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है कि पर्यावरण का मानवाधिकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में परिभाषित जीवन के अधिकार का अभिन्न अंग है। अनुच्छेद 21 के अतिरिक्त पर्यावरण संरक्षण के संबंध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 48 (क), 51 (क), 243 (छ) तथा 243 (डब्ल्यू) भारतीय दंड विधान की धारा 268 से 272, 277, 278, 284, 286 से 290 एवं दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 133 तथा 144 में महत्वपूर्ण प्रावधान किए गए हैं। पर्यावरण संरक्षण और संतुलन स्थापित करने के लिए कई अन्य कानून, अधिनियम एवं नियम निर्मित किए हैं जिनमें पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986, वायु प्रदूषण निरोध एवं नियंत्रण अधिनियम 1981, जल प्रदूषण निरोध एवं नियंत्रण अधिनियम 1975, भारतीय वन अधिनियम 1927, वन संरक्षण अधिनियम 1980, राष्ट्रीय वन नीति 1988, वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम 1972, पब्लिक लायबिलिटी इन्श्योरेन्स ऐक्ट 1991, फैक्टरी अधिनियम 1948 तथा इनसे संबंधित नियम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इन सबके बावजूद हम प्रतिदिन पर्यावरण प्रदूषण की विभीषिका का सामना कर रहे हैं। पर्यावरण संतुलन की दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। पर्यावरण प्रदूषण का मुख्य कारण औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के अतिरिक्त हमारे देश की सामाजिक आर्थिक परिस्थितियां है। पर्यावरण संतुलन के प्रयासों को और प्रभावी बनाने के लिए जनसाधारण को इसके प्रति जागरूक तथा शिक्षित करने, पर्यावरण संरक्षण के वैज्ञानिक तथा तकनीकी उपाय और वैकल्पिक प्रबंधन की आवश्यकता है। जब प्रत्येक व्यक्ति पर्यावरण संरक्षण को अपने कर्त्तव्य के रूप में समझने और पालन करने की स्थिति में होगा तभी पर्यावरण की मानवाधिकार के रूप में पूर्ण उपलब्धि हो सकेगी। तभी यजुर्वेद के ऋषि की यह वाणी चरितार्थ होगी :–

> हे पृथ्वी। तुम रत्न धन की खान और कृषि कर्म संपादन करने वाली हो।
> मुझे इच्छित ऐश्वर्य दो और मेरी रक्षा करो। हे द्यावा पृथ्वी। तुम विपुल
> अन्न वाली और प्रभूत गौओं वाली हो और मेरी सुरक्षा करो।
>
> ––– यजुर्वेद 5/9, 16

मानव अधिकार और राज्य के सरोकार : भारतीय अनुभव

* प्रो0 अरुण चतुर्वेदी

मानव अधिकारों की विवेचना में राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताएं ही नहीं बल्कि सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से वे सुविधाएं और अवसर भी महत्वपूर्ण हैं जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए नितांत आवश्यक हैं। इस संबंध में विकसित और विकासशील देशों के संदर्भ और परिप्रेक्ष्य अलग–अलग हैं। विकासशील देशों में अभावों और वंचनाओं के प्रश्न ही केंद्र में हैं तथा वहां मानव अधिकार का संपूर्ण दर्शन इन्हीं के इर्द–गिर्द है। सर्वाधिकारवादी, अहस्तक्षेपवादी, लोक कल्याणकारी, विकासवादी, समाजवादी, बाजार हितैषी आदि राज्यों की संकल्पनाएं विभिन्न सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों की ही देन हैं। इन सभी स्वरूपों में राज्य की भूमिका और प्राथमिकताएं अलग–अलग हैं। भारतीय संदर्भ में लोक कल्याणकारी राज्य के तहत राजनीतिक एवं नागरिक स्वतंत्रताओं के साथ सामाजिक आर्थिक न्याय के लिए भी संवैधानिक व्यवस्था की गई है। इसके लिए भारतीय राज्य को 'प्रभावी हस्तक्षेप' की भूमिका दी गई लेकिन 1991 के बाद से यहां बाजार, भूमंडलीकरण और अहस्तक्षेप की नीतियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

वर्तमान समय में मानव अधिकारों का संवाद राजनैतिक विमर्श का मुख्य केंद्र है। इसमें दो पक्ष तो बहुत ही स्पष्ट हैं। पहला पक्ष उन देशों का है जो विकसित हैं और उनका आग्रह उन सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं को लेकर है जहाँ व्यक्ति के अधिकारों, विशेषकर स्वतंत्रताओं की अवहेलना है। उनके लिए लोकतंत्र और स्वतंत्रता विशेषकर व्यक्ति के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैसे उनकी अपनी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी कई अभाव हैं तथा राज्य और राजनैतिक संस्थाओं की कोई स्पष्ट भूमिका नहीं है और न ही व्यक्ति के अधिकारों के बारे में कोई साफ घोषणाएं है। दूसरी ओर

* आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एवम् समन्वयक, मानव अधिकार अध्ययन केन्द्र, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज0)

विकासशील देशों में अभावों और वंचनाओं का अंबार है और यदि मुक्ति का कोई प्रभावी साधन है तो वह राज्य ही है। यदि राज्य हस्तक्षेप नहीं करता है तो नागरिक स्वतंत्रताएं लगभग समाप्त हो जाती हैं। किंतु इन राज्यों में मुख्य समस्या स्वतंत्रता, लोकतंत्र आदि की नहीं वरन अभावों और वंचनाओं से लड़ने की रह जाती है।

मानव अधिकार की संकल्पना

'मानव अधिकार' के सैद्धांतिक पक्ष के अंतर्गत हम अपनी चर्चा का आरंभ मानव अधिकारों की उस व्याख्या से कर सकते हैं जहाँ व्यक्ति की उन स्थितियों की घोषणाएं हैं जो उसके जीवन के लिए ही नहीं वरन् उसके सर्वांगीण विकास के लिए भी अनिवार्य है। यह मानव अधिकारों की व्यापक व्याख्या है जिसमें उसके जीवन के अधिकारों से जुड़े प्रश्न तो हैं ही, साथ में उन आवश्यकताओं का उल्लेख भी है जो उसके विकास के लिए आवश्यक है। इनमें स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं सम्मिलित हैं।

इस विमर्श में उस चर्चा को उठाना अनुचित नहीं होगा जहाँ मानव अधिकार के प्रश्न को केवल राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताओं के साथ जोड़कर देखा जाता है। यदि इन अधिकारों की स्थापना ही मानव अधिकारों की स्थापना मान ली जाए तो मानव अधिकारों का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जाएगा। राजनीतिक स्वतंत्रता के महत्व को कम नहीं किया जाए तब भी प्रश्न यह उठता है कि उन समाजों में मानव अधिकारों की वास्तविकता कैसी होगी जहाँ नागरिकों को जीवन की मूलभूत सुविधाएं ही उपलब्ध नहीं हैं। जहाँ शिक्षा का, स्वास्थ्य का, जीवन–यापन का और स्वयं जीवन की सुरक्षा का अर्थ नहीं हो वहाँ राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताओं की व्याख्या बहुत ही सतही नजर आती है। वैसे मानव अधिकार के आधुनिक विमर्श में व्यक्ति के उन सभी अधिकारों को जोड़ा गया है जो उसे अच्छा जीवन जीने के तथा राजनीतिक एवं नागरिक स्वतंत्रताओं के अवसर प्रदान करते हैं। मानव अधिकारों का यह व्यापक स्वरूप दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् विकसित हुआ है।

दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् 1948 का मानव अधिकार घोषणा पत्र; आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की घोषणा तथा नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अभिसमय प्रमुख हैं। ये सारे अंतरराष्ट्रीय घोषणा पत्र एक मानक मानव अधिकारों की स्थापना करते हैं। जिनके माध्यम से यह तो जाँच की जा सकती है कि वे कौन से राज्य हैं जहाँ ये अधिकार उपलब्ध हैं और उनका कितना पालन हो रहा है। ये एक तरफ से आकलन का आधार भी हैं, किंतु यह प्रश्न तो हमेशा ही रहेगा कि आकलन कौन कर रहा है और आकलन किस के लिए किया जा रहा है। मानव अधिकारों की चर्चा में ही कुछ प्रश्न बार–बार उभर कर सामने आते हैं, इनमें उन सब लोगों की चिंताएं ज्यादा गहरी हैं जो ये मानते हैं कि मानव अधिकारों के प्रश्न तो आंतरिक हैं किंतु उनकी स्थापना के प्रयास बाह्य प्रभावों के माध्यम से भी हो सकते हैं। बाह्य प्रभावों

के माध्यम से होने वाले प्रयासों को कई विश्लेषक आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप मानते हैं और उस स्थिति में मानव अधिकारों का सारा प्रश्न 'हस्तक्षेप' का प्रश्न बन जाता है। विशेषकर विकासशील राष्ट्रों का कहना है कि मानव अधिकार के प्रश्नों को उठाकर उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जा रहा है। विकासशील राज्यों की स्थिति बहुत ही दुविधापूर्ण है। यहां राज्य की स्थिति बहुत ही कमजोर है और उसे मजबूत करने के लिए नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लंघन इन राज्यों में सामान्य बात है। कुछ स्थितियों में तो राज्य आंतरिक विद्रोह को दबाने के लिए भी मानव अधिकारों का पालन नहीं करता है। ऐसे में अंतरराष्ट्रीय संगठनों का हस्तक्षेप राज्यों की स्थिति को और कमजोर कर देता है लगता यही है कि मानव अधिकारों के प्रश्न हस्तक्षेप को बढ़ावा दे सकते हैं किंतु ये नागरिकों को राज्य की निरंकुशता से बचा सकने की स्थिति में तो हैं ही।

मानव अधिकारों के प्रश्न को सूचना–क्रांति के संदर्भ में देखना भी गलत नहीं है। वर्तमान युग को सूचना–क्रांति का युग कहकर संबोधित किया जाता है जिसमें सभी सूचनाएं बहुत तेजी के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती हैं और राज्य सरकारों के लिए यह संभव नहीं है कि वे किसी भी प्रकार की सूचना को लंबे समय तक छुपा सकें। सूचना का तेजी से आदान–प्रदान मूलतः उन विकासशील राज्यों की परेशानी बढ़ा रहे है जहाँ अभावों का अंबार लगा है। अभाव हर तरह के हैं। पानी का अभाव है, अन्न का अभाव है, स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव है और उन अभावों की सूचना केवल आकड़ों में ही नहीं है वरन् वह तो अब सचित्र सूचना है जो करुणा, रोष और राजनीतिक प्रभाव एक साथ उत्पन्न करती हैं। इन चित्रों का प्रसारण प्रभावी से प्रभावी राज्य के प्रबंधकों को विचलित कर देता है। हाल ही में इराक में सद्दाम प्रशासन के पतन के पश्चात् बगदाद और इराक के अन्य नगरों में लूटपाट के दृश्य वहाँ अमेरिकी गठबंधन प्रशासन को यह कहने के लिए तो बाध्य करते हैं कि कोई उन्हें बदनाम करने के लिए यह सब कर रहा है। वैसे इराकी नगरों में हुई व्यापक बमबारी, दवाइयों का अभाव, पानी की कमी, मानव अधिकारों से जुड़े समूहों के लिए चिन्ता का विषय है।

मानव अधिकारों की स्थिति का विमर्श उन राजनीतिक परिकल्पनाओं में कैसा होगा जबकि हम यह घोषणा कर रहे हैं कि विश्व एक गाँव बन गया है। यह घोषणा तो प्रमुख रूप से आवागमन और संपर्क सूत्रों के विस्तार का ही परिणाम है। इस वैश्विक गांव में प्रत्येक इकाई का एक–दूसरे से पूरी तरह से परिचय है। यह व्यवस्था उन लोगों के लिए तो है जिनके पास सुविधाएं हैं, साधन हैं और दक्षताएं हैं, किंतु ये सब स्थितियाँ तो विश्व के अधिकतर राज्यों के पास नहीं हैं। ये राज्य तो अभावों और उपेक्षाओं में ही रहे हैं। ऐसे 'विश्व ग्राम' में सुविधा संपन्न समूह (राज्यों) का ही विस्तार होगा। इस 'विश्व ग्राम' में बाजार पर रोक नहीं है। रोक यदि किसी पर है तो वह श्रम के आवगमन पर है। सूचनाओं की प्रचुर उपलब्धता और श्रम साधनों पर प्रतिबंध मूलतः उन्हीं विकासशील समाजों पर नियंत्रण है, जहाँ श्रम ही उनकी संपत्ति है और उसकी उपलब्धता

ही उन समाजों की विशिष्टता है। ऐसी स्थिति में मानव अधिकारों का सारा विमर्श और भी जटिल हो जाता है।

राज्य की भूमिका

मानव अधिकार के विमर्श का एक महत्वपूर्ण हिस्सा राज्य भी है क्योंकि पश्चिम के राजनीतिक विमर्श में राज्य मानव अधिकार के समीकरण की उल्लेखनीय कड़ी है जो उदारवादी विचार परंपरा में व्यक्ति के अस्तित्व और अधिकारों के संरक्षण के लिए एक मुख्य संस्थाएं है। मानव अधिकार का प्रश्न सीधे तौर पर व्यक्ति की चेतना से जुड़ा हुआ है। व्यक्ति की विकसित चेतना का परिणाम ही वह सजग राजनीतिक व्यक्ति है जो अपनी स्वतंत्रताओं के संदर्भ में अपने अधिकारों को देखता है और यह माँग करता है कि उसकी स्वतंत्रताओं का विस्तार से न केवल विवरण हो वरन् ऐसी व्यवस्थाएं भी हों जो उन्हें सुरक्षित रख सकें। ऐसे ही संदर्भ में सामाजिक न्याय से जुड़े प्रश्न भी मानव अधिकार के विमर्श में महत्वपूर्ण हो गए हैं। इसी में 'न्यायपूर्ण ' वितरण की माँग और अधिक प्रबल हो गई है। जिन समाजों में सामाजिक विषमताएं और भेदभाव व्यापक हैं वहां राज्य अधिक सक्रिय ही नहीं वरन् एक प्रभावी हस्तक्षेप की भूमिका में भी नजर आता है। भारतीय संदर्भ में यह भूमिका अधिक स्पष्ट है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य के लिए जो भूमिका निर्धारित की गई उसकी एक विशेषता सामाजिक हस्तक्षेप है। राज्य सामाजिक बराबरी के लिए कृत–संकल्प नजर आता है। राज्य ने यह भूमिका निभाई या नहीं, यह एक अलग विमर्श का हिस्सा हो सकता है किंतु राज्य की यह भूमिका नई थी और हमारे अपने संदर्भ में महत्वपूर्ण भी।

राज्य की भूमिका पर चर्चा से पहले राज्य के जो स्वरूप विकसित हुए हैं उनका ऐतिहासिक संदर्भों में सही रेखांकन आवश्यक है। राज्य के इस विकास क्रम को प्रदीप के. खण्डेलवाले ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "अपने स्वरूप और प्रकृति के आधार पर राज्य लोकतांत्रिक, अधिनायकवादी, धर्मवादी और सर्वाधिकारवादी है जो मूलतः नागरिकों और शासन तंत्र के बीच आपसी संबंधों की व्याख्या करते हैं"। 19वीं शताब्दी में राज्य के स्वरूपों में ज्यादा स्थिरता आई। इस दृष्टि से तीन आधारभूत स्वरूपों का उल्लेख किया जा सकता है लोकतांत्रिक राज्य, सामंतवादी राज्य और औपनिवेशिक राज्य। सामंतवादी और औपनिवेशिक राज्यों का तो अंत हो गया किंतु लोकतांत्रिक राज्य में भी लगातार उतार–चढ़ाव आते रहे है। इससे यूरोप भी अछूता नहीं रहा है। 20वीं शताब्दी में राज्य के कई नए स्वरूपों का विकास हुआ है। इनमें मुख्य हैं: सर्वाधिकारवादी राज्य, अहस्तक्षेपवादी राज्य, लोक कल्याणकारी राज्य, विकासवादी राज्य, समाजवादी राज्य, पुनः व्याख्यायित व्यावहारिक राज्य, बाजार मित्र मानवीय चेहरे युक्त राज्य और अंतरराष्ट्रीय राज्य...अपने कई तनावों–जटिलताओं के होते हुए राज्यों के स्वरूपों में अस्थिरता आई है।

अहस्तक्षेपवादी राज्य की भूमिका केवल कानून और व्यवस्था संबंधी विषयों तक

ही सीमित थी और राज्य का आदर्श न्यूनतम कार्यों का था। न्यूनतम कार्यों के पश्चात् व्यक्ति की स्वतंत्रताओं का क्षेत्र आरंभ होता था जिसमें शिक्षा, धर्म तथा अन्य सभी संबंधित क्षेत्रों में प्रबंधन का कार्य व्यक्ति के ही अधिकार क्षेत्र में थे। समाज की व्यवस्थाओं में और समाज के नियमन में राज्य का हस्तक्षेप नहीं के बराबर था। ऐसे में व्यक्ति के विकास के संपूर्ण अवसर व्यक्ति के ही हाथ में थे।

लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य व्यक्ति के संपूर्ण विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है और उसी के साथ आरंभ होता है राज्य की गतिविधियों में वृद्धि का ऐसा दौर जो राज्य को सर्वव्यापी बनाता है। यदि राज्य सर्वव्यापी होगा तो व्यक्ति के क्रियाकलापों में उसका हस्तक्षेप भी बढ़ेगा। राज्य और व्यक्ति की टकराहट के क्षेत्र भी इसी दौर में विकसित होते हैं। इस राज्य की परिकल्पना औद्योगिक क्रांति की पृष्ठभूमि में हुई जहाँ बढ़ते हुए अंतरालों के कारण राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता थी, किंतु विकासशील समाजों में लोक कल्याणकारी राज्य तक राजनीतिक आवश्यकता है जो समाज में बढ़ती विषमताओं को रोकने के लिए एक अपरिहार्य है। लोक कल्याणकारी राज्य वंचनाओं से मुक्ति के लिए एक प्रभावशाली माध्यम तो था ही राज्य के हस्तक्षेपवादी स्वरूप की चर्चा उन विकासशील समाजों में (जिनके विश्लेषण के लिये हम 'तीसरी दुनिया' का प्रयोग भी कर सकते हैं, वैसे 1990–91 के पश्चात् तीसरी दुनिया के शाब्दिक प्रयोग में कमी आई है) अधिक हुआ है जहाँ राज्य सामाजिक, आर्थिक और विकास संबंधी गतिविधियों में लगातार प्रभावी हस्तक्षेप कर रहा था। अपनी इन गतिविधियों के कारण वह लगातार शक्ति–संपन्न भी होता जा रहा था। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण और वितरण को नियमित करने के आग्रह ने राज्य की सामाजिक और आर्थिक भूमिका को निरंतर बदला है। राज्य के हस्तक्षेप से सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय दोनों की ही स्थापना में विशेष सहयोग मिला है। हस्तक्षेपवादी राज्य की परिकल्पना में भारतीय राज्य–व्यवस्था का आकलन गलत नहीं होगा जहाँ हमने अपने सामाजिक बदलाव, सामाजिक न्याय और विकास के लाभों के लिए राज्य की व्यवस्थाओं का उपयोग किया है।

बाजार के प्रति मैत्रीपूर्ण राज्य की परिकल्पना में राज्य उन तत्वों को बढ़ावा देता हुआ नजर आता है जो बाजार के अधिक अनुकूल हैं और वित्तीय संस्थानों के लिए भी राज्य का यह उपयोग बढ़ते हुए अंतरराष्ट्रीय हस्तक्षेप का प्रभाव हैं। विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष वर्तमान में राज्य को एक नई भूमिका से जोड़ रहे हैं। 1980 के दशक में विकासशील देशों से इस शर्त को स्वीकार करवा लिया कि सार्वजनिक प्रबंधन उन देशों के लिए बहुत उपयुक्त नहीं है। मुक्त व्यापार, जहाँ नियमों और नियंत्रणों का बाहुल्य न हो, वह भी राज्यों के लिए अधिक उपयोगी रहेगा। कर–दरों में कमी और कर–चोरी रोकने के प्रभावी तरीके तथा विदेशी निवेश का प्रोत्साहन ही इस परिकल्पना का मुख्य आधार था। राज्य की इस परिकल्पना ने विकासशील देशों की कई प्राथमिकताओं को बदला है।

राज्यों की कार्य क्षमता बढ़ाने के लिये यह तर्क लगातार दिया जाता रहा है कि बड़े व्यापार संगठनों की तरह राज्य संगठनों का प्रबंधन नहीं किया जाए जिससे सरकार की प्रबंधन क्षमता में अधिक दक्षता आए और राज्य के प्रबंधन की कीमत भी कम हो सके। अमेरिकी सरकार के प्रबंधन में ये प्रयोग किए जाने लगे। राज्य को व्यापार संगठन में बदलने और उसकी दक्षता को बढ़ाने के प्रयासों के प्रति आग्रह काफी हद तक नया था, विशेषकर उन समाजों में जहाँ राज्य और सरकारें एक परंपरागत संरक्षक की भूमिका निभा रहे थे।

मानव अधिकारों पर राज्य के सरोकारों की इस सैद्धांतिक बहस में कुछ प्रश्न स्पष्ट रूप से उभर कर आते हैं। जहाँ मानव अधिकार मूलतः राजनैतिक प्रश्न हैं, जहाँ मानव अधिकार का सीधा संबंध व्यक्ति की अभिव्यक्ति, स्वतंत्रता और राजनीतिक चेतना से जुड़ा है वहाँ राज्य के साथ उसके नए संबंधों की व्याख्या कैसी होगी। व्यक्ति से जुड़े राजनीतिक प्रश्नों के साथ जब उसके आर्थिक और प्रबंधन संबंधी प्रश्नों का आकलन किया जाए तो यह लगता है कि व्यक्ति और राज्य के संबंधों की परिभाषा प्रबंधन के सूत्रों के आधार पर ही की जाएगी। इसमें दक्षता का प्रश्न सबसे पहला होगा और इसी संदर्भ में व्यक्ति का राज्य के लिए योगदान का प्रश्न भी उठेगा। किंतु यह सारी बहस तो वहाँ होगी जहाँ प्रबंधन के श्रेष्ठ मानक होंगे, व्यापक मानव संसाधन की सुविधाओं का विकास होगा और व्यक्ति की स्वयं की दक्षता श्रेष्ठ प्रबंध परंपराओं से जुड़ी होगी। ऐसी स्थिति में राज्य के सरोकारों की बहस का रूप ही अलग होगा।

भारतीय संदर्भ

हमारे लिए मानव अधिकार और राज्य की भूमिका के बारे में बहस का आधार भारतीय संदर्भ ही हैं, जहाँ अभी मूलतः बदलाव नहीं आया है। इसमें अभावों के अथाह समुद्र हैं, व्यक्ति की वंचनाओं के अंबार हैं और उन सब के बीच हमारी प्राथमिकताओं को निर्धारित करने के क्रम में व्यस्त राजनीतिक व्यवस्थाएं और नेतृत्व हैं जिनके लिए अब भी जीवन की मूल सुविधाओं को जुटाने के लिए प्रतिबद्ध होना आवश्यक है।

भारतीय राज्य व्यवस्था लोकतांत्रिक, पंथ निरपेक्ष और समाजवादी है। हम संसदीय लोकतंत्र, द्विसदनात्मक व्यवस्था, संघात्मक ढांचे के प्रति कृत–संकल्प हैं। हमारे संविधान की मूल भावना उसकी प्रस्तावना में निहित है जो अपने नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की प्राप्ति की चर्चा करता है उन्हें विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतंत्रता भी प्रदान करता है। वह नागरिकों को अवसर और पद की समानता भी देता है और व्यक्ति को सम्मान के प्रति भी आश्वस्त करता है। वैसे मानव अधिकारों के विमर्श के लिए यह वक्तव्य पर्याप्त है। हमारा संविधान व्यक्ति को वह सब प्रदान करने की घोषणा कर रहा है जो पश्चिमी मानकों के अनुरूप मानव अधिकार के विमर्श का मुख्य हिस्सा है। हमारे संविधान के नीति निदेशक तत्व मूलतः राज्य के सरोकारों का प्रभावी वक्तव्य है जिसमें राज्य के लिए निश्चित किया

गया है कि वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करेगा जो जन कल्याण मुखी होगी, जो सब नागरिकों को जीविका प्रदान करेगी, जो न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करेगी, जो शोषण से मुक्त होगी, समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धांत की स्थापना करेगी। इसमें सभी के लिए स्वास्थ्य सुविधा की चर्चा है। बाल श्रम से मुक्ति है और सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता हैं। मानव अधिकारों के अनुरूप संवैधानिक घोषणाओं का यह समूह आकर्षक है और लंबे संघर्ष के पश्चात् स्वतंत्र हुए नव–स्थापित राज्य के लिए एक उचित, उच्च आदर्श मानदंड भी।

मानव अधिकारों की चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले भारतीय राज्य के कतिपय मानकों का एक आकलन 1950 और 1991 के मध्य के आंकड़ों से करना गलत नहीं होगा। ये हमारी कुछ प्रतिबद्धताओं को स्पष्ट भी करता है।

तलिका सं. 1

भारतीय राज्य का आकार		
केन्द्रीय कर्मचारी (दस लाख में)	2.2 (1961)	3.4 (1991)
राज्य सरकार के कर्मचारी (दस लाख में)	3.1 (1961)	7.1 (1991)
स्थानीय निकायों के कर्मचारी (दस लाख में)	1.2 (1961)	2.3 (1991)
अर्द्ध–सरकारी संगठनों के कर्मचारी (दस लाख में)	0.9 (1961)	6.2 (1991)
कुल कर्मचारी (दस लाख में)	7.3 (1961)	19.1 (1991)
भारतीय राज्य की विकास योजनाएं (1970–71 के कीमतों की आधार पर अरबों में)		
पहली योजना (1951–56)	45	
तीसरी योजना (1961–66)	130	
पांचवी योजना (1974–79)	225	
सातवीं योजना (1985–90)	540	
आठवीं योजना (1992–97)	580	

भारतीय राज्य की निवेश प्राथमिकताएँ (प्रतिशत में)	1951–56 पहली	1961–56 तीसरी	1992–97 आठवीं
कृषि	15	12.5	14.5
सिंचाई	22	8	7.5
बिजली एवं ऊर्जा	7.5	14.5	26.5
उद्योग एवं खनिज	3	20	9.5
ग्राम एवं लघु उद्योग	2	3	1.5
यातायात एवम् संचार	26.5	24.5	18.5

स्रोतः प्रदीप एन. खण्डेलवाल, रीवाईटेलाइजिन्ग दी स्टेट, पृ0 213

यहां बहस भारतीय राज्य की क्षमताओं पर नहीं बल्कि उसकी विफलताओं और उसकी क्षमताओं की वृद्धि के बीच ही होती रही है। भारतीय राज्य की विफलता के विश्लेषक यह कहते रहे कि पिछले 50 वर्षों से अधिक के कार्यकाल में हम पानी की सुविधा, शिक्षा की सुविधा, रोजगार के अवसर नहीं बढ़ा सके। हमारे यहाँ गरीबों की संख्या बहुत अधिक है और इसका मुख्य कारण हमारे राज्य की संरचना में ही निहित है। भारतीय राज्य की उपलब्धियों का उल्लेख करने वालों के लिए यह महत्वपूर्ण रहा कि लगातार तेजी से बढ़ती जनसंख्या में राज्य व्यवस्था के मूल स्वरूप की स्थापना ही अपने आप में उल्लेखनीय है। यही नहीं आधारभूत सुविधाओं के विकास के साथ–साथ शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं में बढ़ोतरी भारतीय राज्य की प्रमुख उपलब्धि रही है और परिदृश्य उतना अधिक निराशाजनक नहीं है। भारत में हुए बदलावों को 1950 / 60 और 1980 / 90 में हुए बदलावों को कुछ आंकड़ों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। इन आंकड़ों में हमारा चयन मानव अधिकारों से जुड़े मानकों का अधिक रहा है।

तालिका–2

	1950 / 1960	1980 / 1990
सामाजिक सूचक		
जीवन की आशा	32 (1951)	61 (919)
प्रत्येक हजार पर मृत्यु दर	27 (1951)	10 (1991)
साक्षरता	18% (1951)	52: (1991)
प्राथमिक शिक्षा में भर्ती (दस लाख में)	19 (1951)	105 (1992)
माध्यमिक शिक्षा में भर्ती (दस लाख में)	5 (1950)	61 (1992)
उच्च शिक्षा में भर्ती	174,000 (1950)	4,800,000 (1992)
प्राविधि और चिकित्सा शिक्षा में भर्ती	37,000 (1950)	874,000 (1988)
प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन अनाज की खपत (ग्राम में)	395 (1960)	510 (1990)
कपड़ा (मीटर में, वार्षिक)	15 (1960)	24 (1990)
गृह कार्य में बिजली (के डब्ल्यू एच)	3 (1960)	38 (1990)
अस्पताल में बिस्तर	1,16,000 (1950)	8,12,000 (1990)
1,00,000 की जनसंख्या पर उपलब्ध	32 (1960)	96 (1992)
चिकित्सा	62,000 (1950)	3,99,000 (1990)

स्रोतः प्रदीप एन. खण्डेलवाल, पूर्व उद्धृत, पृ0 222–223

भारतीय स्थितियों में बहुत बड़ा बदलाव 1990 के दशक के पश्चात् आया है जिसमें यह अहसास बहुत तेजी के साथ हुआ कि राज्य में बढ़ते हुए कार्यों ने उसकी

क्षमताओं को कम ही नहीं किया वरन् उसकी दक्षताओं के मानक भी बहुत ही कम हैं। इसलिये उसके प्रयोग विकल्पों पर चर्चा होनी चाहिए। विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे संगठनों का आग्रह था कि राज्य के नियंत्रण से मुक्त अर्थव्यवस्था ही राज्य व्यवस्था के लिए लाभप्रद रहेगी। 1991 के पश्चात् जिन नीतियों का पालन भारतीय संदर्भो में हुआ उनका सीधा परिणाम राज्य के उनके कार्यों पर अधिक नजर आता है जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक क्षेत्र में अधिक से अधिक व्यक्ति की सुविधा में वृद्धि से था। जो पिछड़े और दलित समूह हैं उन्हें विकसित होने के अवसर प्रदान करने थे। ये प्राथमिकताएं नई आर्थिक नीतियों के संदर्भ में बदली हैं और उसके फलस्वरूप गरीबी के अधिक उदाहरण सामने आए हैं, बेरोजगारी बढ़ी है, पर्यावरण अधिक बिगड़ा है, स्थानीय जीवन प्रणाली में तेजी से गिरावट हुई है। अमीरी और गरीबी के बीच खाई और गहरी हुई है। इन नीतियों के परिणामस्वरूप उपभोक्तावाद का विकास हुआ है।

तालिका 3

सामाजिक सेवाओं पर प्रति व्यक्ति व्यय, 1981–82 की कीमतों के आधार पर

	1990–91	1991–92	1992–93	1993–94	1994–95
स्वास्थ्य					
गरीब राज्य	100	96	95	102	97
मध्यम आय राज्य	100	94	93	99	98
सम्पन्न राज्य	100	96	97	97	96
सकल राज्य	100	95	94	100	97
शिक्षा					
गरीब राज्य	100	90	92	87	91
मध्यम आय राज्य	100	95	94	99	99
सम्पन्न राज्य	100	101	100	104	104
सकल राज्य	100	95	95	95	97
सभी सामाजिक सेवाएं					
गरीब राज्य	100	94	93	92	93
मध्यम आय राज्य	100	96	93	97	97
सम्पन्न राज्य	100	99	98	100	101
सकल राज्य	100	96	95	96	97

स्रोतः तुलसीधर, द्वारा उद्धृत, इंडियाः दी रोड टू ह्यूमन डवलपमेन्ट, 1997

गरीब राज्यों से हमारा तात्पर्य है, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश। मध्यम आय राज्यों से हमारा तात्पर्य है आंध्र प्रदेश, असम, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और पश्चिमी बंगाल। संपन्न राज्यों में सम्मिलित हैं गुजरात, हरियाणा, महाराष्ट्र और पंजाब।

बदले हुए आर्थिक संदर्भों की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति महबूतूल हक ने की है। उनके अनुसार–'बाजार कमजोर और असुरक्षित वर्गों' के प्रति राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीयय स्तर पर मैत्रीपूर्ण नहीं है, न ही बाजार मुक्त है। वे अधिकांशतः शक्तिशाली हित समूहों के द्वारा अपनाए गए हैं और तात्कालिक आय वितरण प्रणाली से प्रभावित रहते हैं। क्या प्रत्येक व्यक्ति बाजार की प्रतियोगिता में भाग ले सकता है या कुछ लोग प्रतियोगिता से बाहर नहीं हो जाएगें क्योंकि उनके पास शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण के साधनों का अभाव हैं इसलिए आय और संपत्ति, ऋण, शक्ति संरचना तथा ज्ञान और दक्षताओं का अच्छा वितरण, बाजार की अच्छी कार्य प्रणाली के लिए आवश्यक है। बाजार तब तक तटस्थ और सक्षम नहीं हो सकता जब तक कि खेल का मैदान सबके लिए एक समान और खेलने योग्य नहीं हो।

बदले हुए संदर्भों में वंचित और पिछडे वर्गों की स्थिति और कमजोर होगी। भारतीय संदर्भ में महिलाओं की स्थिति पर यह टिप्पणी अधिक सटीक लगती है। इसके अनुसार भूमण्डलीकरण विभिन्न स्तरों से आई महिलाओं को अलग–अलग तरीकों से प्रभावित करता है। शहरी, शिक्षित और तुलनात्मक दृष्टि से संपन्न महिलाएँ फायदे में रहती हैं, किंतु उसी की तुलना में अशिक्षित, गरीब, ऋण अल्पता से ग्रस्त अनौपचारिक एवम् कृषि क्षेत्र से जुड़ी महिलाओं को प्रत्यक्ष रूप से कोई लाभ नहीं हुआ है। इन प्रयासों में सबसे पहली चोट तो सामाजिक क्षेत्र को ही होती है। भूमंडलीकरण को महिलाओं के संदर्भ में बढ़ती हुई कीमतों, रोजगार की असुरक्षा, घटती हुई स्वास्थ्य सुविधाओं और बढ़ते हुए सामाजिक तनावों से जोड़ा जाता है।

असमान वितरण, घटती हुई सामाजिक सुरक्षा, राज्य के सरोकारों में आई कमी भारतीय समाज में चिंता का मुख्य कारण है क्योंकि अब भी भारतीय राज्य को संरक्षण देने वाले ऐसे प्रभावी हस्तक्षेप के रूप में देखा जाता है जो विकास और सामाजिक न्याय के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

राज्य के अहस्तक्षेपवादी स्वरूप के विस्तार के फलस्वरूप जो राजनैतिक एवम् सामाजिक स्थितियाँ उत्पन्न होगी उसमें राज्य के विकल्प की चर्चा भी गलत नहीं होगी। ऐसी स्थितियों में सिविल समाजों की विशेष भूमिका में अशिक्षा और समूहों की नागरिक चेतना का अभाव लगातार प्रमुख बाधा बना हुआ है। इन बाधाओं के होते हुए भी यह कहना कठिन नहीं है कि ये समूह राजनीतिक, सामाजिक एवम् मानव अधिकार के विभिन्न प्रश्नों पर चेतना को विकसित करने में ही अपनी भूमिका नहीं निभा सकते हैं वरन् मानव अधिकारों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील और जागरूक प्रहरी होने का कार्य भी कर सकते हैं। वर्तमान में जबकि समूह चेतना के प्रति लगातार जन–जागरूकता बढ़ती जा रही है तब नागरिक समूह मानव अधिकारों के लिये विशेष भूमिका अवश्य ही निर्धारित करेंगे।

वृद्धजनों के मानव अधिकार

* नवनीत सिकेरा

मानवीय मूल्यों एवं अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ने के बावजूद वृद्धजनों को समाज में सम्मानजनक स्थान नहीं मिल सका है। आज सामाजिक–आर्थिक बिखराव और आपाधापी भरे वातावरण में संयुक्त परिवारों की व्यवस्था समाप्त होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वृद्धजन समाज में उपेक्षा और परायेपन की पीड़ा से ग्रस्त हैं और एकाकी जीवन जीने के लिए अभिशप्त भी। परिवार में उनकी छत्रछाया को अब बोझ समझा जाने लगा है। वृद्धजन अपने–आपको अनुगामी पीढ़ी से कोसों पीछे महसूस करते हैं। उनके लिए परिवार व समाज के नकारात्मक माहौल और शारीरिक दुर्बलता के बीच सामंजस्य बनाना दुष्कर होता जा रहा है। अब विधि के समक्ष समता के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए समाज व राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वृद्धजनों के प्रति व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन लाए जाएं ताकि जीवन की सांझ में उन्हें बेबसी और लाचारी से निज़ात मिले तथा वे मानवीय गरिमा और सम्मान के साथ खुशहाल जिंदगी बसर कर सकें।

सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ मानवीय मूल्यों एवं अधिकारों के प्रति चिंतन व जागरूकता में निरंतर वृद्धि हुई है। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना का भी विकास हुआ, जहाँ समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शोषण, अन्याय, उत्पीड़न, लाचारी तथा गैर–बराबरी की पीड़ा से निजात दिलाना ही प्रमुख उद्देश्य है। मानव को अन्याय व उत्पीड़न से संरक्षण प्रदान करना ही मानव अधिकार की मूल भावना है। राज्य साधनहीन व निर्बल व्यक्ति के मानवाधिकार के संरक्षण के लिए वचनबद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति की मर्यादा, स्वतंत्रता तथा सहभागिता के अनुरूप सुरक्षा ही कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य है।

18 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्ताव पारित कर मानवाधिकारों की जो रूपरेखा तय की गई, उसमें मानव जीवन की स्वतंत्रता व सुरक्षा, दासता पर

* भारतीय पुलिस सेवा, उत्तर प्रदेश संवर्ग, सम्प्रति वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, वाराणसी

प्रतिबंध, उत्पीड़न एवं अमानवीय व्यवहार से संरक्षण, विधि के समक्ष बराबरी व व्यक्ति की प्रतिष्ठा की मान्यता, उत्पीड़न के विरुद्ध प्रभावी न्याय व्यवस्था, अवैध हिरासत पर प्रतिबंध, न्यायालय द्वारा दोषी साबित किए जाने तक निर्दोष माना जाना, अनुकूल कार्य वातावरण, सम्मानजनक सामाजिक स्तर आदि प्रमुख बातें रखी गईं। व्यक्ति की सम्मानजनक सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि बीमारी, विक्षिप्तता, बेरोजगारी, बुढ़ापे या अनियंत्रित अवस्थाओं में जीवन–यापन के अधिकार को सुनिश्चित करना भी राज्य का दायित्व है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 17–12–79 के प्रस्ताव 34 / 149 के अनुच्छेद–2 में स्पष्ट रूप से प्रावधान किया गया कि कानून को लागू करने वाले अधिकारी मानवीय प्रतिष्ठा की संरक्षा व उसका सम्मान करेंगे तथा उसे बनाए रखेंगे एवं सभी के मानवाधिकारों की सुरक्षा करेंगे। मानवाधिकारों की संकल्पना के बीजारोपण के साथ ही वृद्धजनों के मानवाधिकार की दिशा में प्रयास किया गया। सन् 1948 में पारित प्रस्ताव में बुढ़ापे व अनियंत्रित अवस्थाओं में जीवन–यापन के अधिकार व मानवीय प्रतिष्ठा की संरक्षा व सुरक्षा को जोर देकर रेखांकित किया गया।

मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता और इस दिशा में हुए प्रयास ज्यादातर संरक्षण तक ही सीमित रहे। मानवाधिकारों के हनन पर रोक लगाने, उत्पीड़न से बचाने तथा पीड़ित को न्याय दिलाने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य हुआ और इस दिशा में लोगों में काफी जागरूकता भी आई, परंतु इससे आगे बढ़कर राज्य व समाज के सकारात्मक दायित्वों के प्रति ध्यान नहीं दिया गया। सम्मानजनक सामाजिक–आर्थिक स्थिति की प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। आज तमाम लोग या तो शारीरिक अशक्तता के कारण या अवसर के अभाव के कारण इससे वंचित हैं। काल की गति मानवीय मूल्यों व सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन करती रहती है। आज के सामाजिक–आर्थिक बिखराव में संयुक्त परिवारों की व्यवस्था समाप्त होती जा रही है। आर्थिक आपाधापी में व्यक्ति व परिवार को एक दूसरे का पर्यायवाची बना दिया है। वृद्धजन इससे सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। वे आज एकाकी जीवन, उपेक्षा, संवादहीनता, परायेपन की पीड़ा से ग्रसित हैं। विज्ञान व सूचना क्रांति के प्रभाव से वृद्धजन अपने आपको अनुगामी पीढ़ी से कोसों पीछे महसूस करते हैं। आर्थिक सुदृढ़ता के अभाव में परिवार में वृद्धजनों को बोझ माना जाता है। राज्य व समाज में इस ओर ध्यान दिए जाने व ईमानदारी पूर्वक प्रयास किए जाने की नितांत आवश्यकता है।

परिवर्तनशील परिवेश व शारीरिक दुर्बलता के बीच सामंजस्य बनाना वृद्धजनों के लिए नितांत दुष्कर हो गया है। कानून के समक्ष बराबरी के सिद्धांत के साथ वृद्धजनों के प्रति समाज व राज्य के व्यवहार में कुछ विशेष और सकारात्मक पहल की अपेक्षा की जाती है। कानून में जहां महिलाओं व बच्चों के प्रति विशेष व्यवहार का प्रावधान है, वहीं वृद्धजनों के प्रति भी होना चाहिए। कानून को लागू करने वाली एजेन्सियों को निर्देश है कि रात्रि में बच्चों व महिलाओं को थाने पर अनावश्यक रूप से न तो रोका

जाए और न ही बुलाया जाए, परंतु बीमार, शारीरिक रूप से अशक्त वृद्धजनों के लिए कोई उपबंध नहीं है, ऐसा क्यों? ऐसा कुछ उनके लिए भी हो। न्यायालयों व थानों में बार–बार तलब करने, रात्रिकाल में तलब करने पर युक्ति–युक्त प्रतिबंध हो तथा दिन में अवधि निश्चित कर दी जाए और उसी अवधि में बुलाया जाए। जहां एजेन्सियां स्वयं जाकर संपर्क कर सकती हैं, वहां वृद्धजनों के निवास स्थान पर भी जाकर संपर्क किया जाए। इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था निश्चित रूप से मानवीय प्रतिष्ठा व आदर के प्रति राज्य व समाज का सकारात्मक मानवीय प्रयास होगा।

पारिवारिक विघटन के साथ वृद्धजनों की आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा में ह्रास हुआ है। खानपान व रहन–सहन की समस्या के साथ ही उन्हें पारिवारिक हिंसा व उपेक्षा का दंश भी झेलना पड़ रहा है। अपने ही बच्चों द्वारा उत्पीड़न, मारपीट, भूखा रखने, उपेक्षित छोड़ देने की शिकायतें बहुतायत में आ रही हैं। आर्थिक निर्भरता के कारण वृद्धजन स्वजनों की उपेक्षा व उत्पीड़न सहने को मजबूर हैं। ज्यादातर मामलों की शिकायतें नहीं मिल पातीं। कुछ मामले ही सामने आते हैं जहां असहनीय स्थिति पैदा हो जाती है। ऐसे प्रकरणों में संपूर्ण प्रयास भी नहीं हो पाते। कारण कि वह इस उत्पीड़न के खिलाफ खड़ा नहीं रह पाता और स्वयं भी चाहता है कि ऐसे लोगों के प्रति कानूनी कार्रवाई न हो, मात्र डाँट–फटकार से ही मामला ठीक हो जाए। इससे उसको पीड़ा से संरक्षण नहीं मिल पाता। अपने परिवार से अलग होकर कहीं अन्यत्र आर्थिक व शारीरिक सुरक्षा का कोई विकल्प दिए बिना उन्हें इस समस्या से निजात दिला पाना दुरूह है।

सम्मानजनक सामाजिक जीवन प्रत्येक व्यक्ति की पहली प्राथमिकता है। तमाम उम्र पार कर चुके व्यक्ति के लिए तो यह एक उपलब्धि है। यदि व्यक्ति अपने जीवन के अंतिम पड़ाव में यह भी अर्जित नहीं कर पाता है तो निश्चित रूप से उसकी आत्मा कचोटती है। अपराध नियंत्रण की प्रक्रिया में सक्रिय व अभ्यस्त अपराधियों की हिस्ट्रीशीट खोली जाती है, वक्त के साथ उनका नाम हिस्ट्रीशीटर, आदि हो जाता है। पुलिस समय–समय पर गांव में जाकर उनके विषय में जानकारी एकत्र करती रहती है। अपराध की दुनिया से अलग हो जाने पर इनकी निगरानी बंद कर दी जाती है, परंतु पुलिस अभिलेखों में इंदराज होने के कारण जब भी जांच होती है, तो ऐसा व्यक्ति जिस परिवेश में रहता है, उसके पिछले इतिहास के विषय में लोगों को पता लगता रहता है। जिन मामलों के आधार पर उनके विरुद्ध ऐसा अभिलेख तैयार किया जाता है, समय के साथ उनमें से वह बरी हो चुके होते हैं। इसके बावजूद अपने लिए अपमानजनक उद्बोधन आने पर वे अपने को प्रतिष्ठा से वंचित महसूस करते हैं। अपने जीवन के एक लम्हे के दाग को ताउम्र न धो पाने की पीड़ा से जूझते रहते हैं। यह आत्मिक पीड़ा उन्हें सम्मान से जीने नहीं देती है। मैंने इस पर अध्ययन किया और रिकार्डों का अवलोकन किया तो पाया कि तमाम ऐसे हिस्ट्रीशीटर हैं जो सक्रिय जीवन की अवस्था पार कर चुके हैं और 15–20 वर्षों से उनका अपराध जगत से कोई संबंध नहीं। उनका चाल–चलन अच्छा है और वे अच्छे नागरिक का जीवन जी रहे हैं। मैंने ऐसे लोगों की हिस्ट्रीशीट

कानूनी प्रावधानों के अनुसार नष्ट करा दी। जब इन लोगों को इसकी जानकारी हुई तो उन्हें ऐसा लगा कि सदियों से गिरवी रखी सामाजिक प्रतिष्ठा उन्हें लौटा दी गई हो जबकि यह पुलिस का अपना स्वयं का वर्षों से स्थापित प्रकियात्मक कार्य था। मैंने उन्हें बुलाकर वार्ता की, वास्तव में इनकी पीड़ा मर्मस्पर्शी थी। वृद्ध, बीमार, अशक्त लाचार व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश से रिश्तेदारों व परिवारजनों के बीच हिस्ट्रीशीटर नाम से पुकारे जाने पर बहुत अपमानित महसूस करता है। अपने लोगों से नजर मिलाने में भी अपराध–बोध से ग्रस्त हो जाता है। पुलिस ऐसे वृद्धजनों के बारे में समीक्षा कर सकती है जो सम्मानजनक जीवन में रच बस गए हैं और अपराध की दुनिया से कोई लेना देना नहीं है। वह उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित कर अपने मानवीय दृष्टिकोण को उजागर कर सकती है तथा मानवाधिकारों के प्रति अपने आदर को प्रदर्शित कर सकती है।

सामाजिक सुरक्षा वृद्धजनों की एक गंभीर समस्या है, इसका एक नितांत कुरूप स्वरूप पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में भयावह रूप लेकर पारिवारिक ताने–बाने व परस्पर विश्वास को ग्रसित कर रहा है। इसके पीछे भी कारण उपभोक्तावादी संस्कृति व आर्थिक सुदृढ़ता का अभाव है। ऐसे वृद्धजन जिनका विवाह नहीं हुआ या जिनकी पत्नी का बिना औलाद के निधन हो गया या निस्संतान दंपती हैं उनकी हत्या की घटनाएं सामान्य बात हो गई है। ज्यादातर मामलों में परिवार के नजदीकी रिश्तेदार या अन्य परिचित लोग ही ऐसी वारदातें करते हैं। इन्हें डर लगा रहता है कि कहीं ये वृद्धजन अपनी संपत्ति किसी और को न दे दें। ऐसे लोग भी हिंसा के शिकार हो जाते हैं, जो परिवार की आर्थिक सुरक्षा व सुदृढ़ता के लिए त्याग कर स्वयं का विवाह न करके भाई के परिवार का हिस्सा बनकर रहते हैं। इस समस्या के निराकरण के लिये मैंने दो काम किए। पहला, ऐसे लोगों की पहचान कर सूची बनाई गई और इनके निकट के संबंधियों को बुलाकर इनकी सुरक्षा के प्रति हिदायत दी गई तथा यह बताया गया कि यदि इनकी हत्या हो गई तो उनकी संपत्ति राज्य सरकार को चली जाएगी। दूसरा प्रयास यह था कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 25 जिसमें उल्लेख है कि हत्यारे को संपत्ति हस्तांतरित नहीं होगी, का प्रचार–प्रसार कराया गया। ऐसे प्रकरणों की सूची बनाकर थानावार रिपोर्ट परगनाधिकारियों को प्रेषित की गई। इसका परिणाम उत्साहजनक रहा। वृद्धजनों की हत्या में काफी कमी देखी गई। इस दिशा में कानून के साथ ही सामाजिक स्तर पर भी प्रयास करने की आवश्यकता है।

वृद्धजनों के मानवाधिकार के प्रति सम्मान व जागरूकता इस समय सर्वाधिक प्रासंगिक है। इसका कारण है कि इस दिशा में सबसे कम काम हुआ है। इसके लिए राज्य व समाज दोनों के स्तर पर व्यापक चिन्तन व सकारात्मक प्रयास की आवश्यकता है।

बाल अधिकार : भावी समाज का सुदृढ़ आधार

* प्रो0 गिरीश्वर मिश्र

आज के बच्चे ही कल का भविष्य हैं। इसके बावजूद उनकी दशा बहुत ही दयनीय है, जिसे देखते हुए सहज ही यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि देश का भविष्य कैसा होगा। समाज में बच्चों के विकास के लिए जरूरी बुनियादी सुविधाएं भी मुहैया नहीं हो पाई हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रतिकूल दशाओं में रहने के कारण बहुत बड़ी तादाद में बच्चे मौत के मुंह में समा जाते हैं। संवैधानिक व्यवस्थाओं के होते हुए भी उन्हें गरीबी, बीमारी, कुपोषण और अशिक्षा से जूझना पड़ रहा है। छोटे–छोटे बच्चे घरेलू नौकर के रूप में ही नहीं बल्कि फैक्टरियों में भी कमरतोड़ मेहनत करने को अभिशप्त हैं। बच्चों का यौन–शोषण एक घृणास्पद वास्तविकता है, जो सबसे अधिक चिंता की बात है। लड़कियों की दशा और भी शोचनीय है। उन्हें तो पैदा होने का भी हक नहीं दिया जा रहा है। वैश्वीकरण, निजीकरण और तकनीकीकरण के दौर में नई सामाजिक आर्थिक चुनौतियां भी हैं। इन सबसे निपटने के लिए अभी काफ़ी कुछ किया जाना जरूरी है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी जीवन यात्रा का आरंभ एक अबोध शिशु के रूप में करता है परंतु धरती पर जन्म लेने वाले सभी शिशु इतने सौभाग्यशाली नहीं होते कि वे पूरा जीवन जी सकें। उनमें से काफी बड़ी संख्या उनकी होती है जो शैशवावस्था में ही काल का ग्रास बन जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार लगभग 1.10 करोड़ बच्चे अपना पांचवां जन्मदिन नहीं मना पाते। लगभग इतनी ही बड़ी संख्या उन बच्चों की भी होती है जो मानसिक अशक्तता और शारीरिक रोगों जैसे – मलेरिया, चेचक, अतिसार आदि के शिकार हो जाते हैं। अकेले भारत में लगभग पाँच लाख बच्चे स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रतिकूल दशाओं में रहने के कारण मौत के मुंह में समा जाते हैं। लगभग आधे बच्चे सामान्य रूप से विकसित नहीं हो पाते। "आज के बच्चे ही कल का भविष्य हैं" इस दृष्टि से

* मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बच्चों के सामर्थ्य की सुरक्षा और उनकी क्षमताओं को प्रस्फुटित करने की व्यवस्था समाज का केंद्रीय दायित्व बन जाता है। इस दिशा में बाल अधिकारों की स्थापना का दूरगामी प्रभाव पड़ सकता है।

भारतीय संविधान में बाल अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था निम्नांकित अधिकारों के प्रसंग में प्राप्त होती है :–

- समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14)
- वक्तृता तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 21)
- निजी स्वतंत्रता तथा उचित कानूनी प्रक्रिया का अधिकार (अनुच्छेद 21)
- शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23)
- धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार (अनुच्छेद 32)

उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त कुछ मौलिक अधिकार विशेषतः बच्चों के लिए हैं। उदाहरणार्थ यह राज्य का कर्तव्य है कि कोमलवय बच्चों के साथ दुराचार न हो तथा उन्हें आर्थिक कारणों से ऐसे व्यवसायों में न जाना पड़े जो उनकी शारीरिक – मानसिक शक्ति और आयु के उपयुक्त न हों। बच्चों के लिए अभीष्ट है कि विकास के क्रम में बच्चों को अपेक्षित स्वतंत्रता, सम्मान, सुविधाएँ और अवसर मिलने चाहिए।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद वास्तविकता कुछ और ही है। अधिसंख्य बच्चे गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, कुपोषण से जूझ रहे हैं। प्राथमिक शिक्षा सार्वभौमिक नहीं हो पाई है। जाति, वर्ग और पंथ के आधार पर भेदभाव, यौन–शोषण, घरेलू नौकर के रूप में उनका उपयोग, फैक्टरी में सस्ते श्रम हेतु उपयोग, वेश्यावृत्ति और पर्यटन स्थलों पर बच्चों का शोषण चिंताजनक है। जनसंख्या में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं का अनुपात लगातार कम हो रहा है। आज पंजाब, हरियाणा, गुजरात और हिमाचल जैसे प्रदेशों में प्रति हजार पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 800 तक हो चुका है। गर्भस्थ शिशु का लिंग–परीक्षण और गर्भपात के जरिए बालिका भ्रूण की हत्या गंभीर समस्या है। बाल विवाह की स्थिति अब भी बनी हुई है। तात्पर्य यह कि बच्चे, विशेषतः लड़कियाँ, सामाजिक कुरीतियों और पूर्वाग्रहों के कारण अनेक प्रकार की विसंगतियों को झेल रही हैं।

व्यापक दृष्टि से देखें तो 1990 का दशक बाल अधिकारों की दिशा में काफी महत्वपूर्ण हैं। इस अवधि में बाल अधिकारों की सार्वभौमिक मान्यता की दृष्टि से राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गंभीरता से प्रयास शुरू किए गए हैं। अध्ययनों से यह प्रकट होता है कि बच्चों के जीवन की गुणवत्ता स्थापित करने के लिए अनेक स्तरों पर सार्थक हस्तक्षेप आवश्यक है। इस हेतु न केवल स्वास्थ्य की देखरेख, आहार, आवास, शिक्षा, पेयजल जैसी आधारभूत सुविधाएँ ही जुटानी हैं बल्कि सामुदायिक चेतना और भागीदारी को भी प्रभावी ढंग से प्रोत्साहित करना होगा। इस हेतु स्थानीय प्रशासन तथा सार्वजनिक शिक्षा और चेतना का विकास आवश्यक है। इस दृष्टि से आहार और स्वास्थ्य

की उचित आदतें, बच्चों के जन्म के बीच का उचित अंतराल, बाल विवाह पर नियंत्रण, और लड़कियों के प्रति भेदभाव को दूर करना महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

स्मरणीय है कि संयुक्त राष्ट्र महासभा ने नवंबर 1989 में बाल अधिकारों पर एक अभिसमय अंगीकृत किया था ताकि उनके शोषण, उपेक्षा और दुरुपयोग पर काबू पाया जा सके। 1990 में 'बच्चों पर विश्व शिखर सम्मेलन' में इसके प्रावधानों को स्वीकृति मिली। यह उत्साहवर्धक है कि विगत वर्षों में विश्व के अधिसंख्य देशों ने इसकी संपुष्टि की है। अभिसमय में बच्चों के नागरिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का विवेचन किया गया है। इनमें निम्नांकित बाल अधिकार समाविष्ट किए गए हैं :–

उत्तरजीविता का अधिकार

इसके अंतर्गत जीवन का अधिकार, स्वास्थ्य, आहार और जीवन स्तर को प्राप्त किए जा सकने वाले उच्चतम मानक सम्मिलित हैं। इसमें नाम और राष्ट्रीयता का अधिकार भी समाविष्ट है।

संरक्षण का अधिकार

इसके अंतर्गत सभी तरह के शोषण, दुरुपयोग, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार और उपेक्षा, जिसमें आपातकाल और सशस्त्र संघर्ष की अवधि में विशेष संरक्षण का अधिकार भी सम्मिलित है।

विकास का अधिकार

इसके अंतर्गत शिक्षा का अधिकार, आरंभिक बाल्यावस्था में विकास और देख–रेख, सामाजिक सुरक्षा और अवकाश, मनोरंजन तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों का अधिकार सम्मिलित हैं।

सहभागिता का अधिकार

इसके अंतर्गत बच्चों के विचारों हेतु आदर, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, उपयुक्त सूचना पाने तथा सोचने, विवेक और धर्म की स्वतंत्रता का समावेश है।

भारत ने बच्चों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता अनेक तरह से दर्शाई है। राज्यों के नीति निदेशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 39 में भारतीय संविधान ने स्पष्ट रूप से इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है :

> श्रमिकों, पुरुषों, स्त्रियों तथा कोमलवय बच्चों के स्वास्थ्य
> और शक्ति का दुरुपयोग न हो, और नागरिकों को आर्थिक
> जरूरतों के फलस्वरूप आयु और शक्ति की दृष्टि से
> अनुपयुक्त व्यवसायों में सम्मिलित न होना पड़े;

> बच्चों को स्वस्थ ढंग से और स्वतंत्रता तथा गरिमायुक्त परिवेश में विकसित होने का अवसर और सुविधा मिलनी चाहिए तथा बच्चों और युवाओं को शोषण तथा नैतिक एवं भौतिक उपेक्षा के विरुद्ध संरक्षण मिलना चाहिए;

अनुच्छेद 24 यह भी व्यवस्था देता है कि 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को किसी फैक्टरी या खान या किसी खतरनाक रोजगार में न लगाया जाए। अनुच्छेद 45 के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा हेतु राज्यों को प्रयास करना अभीष्ट है। 'बच्चों हेतु राष्ट्रीय नीति' के दस्तावेज में वर्ष 1974 में भारत ने अपने संविधान की भावना की पुनः पुष्टि की। इसके अनुसार :

> यह राज्य की नीति होगी कि बच्चों के लिए, जन्म पूर्व, जनमने के बाद और विकास की अवधि में उनके पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास हेतु उपयुक्त सेवाओं की व्यवस्था हो। राज्य ऐसी सेवाओं के क्षेत्र का उपयुक्त समयावधि में क्रमशः विस्तार करेगा ताकि देश के सभी बच्चे अपने संतुलित विकास की अधिकतम संभव दशाओं का लाभ पा सकें।

भारत सरकार ने बच्चों पर विश्व शिखर सम्मेलन में स्वीकृत विकास लक्ष्यों को 1990 में स्वीकृति दी और गरीबी, कुपोषण, निरक्षरता, शोषण और अस्वच्छ वातावरण के विरुद्ध अपनी प्रतिबद्धता दर्शाई। वर्ष 1992 में बाल अधिकारों के अभिसमय की संपुष्टि की गई। इस दिशा में एक कार्य–योजना तैयार हुई जिसके अंतर्गत अनेक योजनाएँ आरंभ हुई हैं।

भारत ने कई क्षेत्रों में उपलब्धि दर्ज की है परंतु बच्चों की दृष्टि से बहुत कुछ करना शेष है। शिशु मृत्यु दर घटी है और टीकाकरण व्यापक स्तर पर हुआ है। लगभग 20 लाख बच्चों की मृत्यु प्रति वर्ष अब भी ऐसे कारणों से हो रही है जिनसे बचा जा सकता है। अन्न का पर्याप्त भंडार होने पर भी, एक अनुमान के अनुसार पाँच वर्ष से कम आयु के 63 प्रतिशत बच्चे कुपोषण से ग्रस्त हैं। प्राइमरी स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या बढ़ी है लेकिन उन बच्चों की संख्या भी बहुत अधिक है जो स्कूल नहीं जा पाते और यदि जाते भी हैं तो बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। यह स्थिति भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग मात्रा में है। इस दृष्टि से व्यवस्थित रूप में आंकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं। सरकारी स्तर पर संचालित समेकित बाल विकास योजना (आई सी डी एस) छह वर्ष से कम आयु के बच्चों को पूरक आहार देने के लिए है। शिशु पालन गृह तथा बालवाड़ी पोषाहार का कार्यक्रम, माताओं की शिक्षा का कार्यक्रम और सर्वशिक्षा अभियान जैसे प्रयास भी महत्वपूर्ण हैं। तमिलनाडु में 1980 में प्रारंभ हुआ समेकित पोषाहार कार्यक्रम काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा भी खास–खास क्षेत्रों में काम हो रहा है परंतु अब भी बहुत–सा कार्य शेष है।

आज भारतीय समाज वैश्वीकरण, निजीकरण और तकनीकीकरण के चुनौतीपूर्ण दौर में है। औद्योगिक प्रगति के आकर्षण और लाभ के साथ बहुत से प्रकट और अप्रकट खतरे और हानियाँ भी जुड़ी हैं। महानगरों में अट्टालिकाओं के साथ झुग्गी झोंपड़ियाँ भी हैं, जिनमें गरीबी, गंदगी और अशिक्षा के लिए अभिशप्त एक सामाजिक वर्ग रहता है। गाँव छोड़ शहरों की ओर भाग रहे लोगों की मजबूरियाँ आर्थिक और सामाजिक, हर स्तर पर, उनके जीवन में कठिनाइयां पैदा करती हैं। ऐसे में गरीबी और अपविकास के नए द्वीप जन्म लेते हैं। विकास की तीव्रगामी योजना में ये पिछड़ जाते हैं। उनसे बनता है एक सीमांत समाज। हाशिए पर रहने वाले लोगों की यह जमात तरह–तरह की उलझनों से ग्रस्त रहती है और उन्हें आगे बढ़ने का कोई मार्ग नहीं सूझता। इस पृष्ठभूमि में पलने–बढ़ने वाले बच्चे जीवन का पाठ स्कूल में नहीं बल्कि गली–कूचों, असामाजिक परिस्थितियों या जेल में पढ़ते हैं। दुर्भाग्यवश विकास की योजना में यह तबका उपेक्षित रहता है। उसे भेदभाव और दुर्भावना का शिकार होना पड़ता है।

बाल अधिकार का प्रश्न उपर्युक्त समूहों के परिप्रेक्ष्य में विशेष रूप से प्रासंगिक है। भविष्य का समाज निश्चय ही आज के बच्चों पर निर्भर करेगा। उनकी रक्षा और उनका विकास पूरे समाज की चुनौती है। इसके समाधान में चूकने का अर्थ होगा समाज की नींव का कमज़ोर होना, जिस पर एक सुदृढ़ समाज बनाने की कल्पना दिवास्वप्न सरीखी होगी। एक समर्थ, शक्तिशाली और कल्याणकारी समाज की परिकल्पना साकार करने के लिए बच्चों में निवेश हमारी विकास योजना का प्रमुख निदेशक सिद्धांत होना चाहिए। एक अर्थ में यह मानवीय निवेश है जो आवश्यक मानव संसाधन उपलब्ध कराएगा। बाल अधिकारों को व्यावहारिक रूप देने से अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों ही प्रकार के परिणाम होंगे। इस विषय में केवल सामाजिक चेतना ही आवश्यक नहीं है, बल्कि दृढ़ संकल्प और प्रभावी कार्य–योजना का संचालन भी अपेक्षित है। यह तभी संभव होगा जब राज्य और समाज दोनों ही एक साथ इसमें भागीदारी करें।

यह एक गंभीर समस्या है कि बच्चों के लिए हमारी भावना कार्यरूप नहीं ले पाती है। हम सभी बच्चों से प्रेम करते हैं और उन्हें भविष्य की थाती भी मानते हैं, परंतु उनकी उपेक्षा करने में भी हम पीछे नहीं है। हम यह भूल जाते हैं कि बच्चों की अपनी स्वतंत्र अस्मिता है और उनकी आवश्यकताएँ प्रौढ़ों से भिन्न होती हैं। वे एक दूसरी दुनिया में रहते हैं जो कल्पना से परे होती है। सच्चाई यह है कि बच्चों की कोई अधिकार नहीं है। उन्हें वही मिलता है जो समाज के प्रौढ़ सदस्य उन्हें प्रदान करते हैं। उनका भाग्य और सुविधाएँ हम बड़े लोग तय करते हैं। वास्तविकता में अज्ञानी और कमजोर मानकर हम उन्हें उपेक्षित करते रहते हैं। कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब यह उपेक्षा अन्याय का रूप ले लेती है। बालश्रम और बाल वेश्यावृत्ति जैसी अमानवीय प्रथाएँ बच्चों के विकास को ही अवरुद्ध नहीं करतीं अपितु उन्हें आगे के जीवन के लिए भी अभिशप्त कर देती हैं। ऐसी स्थितियों में विकलांगता और शैक्षिक पिछड़ेपन जैसे प्रभावों के साथ बच्चे अपराध की दुनिया की ओर बढ़ने लगते हैं। शहरीकरण और अर्थ की बढ़ती प्रधानता

के फलस्वरूप आज के भारतीय समाज में हाशिए पर रहने वाले समुदायों जैसे दलित, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के बच्चों के उत्पीड़न की आशंका बढ़ जाती है। उनका दुरुपयोग और गैर–कानूनी ढंग से शोषण थमने का नाम ही नहीं ले रहा। दूसरी ओर बच्चों की शिक्षा, विशेषतः बालिकाओं की, अभी तक सबको सुलभ नहीं हो सकी है। सार्वभौमिक बाल शिक्षा का स्वप्न अब भी अधूरा है। शिक्षा के अधिकार की भारतीय संसद द्वारा स्वीकृति मिलने से आशा बंधी है। गैर स्वैच्छिक संगठनों का सहयोग भी इस दिशा लाभदायक सिद्ध हो रहा है। तथापि, पूरे भारत में शिक्षा का विस्तार अभी तक पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका है।

आज समाज में मानव अधिकार के प्रति संवेदनशील संस्कृति के विकास की आवश्यकता है। तभी बच्चों के सुखी जीवन की परिकल्पना साकार हो सकेगी। बच्चों की आवश्यकता की पूर्ति होने के साथ–साथ उन्हें उनकी क्षमताओं और योग्यताओं के विकास हेतु भी सहायता मिलनी चाहिए ताकि वे समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हों। उन्हें गरीबी और सामाजिक कुरीतियों के नकारात्मक प्रभावों से बचाना भी आवश्यक है। बाल अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में समाज की उन विभिन्न प्राथमिकताओं को रेखांकित किया गया है जो वैश्विक स्तर पर पहल करने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। स्मरणीय है कि सरकारों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई यह घोषणा परिवार, विद्यालय, सार्वजनिक तथा निजी संस्थाएँ, पास–पड़ोस, समुदाय, न्यायालय तथा प्रशासन के हर स्तर पर सर्वत्र प्रासंगिक है। यह बच्चों के हित में एक महत्वपूर्ण प्रपत्र है जो यह सिद्ध करता है कि बच्चे विभिन्न लाभों और सेवाओं के हितग्राही मात्र नहीं हैं। वे अधिकार संपन्न हैं और राज्य, संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा उपयुक्त कार्रवाई के हकदार हैं। उनके अधिकारों को व्यवहार में लाने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों के मानव अधिकारों की स्थापना की दृष्टि से हर तरह का समर्थन उपलब्ध कराया जाए।

बाल–अधिकार अभिसमय ने विश्व के सभी देशों का ध्यान प्रभावी ढंग से बाल–अधिकार की ओर आकृष्ट किया है। यह संतोष का विषय है कि समस्त विश्व ने इस दिशा में सकारात्मक रुख अपनाया है। विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शांति की आधारशिला रखने की दिशा में यह दस्तावेज़ मील का पत्थर सिद्ध हुआ है। यह बच्चों को दी जाने वाली उस वरीयता को रेखांकित करता है जिसके वे पात्र हैं। उन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि उन्हें व्यापक मानव परिवार में समान स्थिति वाले व्यक्ति का दर्जा दिया जाना चाहिए। ऐसा करना किसी समाज के अधिकतम विकास हेतु बच्चों की अपेक्षित भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। यह तभी होगा जब परिवार के प्रौढ़ सदस्य बच्चों में आत्म–निर्भरता के विकास की दिशा में उचित कदम उठाएँ। इस संदर्भ में सरकार की भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती क्योंकि नीतियों और कानूनों द्वारा आवश्यक सुविधाओं तथा प्रक्रियाओं को उपलब्ध कराना संभव हो पाता है।

बच्चों को मतदान का अधिकार नहीं है पर अनेक राज्य बच्चों की भागीदारी बढ़ाने के लिए उनके विचारों को सुनने, जानने और समझने के उपायों की व्यवस्था कर रहे हैं। आज के समय में यह अत्यंत आवश्यक हो गया है कि समाज में हो रहे परिवर्तन जैसे – परिवार की संरचना, रोजगार की व्यवस्था, बाजार के बढ़ते वर्चस्व को ध्यान में रखकर बच्चों की जीवन व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया जाए। हमें यह तथ्य आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि आर्थिक लक्ष्य, नैतिक और सामाजिक प्रश्नों से अछूते नहीं रहते। अतः सामाजिक सोच के केंद्र में बच्चों को लाना तभी संभव होगा जब आर्थिक उन्नति के प्रयास नैतिक मूल्यों और सामाजिक व्यवस्था के आदर्शों के अनुकूल हों।

भारत की स्थिति विशेष रूप से विचारणीय है जिसमें बच्चों के कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा के लिए कानूनी या वैधानिक व्यवस्था तो विस्तृत आकार ले चुकी है परंतु उसका प्रशासन तथा कार्य–संपादन सीमित मात्रा में ही हो पाता है। राजनैतिक इच्छा शक्ति का न होना भी इसका प्रमुख कारण है। संचार माध्यम ऐसे प्रश्नों को प्रायः हाशिए पर ही रखते हैं। बच्चों की आशाओं, आकांक्षाओं और संघर्षों को प्रभावी अभिव्यक्ति देने का पुरजोर प्रयास नहीं किया गया। बच्चों की देखभाल के लिए संस्थाओं और कर्मियों का प्रशिक्षण सीमित मात्रा में ही हो सका है। दूसरे शब्दों में बच्चों का प्रतिनिधित्व और उनकी आवाज़ उन स्थानों पर चर्चाओं और विश्लेषणों में आज भी दबी और घुटी–घुटी सी है जहाँ पर वे फैसले लिए जाते हैं जिनका परिणाम व्यापक और दूरगामी होता है।

उपर्युक्त परिस्थिति में यह विचारणीय है कि केवल बच्चों के स्वास्थ्य, शिक्षा तथा विकास की प्रभावी योजनाओं का क्रियान्वयन ही आवश्यक न माना जाए अपितु अन्य क्षेत्रों में भी जो योजनाएँ बनें उनमें भी बच्चों को ध्यान में रखना आवश्यक है। बच्चों का वर्तमान संवारकर समाज बच्चों से कहीं अधिक स्वयं अपना उपकार करेगा। समाज में निरंतरता और प्रगति का प्रवाह बना रहे, इसके लिए बच्चों को केंद्र में रख कर ही सामाजिक योजनाओं की कल्पना और क्रियान्वयन आवश्यक है। बच्चों का हित किसी भी योजना की उपयुक्तता की कसौटी होना चाहिए। भारतीय समाज को यह सत्य स्वीकार कर इस दिशा में सक्रिय होना होगा। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद आधी शताब्दी से अधिक समय हम व्यतीत कर चुके हैं। इस अवधि में हमारा अनुभव मिश्रित रहा है। आशा की जाती है सरकार और समाज दोनों ही बाल–अधिकारों की स्थापना और प्रसार की दिशा में निर्णायक कदम उठाएंगे।

पर्यावरण के लिए कानूनी संरक्षण

* आर. सी. मिश्र

भारतीय चिंतन परंपरा में पर्यावरण से प्रेम जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा रहा है। लेकिन, तथाकथित आधुनिकता और उपभोक्तावादी संस्कृति ने पर्यावरण को क्षति पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर्यावरण–स्वच्छता की संकल्पना सीधे तौर पर मानवाधिकार से जुड़ी हुई है। ऐसी स्थिति में पर्यावरण के लिए कानून का संरक्षण भी महत्वपूर्ण है। कानून के द्वारा पर्यावरण को क्षति पहुंचाने वालों को दंडित किया जा सकता है तथा पीड़ितों को क्षतिपूर्ति भी दिलवाई जा सकती है। भारत में पर्यावरण संरक्षण से संबंधित कानूनों का इतिहास 115 वर्ष पुराना है। इसमें वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, भू–प्रदूषण और ध्वनि प्रदूषण रोकने के लिए अनेक अधिनियम हैं। इन्हें लागू करने में न्यायपालिका का विशेष योगदान है। न्यायपालिका के निर्णय सरकार और जनता, दोनों पर बाध्यकारी होने के कारण पर्यावरणीय समस्याओं को हल करने में प्रभावी भूमिका निभाते हैं। इस दृष्टि से भारत का संविधान भी अनुपम है। यह विश्व का पहला ऐसा संविधान है जिसमें पर्यावरण–संरक्षण के लिए विशेष प्रावधान हैं।

भारतीय समाज में आस्था और विश्वास का विशेष स्थान है और इसमें प्राकृतिक संसाधनों जैसे पौधों, जंतुओं, नदियों आदि को भी पूजनीय माना जाता है। हमारी सांस्कृतिक परंपरा में पर्यावरण–संरक्षण की भावना पहले से निहित है। प्राचीन काल में भारत में प्रकृति को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचाई जाती थी, इसलिए यहाँ पर्यावरण सरंक्षण के लिए किसी कानून की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन अब पिछली सदी में पर्यावरण के संरक्षण के लिए बड़ी संख्या में कानून बनाए गए। ये सभी कानून तीन श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं :–

(क) सामान्य कानून,

(ख) विनियामक कानून, और

(ग) विशेष विधान।

* भारतीय पुलिस सेवा, हरियाणा संवर्ग, संप्रति, वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, पंचकुला, हरियाणा

(क) **सामान्य कानून** : अंग्रेजी का शब्द 'कॉमन लॉ' लैटिन शब्द 'ex communis' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'सामान्य कानून'। यह इंग्लैंड के परंपरागत कानून की संस्था है और यह न्यायिक निर्णयों पर आधारित है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 372 कॉमन लॉ पर आधारित है और यह अभी तक लागू है। पर्यावरण प्रदूषण के विरुद्ध कॉमन लॉ की सहायता लॉ ऑफ टोरट (सिविल रॉंग) के तहत उपलब्ध है।

ऐसे किसी भी कार्य के विरुद्ध जो संपत्ति या व्यक्ति के हानि का कारण बना हो, प्रभावित पक्ष क्षतिपूर्ति या निषेधाज्ञा या दोनों का दावा कर सकता है।

पर्यावरण प्रदूषण के लिए महत्वपर्णू कारक हैं : (1) व्यवधान, (2) अतिक्रमण, तथा (3) लापरवाही।

(ख) **विनियामक कानून – उपचार** : विनियामक प्रावधान जो सभी प्रकार के प्रदूषण को रोकने तथा नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वे इस प्रकार हैं :–

- संवैधानिक प्रावधान,
- नागरिक प्रक्रिया संहिता के प्रावधान,
- फैक्टरीज़ ऐक्ट, 1948,
- वाइल्डलाइफ प्रोटेक्शन ऐक्ट, 1972, तथा
- मोटर वेहिकल ऐक्ट, 1988

(ग) **विशेष विधान** : जल एवं वायु प्रदूषण।

पर्यावरण कानून का मुख्य उद्देश्य वातावरण के प्राकृतिक उपचार को प्रदूषण से बचाना है। कानून पर्यावरण के सरंक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं इसकी मुख्य भूमिकाएं हैं :–

- कानून पर्यावरण को क्षति पहुंचाने वाले व्यक्ति को दंडित करता है।
- कानून पीड़ित को क्षतिपूर्ति दिलवाता है।
- कानून व्यक्ति को पर्यावरण पर दबाव बढ़ाने से वर्जित करता है।
- कानून पर्यावरण संरक्षण नीति को कार्य रूप में परिणत करता है।
- कानून विकास नीति को भी कार्य रूप में परिणत करता है।

भारत में पर्यावरण कानून का इतिहास 115 वर्ष पुराना है। प्रथम कानून 1894 में पास हुआ था। सबसे पहले वायु प्रदूषण नियंत्रणकारी कानून थे। अब तक बनाए गए सभी कानूनी प्रावधानों को प्रभावशाली ढंग से लागू करने योग्य बनाने के लिए इन अधिनियमों में संशोधन किया गया। संशोधित अधिनियम इस प्रकार हैं :–

(1) एन्ववायरनमेंट प्रोटेक्शन ऐक्ट, 1986

(2) वाटर प्रिवेन्शन ऐंड कन्ट्रोल ऑफ पॉलयूशन ऐक्ट–1974, 1988 मे संशोधित।

(3) एयर प्रिवेन्शन ऍंड कन्ट्रोल ऑफ पॉल्यूशन ऐक्ट 1981, 1988 में संशोधित।

(4) पब्लिक लायबिलिटी एन्श्योरेंस एक्ट 1991

(5) द नेशनल एन्वायरनमेंट ट्रायब्यूनल ऐक्ट 1995

(6) वाइल्ड लाइफ ऐक्ट, 1972, 1991 में संशोधित

(7) फॉरेस्ट कंजर्वेशन ऐक्ट, 1980, 1988 में संशोधित

(8) मोटर वेहिकल एक्ट 1988

(9) बायोमेडिकल वेस्ट

भारतीय संविधान एवं पर्यावरण संरक्षण :–

इतिहास गवाह है कि भारत में पर्यावरण की रखवाली बल्कि कहना चाहिए पर्यावरण से प्रेम जीवन की एक शैली थी। पेड़–पौधो की रक्षा के लिए लोगों ने अपने जीवन तक बलिदान कर दिया किंतु अब लोगों की प्राथमिकताएं बदलने लगी हैं। वे आधुनिक युग के उपभोक्तावाद से प्रभावित हुए हैं। जहां एक ओर बढ़ती हुई जनसंख्या ने गरीबी को बढ़ाया है वहीं दूसरी ओर अमीरों के बढ़ते लालच ने वन्य जीवन को नष्ट किया है, वनों को समाप्त कर दिया है। पारंपरिक पौधों के स्थान पर सजावटी पौधों को स्थापित करके करोड़ों वर्षों की सहेजी हुई जैव विधिवता को नष्ट किया है तथा भूमि, जल एवं वायु को प्रदूषित किया है। इन सब का परिणाम पारिस्थितिकीय असंतुलन के रूप में सामने आया है तथा आज इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि संरक्षण की उसी पुरानी भावना को पुनः जगाया जाए।

भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका शासन के तीन स्तंभ हैं। तीनों का ही अपना अलग–अलग कार्यक्षेत्र एवं महत्व है। विधायिका द्वारा जन अपेक्षानुसार विधानों का निर्माण किया जाता है। कार्यपालिका विधानों का पालन कराती है। कार्यपालिका के कार्यों का सुचारुपूर्ण एवं निष्पक्ष निष्पादन हो, इसलिए न्यायपालिका एक सजग प्रहरी के रूप में अपने दायित्व का निर्वहन करती है।

हमारे देश में स्वतंत्रता–प्राप्ति के उपरांत न्यायपालिका को और अधिक महत्व दिया गया है। न्यायपालिका का निर्णय सरकार एवं जनता दोनों पर बाध्यकारी होने के कारण यह पर्यावरणीय समस्याओं को हल करने एवं पर्यावरणीय मानवाधिकारों के सरंक्षण में एक अहम् भूमिका निभा रही है।

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान विश्व का पहला संविधान है जिसमें पर्यावरण सरंक्षण के लिए विशिष्ट प्रावधान हैं।

प्रस्तावना

भारतीय संविधान में निहित समाजवादी विचारधारा का मुख्य लक्ष्य है सभी को जीवन का सुखद स्तर उपलब्ध करवाना जो कि केवल एक प्रदूषण मुक्त वातावरण में ही संभव है। प्रस्तावना का अन्य उद्देश्य है "व्यक्ति की गरिमा" को सुनिश्चित करना। कोई व्यक्ति गरिमा के साथ नहीं जी सकता है यदि उसे प्रदूषणमुक्त वातावरण न मिले।

मूल अधिकार

अनुच्छेद 19 (1 क) प्रत्येक नागरिक को बोलने तथा अभिव्यक्ति की मूलभूत स्वतंत्रता की गारंटी देता है। इसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है। यह अनियंत्रित नहीं है। इसे अनुच्छेद 19 (2) में वर्णित आधारों पर सीमित किया जा सकता है।

भारत में जनमत तथा संचार माध्यमों (मीडिया) ने जन सामान्य के पर्यावरण संबंधी मुद्दों के बोध को आधार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विभिन्न स्वैच्छिक संगठनों ने अनुच्छेद 19 (1) (क) में प्रदत्त मूलभूत स्वतंत्रता का प्रयोग करते हुए पर्यावरण से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाया है। जैसे केरल शास्त्र साहित्य परिषद तथा अन्य स्वैच्छिक संगठनों, पर्यावरणविदों एवं संचार माध्यमों (मीडिया) ने सरकार को साइलेन्ट वैली प्रोजेक्ट (समृद्ध सदाबहार वर्षा वनों का क्षेत्र) को छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। इसी प्रकार एन्वायरमेन्ट सोसाइटी ऑफ चंडीगढ़ एवं सेन्टर फॉर साईंस एण्ड एन्वायरनमेंट के प्रयास सराहनीय रहे हैं। मिनरल वाटर एवं पेप्सी के विरुद्ध संघर्ष ने इन कंपनियों को रासायनिक पदार्थ मुक्त जल अपने उत्पादों के लिए प्रयोग करने को बाध्य कर दिया है।

अनुच्छेद 19 (छ) सभी नागरिकों को व्यापार तथा धंधा करने की स्वतंत्रता का अधिकार देता है। यह अधिकार भी उन्मुक्त नहीं है। इस पर अनुच्छेद 19 (6) के अंतर्गत जनता के व्यापक हित में यथोचित प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं।

इसी अनुच्छेद के तहत एम. सी. मेहता (1996) के केस में उच्चतम न्यायालय ने निर्देश दिया था कि खतरनाक, हानिकारक तथा बड़े पैमाने पर दिल्ली में चल रहे उद्योगों को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के अन्य उपनगरों में पुनर्स्थापित किया जाए। इसी प्रकार उच्चतम न्यायालय ने 1996 में हरियाणा स्थित बडखल तथा सूरजकुंड के पर्यटन स्थल के दो किलोमीटर के दायरे में उत्खनन गतिविधियों पर रोक लगाने के आदेश दिए थे क्योंकि इस प्रकार की गतिविधियाँ स्वास्थ्य एवं पर्यावरण के लिए खतरनाक थीं।

न्यायमूर्ति श्री रंगनाथ मिश्र, उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एवं पूर्व अध्यक्ष, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अनुसार प्रदूषण और भूमंडलीय समस्याएं संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत आती हैं। यदि यह सत्य है तो पर्यावरण का मामला

स्पष्ट रूप से मानवाधिकार में आता है। इसी आशय पर आयोग ने पश्चिम बंगाल में आर्सेनिक से पानी के प्रदूषित होने के प्रकरण में हस्तक्षेप भी किया था।

अनुच्छेद (1) जीने के अधिकार तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारंटी देता है। न्यायाधिकरण द्वारा एक विस्तृत व्याख्या दी गई है जिसमें स्वच्छ पर्यावरण के मूलभूत अधिकार को सम्मिलित किया गया है।

सन् 1976 में राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों में 42वें संविधान संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 48 क जोड़ा गया है जो घोषणा करता है कि देश में सरकार पर्यावरण की रक्षा व संवर्धन के लिए एवम् वनों तथा वन्य जीवन की सुरक्षा के लिए प्रयास करेगी। सन् 1976 से पहले पर्यावरण राज्यों की सूची में था परंतु 42 वें संशोधन के बाद यह समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लिया गया।

अनुच्छेद 51 क (छ) (मौलिक कर्तव्य) हर नागरिक पर यह उत्तरदायित्व डालता है कि वह वनों, झीलों, नदियों तथा वन्य जीवन सहित प्राकृतिक वातावरण का संरक्षण तथा सुधार करें तथा जीवित प्राणियों के प्रति करुणा रखें।

अनुच्छेद 47, 48 तथा 51 (क) (छ) के अनुसार राज्य का यह कर्तव्य है कि वह पर्यावरण तथा नागरिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा सुधार करें और जनता के लिए प्रदूषण रहित जल, वायु तथा पर्यावरण सुलभ कराएं।

अनुच्छेद 32 के तहत उच्चतम न्यायालय को तथा सभी उच्च न्यायालयों को अनुच्छेद 226 के अंतर्गत न्यायाधिकार प्रदान किए गए हैं। जनहित याचिकाओं ने भी पर्यावरण संरक्षण संबंधी मुद्दों को लागू कराने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जैसे कि:–

(क) भारतीय संघ बनाम एम. सी. मेहता मामले (1991) में उच्चतम न्यायालय ने जनता में पर्यावरण संबंधी जागरूकता बढ़ाने के उद्देश्य से निम्नलिखित निर्देश जारी किए :–

 (1) सभी सिनेमा हाल, वीडियो पार्लर्स अनिवार्य रूप से कम से कम हते में दो पर्यावरण एवं प्रदूषण संबंधी फिल्मों को दिखाएंगे।

 (2) दूरदर्शन एवं आकाशवाणी द्वारा पर्यावरण तथा प्रदूषण संबंधी कार्यक्रम का प्रसारण प्रतिदिन 5 से 7 मिनट तथा सप्ताह में एक बार लंबी अवधि का कार्यक्रम प्रसारित किया जाएगा।

 (3) विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में छात्रों के लिए पर्यावरण को अनिवार्य विषय बनाया जाए।

(ख) उच्चतम न्यायालय ने आगरा स्थित विश्व विख्यात ऐतिहासिक धरोहर ताजमहल को बचाने के लिए 292 कोयला आधारित उद्योगों को बंद करने तथा अन्यत्र

ले जाने या गैस, ईंधन आधारित बनाने के उद्देश्य से आदेश पारित किए। न्यायालय ने 1997 में पर्यावरण तथा वन मंत्रालय एवं पर्यटन मंत्रालय के सचिवों को भी निर्देश दिए कि पर्यटकों से एकत्र किया गया कोष स्मारक के संरक्षण एवं सौंदर्यीकरण पर व्यय किया जाए।

(ग) उच्चतम न्यायालय ने वाहनों से होने वाले प्रदूषण को रोकने के लिए निम्नलिखित निर्देश जारी किए :–

(1) सीसा रहित पेट्रोल का प्रयोग चार महानगरों (दिल्ली, मुंबई, कोलकता, चेन्नई) तथा सन् 2000 तक पूरे देश में हो।

(2) नए पंजीकृत पेट्रोल वाहनों में केटालिटिक कन्वर्टर लगे होने चाहिए।

(3) दिल्ली में अप्रैल, 2001 तक टैक्सियों, ऑटो रिक्शा तथा बसों में सी.एन.जी. का प्रयोग।

जून 1972 में स्टॉकहोम में संपन्न मानव पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशन के अनुसार मनुष्य अपने पर्यावरण का निर्माता एवं शिल्पकार दोनों ही है जिससे उसे भौतिक स्थिरता मिली है। इस ग्रह पर मनुष्य जाति की एक लंबी तथा पीड़ादायक उत्क्रमण यात्रा में एक ऐसी स्थिति आ गई है जब विज्ञान तथा तकनीकी के तीव्र विस्तार के द्वारा मनुष्य ने एक प्रकार से अभूतपूर्व स्तर पर अपने पर्यावरण की कायापलट करने, की क्षमता प्राप्त कर ली है। पर्यावरण के प्रकृति प्रदत्त और मानव निर्मित दोनों पक्ष उसकी सलामती तथा उसके आधारभूत मानवाधिकार के लिए आवश्यक हैं।

महिला सशक्तिकरण : मानवाधिकार की एक आवश्यकता

* डॉ0 सुनीता मिश्र

यह सर्वविदित है कि नारी तेजस्विनी है तथा उसमें मानवोचित गुण भी हैं। वैदिक युग में भारत में स्त्रियों की सामाजिक दशा पुरुषों के समकक्ष थी। कालांतर में समाज–व्यवस्था धीरे–धीरे रुग्ण होती गई तथा स्त्री का स्थान गौण होता गया। उसे घर की चहारदीवारी में कैद कर दिया गया। बालिका शिशु–हत्या, बाल विवाह, पर्दा प्रथा और सती प्रथा जैसी कुरीतियों का समावेश होता गया। मध्यकाल नारी जाति के लिए अंधकार का युग था जिसमें नारी पराधीनता की जंजीरों में जकड़ती चली गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संविधान में महिलाओं को बराबरी के अधिकार दिए गए। महिलाओं ने भी विधि कार्यक्षेत्रों में ऊंचाई हासिल की किंतु विकृत मानसिकता वालों ने उन्हें हमेशा 'भोग की वस्तु' के रूप में ही देखा। स्त्री आज भी यौन–शोषण और यौन–प्रताड़ना का शिकार है। लेकिन, एक सकारात्मक पहलू यह है कि अपसंस्कृति के इस झंझावात में भी भारतीय नारी गर्व और स्वाभिमान से उठ खड़े होने की क्षमता दिखा रही है। देश–समाज की प्रगति के लिए महिलाओं का हर क्षेत्र में सशक्तीकरण जरूरी है।

प्रकृति की संपूर्ण सृजनात्मकता और अलौकिक चेतना का मूर्त रूप नारी है। जगत में जो कुछ भी दृश्य है उससे सँवारने और उसकी उपस्थिति को कमनीय, सौंदर्यपरक और प्राणिहितार्थ बनाने में जो अदृश्य चेतना कार्य करती है, वह नारी चेतना ही हैं। पुरुष और नारी इस संपूर्ण प्रकृति के दो ध्रुव हैं। दोनों का अपना अलग–अलग अस्तित्व है। दोनों की अपनी सार्थकता है। दोनों के सामंजस्य से ही यह सृष्टि पल्लवित व पुष्पित होती है। पुरुष–शक्ति जहाँ अन्वेषण और विध्वंस का प्रतीक है, तो दूसरी ओर नारी–शक्ति सृष्टि के सँवरने और लालित्यपूर्ण संयोजन का सूत्रधार है। पुरुष–शक्ति अहंता की भावना से कदाचित् अपने मार्ग से विचलित भी हो जाए किंतु

* रीडर, समाज विज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नारी–शक्ति कभी भी टूटना नहीं जानती वह प्रत्युत संक्रमण–काल में भी अपनी अपूर्व लोच का परिचय देते हुए मानव इतिहास के फलक पर अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज कराती आई है।

मानवीय गुणों का चरम विकास जैसा नारी के अंदर है, वैसा पुरुष में नहीं दिखाई देता है। भारतीय सभ्यता के शैशव काल से ही नारी का सम्मान होता रहा है। प्राचीन काल में नारी वंदनीय एवं पूज्य थी।

भारतीय वाङ्मय के आदि ग्रंथ में नारी की गरिमामयी छवि को अंकित किया गया है। ऋग्वेद में स्त्री को यज्ञ में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने के योग्य बताया गया है। वेदों में नारी को गृहस्थ आश्रम की गुरुतर धुरी वहन करने की प्रेरणा तो दी ही गई है, समय आने पर उसे वीर भावनाओं से युक्त होकर प्रचंड कर्मों में लग जाने का आदेश भी दिया गया है। ऋग्वेद के दशम मंडल का 159वां सूक्त द्रष्टव्य हैः–

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्।।

(10/159/2)

अर्थात् मैं केतु ध्वजा तुल्य हूँ। समाज की मूर्धास्थानीय तेजस्विनी बन सभाओं में प्रभावशील भाषण देने वाली हूँ। मेरा पति मेरी इच्छा, ज्ञान और कर्म के अनुकूल आचरण करता है। इस वीरप्रसू नारी की संतान भी वैसी ही तेजस्विनी है।

ममः पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।।

(10/159/3)

मेरे पुत्र शत्रुओं का नाश करने वाले हैं और मेरी पुत्री भी ज्ञानादि गुणों के कारण विशेष रूप से प्रकाशित होने वाली है। मैं स्वयं भी काम, क्रोधादि विकारों को जीतने वाली तथा बाह्य शत्रुओं का निग्रह करने वाली हूँ। मेरा आचरण और व्यवहार ऐसा है जिससे मेरे पति को उत्तम यश प्राप्त होता है।

शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि पत्नी, पुरुष की आत्मा एवं अद्र्ध अंश है। महाभारत में भी यह उक्ति है कि नारी मनुष्य का आधा भाग है। शिव जी की अर्धनारीश्वर की प्रतिमा भी इसी तथ्य का उद्घाटन करती है। मैत्रेयी, गार्गी, भारती, अपाला, लोपमुद्रा, घोषा आदि नारियाँ अविस्मरणीय हैं।

यह इतिहास सम्मत सत्य है कि वैदिक संस्कृति कालीन भारत में स्त्रियों की सामाजिक दशा पुरुषों के समकक्ष थी। कालांतर में मनु द्वारा प्रणीत वर्ण व्यवस्था एवं श्रम विभाजन के अनुपालन में समाज व्यवस्था शनैः–शनैः रुग्ण होती गई। श्रम विभाजन के आधार पर जीविकोपार्जन संबंधी श्रम पुरुषों और गृह संचालन, पालन–पोषण संबंधी श्रम स्त्रियों के भाग में आया। शारीरिक शक्ति के आधार पर यह विभाजन अन्यथा न

था। परंतु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय स्त्री का दायरा घर की दीवारों तक सीमित होकर रह गया। जिस समाज की आधी शक्ति, लक्ष्मण–रेखा के अंदर बाँध दी जाए उसका बचाव की मुद्रा में आ जाना स्वाभाविक था। इसलिए विदेशी आततायी आक्रमणों से उत्पन्न स्थितियों में बचाव के लिए समाज में बालिका–शिशु की हत्या, बाल–विवाह, पर्दाप्रथा और सती प्रथा जैसी कुरीतियों का समावेश होता गया। ये पतनोन्मुख व्यवस्थाएँ क्रमशः समाज में रूढ़ होती गईं। परिणामतः सैकड़ों वर्षों तक संपूर्ण स्त्रीवर्ग प्रायः अशिक्षित ही रह गया। अशिक्षा और अपने भरण–पोषण के लिए पुरुष–वर्ग पर निर्भरता–इन दो कारणों ने मिलकर, स्त्री को पुरुष का अघोषित दास बना दिया। दूसरी ओर उतनी ही अशिक्षा के चलते इस मनुवादी व्यवस्था में पुरुष ने अपनी शारीरिक ताकत के कारण न सिर्फ स्वयं को श्रेष्ठ मानना शुरू कर दिया बल्कि स्त्री का शारीरिक और यौन शोषण करना भी शुरू कर दिया। पीढ़ी–दर–पीढ़ी चली इन रूढ़िगत व्यवस्थाओं के कारण समाज में स्त्री का स्थान गौण हो गया। प्रख्यात शायर साहिर लुधियानवी की निम्न पक्तियों में नारी का कारुणिक चित्र उभर कर सामने आया हैः–

औरत ने जनम दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाजार दिया।
जब भी चाहा मसला कुचला, जब भी चाहा दुत्कार दिया।।

मध्य युग में नारी की स्थिति में परिवर्तन होता गया। मौर्य एवं गुप्त वंश तक नारी ने अपने प्राचीन गौरव तथा सम्मान की रक्षा की, किंतु उसकी शक्ति धीरे–धीरे प्रतिबंधित होती रही और वर्तमान युग तक आते–आते पराधीन हो गई।

''पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थाविरे भावो न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।

मध्यकाल नारी जाति के लिए अंधकार का युग था। इस काल में नारी पराधीनता की जंजीरों में जकड़ती चली गई। इस युग में या तो नारी अधःपतित होकर आक्रांताओं के रंग महलों की शोभा बन गई या उसने रानी कर्णवती की भाँति जौहर की ज्वालाओं में अपने को समर्पित कर दिया और विधर्मियों को अपने शरीर का स्पर्श तक न होने दिया। बाल विवाह एवं सामंती जीवन की विलासी प्रवृत्तियों ने नारी को घर की चौखट तक सीमित कर दिया। नारी जाति का पतन इसी युग से प्रारंभ हुआ। इस संक्रमण–काल में भी रजिया सुल्तान ने मर्दों की बिसात पर अपनी उपस्थिति को दर्ज कराकर नारी शक्ति की अभूतपूर्व मिसाल दी। उस काल में चौखट की दहलीज लांघकर समाज के फलक पर आना ही एक बहुत बड़ी बात होती थी किंतु रजिया सुल्तान ने न केवल पुरुषों द्वारा निर्मित नियम–कानूनों का अतिक्रमण किया अपितु दिल्ली के तख्त पर एक सशक्त महिला शासक होने का अपना परिचय भी स्थापित किया।

नव जागरण काल में स्त्री–उत्थान के लिए किए गए प्रयासों और भारतीय स्वतंत्रता समर में स्त्रियों द्वारा बढ़–चढ़कर दिए गए योगदान एवं बलिदान के कारण ही भारत गुलामी की बेड़ियों से मुक्त हो सका था। बीसवीं सदी में प्रबुद्ध वर्ग के साथ

स्वयं स्त्रियों ने अपनी आंतरिक शक्ति को पहचानना शुरू कर दिया था। अतः लोकतांत्रिक भारत के संविधान में उन्हें, सामाजिक उत्थान और प्रगति के दृष्टिकोण से बराबरी के अधिकार मिले। स्वतंत्र भारत में शिक्षा के उत्तरोत्तर प्रसार और विकास के क्षेत्र में अवसरों की बहुलता के साथ संपूर्ण विश्व में आर्थिक युग के आगमन से जीवन और सेवा के विविध कार्यक्षेत्रों में स्त्रियों की भागीदारी भी बढ़ती गई। अर्थोपार्जन के क्षेत्र में पुरुष की सहभागी होने पर भी घर की देखरेख और पालन–पोषण के क्षेत्र में उसे पुरुष का अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। स्त्रियों ने जब कभी इस विषय में बात उठानी चाही, पुरुष द्वारा उसे शारीरिक प्रताड़ना मिली। दूसरी ओर सेवा के विविध क्षेत्रों में दहलीज लाँघती स्त्रियों की, स्वतंत्रता की भावना को उनकी स्वच्छंदता का पर्याय मानते हुए विकृत मानसिकता वालों ने उन्हें 'भोग' के लिए सहज उपलब्ध मानते हुए हर संभव यौन प्रताड़ना दी। इस तरह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी बहुमुखी प्रतिभा और अपने बहुआयामी व्यक्तित्व को बार–बार सिद्ध करते रहकर भी स्त्री हमेशा ही, आज भी अपने श्रम एवं यौन–शोषण के लिए अभिशप्त है।

पितृसत्तामक समाज अब भी घर में अपनी बहु–बेटियों को घूँघट या बुर्का में कैद रखना चाहता है। मगर घर के बाहर उसे (विश्व सुंदरियों) चाहिए जो उसका सेवा उद्योग, मनोरंजन व्यवसाय चला सकें और रोज नए ब्रांड बेच सके। विश्व सुंदरियों और नारी चेतना के स्वर जब उसके अपने घर में सुनाई पड़ते हैं तो वह चिल्लाने लगता है, 'परिवार बचाओ......संयुक्त परिवार वापस लाओ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें, तो पितृसत्तातमक समाज में स्त्री के धड़ का सुन्दर सुडौल और सुचारु होना ही, सर्वगुण संपन्न होना माना जाता है। स्त्री सिर्फ सुन्दर धड़ वाली होनी चाहिए। ऐसे अंतर्विरोधी देह के दोराहे पर खड़ी स्त्री के नैतिक संकटों, विस्फोटक स्थितियों, दमन और द्वंद्व के मानसिक उपद्रव हत्या–आत्महत्या–मनोविकृतियों को रेखांकित करना कठिन है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में नारी की स्थिति को सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए गये हैं। संविधान में लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों की स्थापना की गई और इस दृष्टि में संविधान का सबसे बड़ा योगदान देश की नारियों को समान अधिकार प्रदान कराना है किन्तु इस सुविधा से भी भारतीय नारी की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। मैथिलीशरण गुप्त ने नारी की इस कारुणिक स्थिति पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है:–

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में दूध और आँखों में पानी।।

भारत के संविधान में पुरुष एवं महिलाओं के लिए समान संरक्षण व कानूनों का निर्धारण किया गया है। भारतीय समाज में महिलाओं के लिए संविधान में मूलभूत अधिकारों

की गारंटी दी हुई है और संविधान निर्माताओं ने उनके लिए जहाँ आवश्यकता हो, विशेष विधायी सहायता भी प्रदान की है, लेकिन संविधान की स्वीकृति के पांच दशक बीत जाने के बाद भी अभी तक महिलाओं के विरुद्ध उग्रता में कोई कमी नहीं आई है।

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 933 है कि परन्तु वर्ष की आयु वर्ग में यह अनुपात केवल 927 ही है।

पुत्र एवं पुत्रियों के बीच भेदभाव समाज में प्रारंभ से ही दृष्टिगोचर होने लगता है। पारंपरिक दृष्टिकोण से बेटों को जन्म से ही पूजा जाता है किंतु बेटियों को जन्म लेने के बाद से ही पराया धन मान लिया जाता है। पुत्र की कामना किए जाने का कारण माता–पिता की मृत्यु के बाद उनका अंतिम संस्कार करने का उसका अधिकार है। इसके अतिरिक्त पुत्र से परिवार का नाम और वंश भी चलाता है। पुत्र बूढ़े माता–पिता का आर्थिक सहारा बनता है। धर्म पर आधारित कानूनी व्यवस्थाओं में भी पुत्र–पुत्री के बीच भेदभाव रखा गया है। वैवाहिक अलगाव, सांपत्तिक अधिकार, बच्चों को रखने का अधिकार संबंधित नियमों में यह अंतर स्पष्ट हो जाता है।

पुत्री को तो बचपन के पूरे अधिकार भी नहीं दिए जाते हैं। लड़कियों को मौलिक स्वास्थ्य सेवा, पोषण और शिक्षा का पर्याप्त सुलभता से वंचित रखा जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियां अधिक कुपोषण की शिकार होती हैं। इसी प्रकार परिवारों में लड़कों की शिक्षा पर जितना ध्यान दिया जाता है, उतना लड़कियों पर नहीं दिया जाता है। अधिकांश परिवारों में दहेज का दानव उन्हें व उनके पूरे परिवार को डराता व कोसता रहता है क्योंकि दहेज जुटा पाना एक अत्यंत कठिन एवं अनिश्चय भरा कार्य होता है। अतः सारी उम्र माता–पिता बेटी को कोसते रहते हैं, बात–बात में ताने देते रहते हैं जैसे कि उसने जन्म लेकर कोई अपराध कर दिया है। यही सब कारण है कि आज उसे भ्रूणावस्था में ही नष्ट कर देना एक साधारण बात हो गई जो कि एक हत्या है, पाप है व अमानवीय कृत्य है। यह भारतीय समाज का एक भयावह चित्र प्रस्तुत करता है। इन को दृष्टिगत रखते हुए केंद्र सरकार व राज्य सरकार द्वारा समय–समय पर महिला कल्याण हेतु अनेक कार्यक्रम एवं योजनाएं चलाई जा रही है। कन्या विद्या धन व आँगनवाड़ी जैसे कार्यक्रम महिला सशक्तीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। कन्या भ्रूण–हत्या को रोकने के लिए केंद्र सरकार द्वारा "प्रसव पूर्व नैदानिक तकनीक (नियमन एवं दुरुपयोग से बचाव) अधिनियम, 1994 में बनाया गया तथा जनवरी 1, 1996 को लागू किया गया।

इस कानून में गर्भस्थ भ्रूण के लिंग–परीक्षण पर प्रतिबंध लगा दिया गया है तथा इसका उल्लंघन करने वालों के लिए 3 से 5 वर्ष तक के कारावास एवं 30 से 50 हजार रुपये तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

महिलाओं के मानवीय अधिकारों के संरक्षण के लिए सन् 1990 में राष्ट्रीय महिला

आयोग की भी स्थापना की गई है। मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामलों पर राष्ट्रीय महिला आयोग को सक्रिय एवं सशक्त कार्रवाई करने का अधिकार प्राप्त है। यह आयोग पुलिस एवं जेल अधिकारियों के विरुद्ध भी कार्रवाई कर सकता है। इस प्रकार महिलाओं की स्थिति को समाज में और सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य कई कानून भी हैं। महिलाओं के स्वास्थ्य एवं पोषण हेतु स्वास्थ्य कल्याण मंत्रालय द्वारा न केवल शहरी क्षेत्रों में बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं ताकि प्रसव के दौरान मृत्यु व महिला के सामान्य स्वास्थ्य के क्षरण को रोका जा सके।

मृणाल पांडेय ने अपनी कृति "स्टेपिंग आउटः लाइ् ऐंड सेक्सुअलिटी इन रूरल इंडिया" में दिखाया है कि किस तरह महिला के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य संबंधित सभी फैसलों पर बेईमान पुरुष ही हावी रहते हैं। परंपरा से हटकर किया गया कोई भी काम उनके लिए अपमानजनक होता है। समाज में स्त्रियों को देवी कहकर भले ही पूजा जाता है परन्तु परिस्थितिवश सीता जैसी देवी को भी घर छोड़ना पड़ा। सामान्यतया समाज में सदैव स्त्रियों को दोयम दर्जा दिया जाता रहा है।

इन हालात में रातों रात किसी आमूल बदलाव की कल्पना करना अब भी किसी फंतासी से कम नहीं है। लेकिन धीरे–धीरे और खामोशी से औरतों की दुनिया में एक ठोस बदलाव रूपाकार ले रहा है, जिसकी अनदेखी बहुत दिनों तक शायद नहीं की जा सकेगी और यह ऐसे समय हो रहा है, जब अपसंस्कृति में पनप रहा सौंदर्य बाजार और अश्लील साहित्य महिलाओं के जीवन में दर्द, अपराध बोध और शर्म उडेलने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। नारी को नुमाइश और भोग की वस्तु के बतौर पर चित्रित करने का उपक्रम इतनी आक्रामकता से कभी नहीं चला था। लेकिन इस झंझावात में भी भारतीय नारी गर्व और स्वाभिमान से उठ खड़े होने की क्षमता दिखा रही है। भाग्य में भारी असामनता होने के बावजूद अभिव्यक्ति की चाहत आज सभी तबकों की नारी की जुबान पर है।

आज राजनीति से लेकर विमान उड़ाने तक के कार्यों में महिलाएं कार्यरत हैं। स्त्रियों ने अपने जैसे तथाकथित पुरुषोचित व्यवसायों को बहुत तेजी से चुना है और उनमें सफल हुई हैं। इतना ही नहीं धर्म क्षेत्र भी उनसे अछूते नहीं है। धर्म का उपदेश देने वाले पुरुषों के अधिकार क्षेत्र में भी स्त्रियां प्रवेश कर चुकी हैं। पुरुषों के समान वे भी साम, दाम, दंड, भेद की नीति से अपना कार्य करने में सक्षम हो चुकी है। आयरन लेडी माने जाने वाली मारग्रेट थैचर, इंदिरा गाँधी और अब सोनिया गाँधी ने अपने आप को राजनीतिक बिसात पर सक्षम सिद्ध किया है। इन सबों के अतिरिक्त मुधा पाटेकर अरूंधती राय, शबाना आज़मी, सुर–सम्राज्ञी लता मंगेशकर, आशा भोसले आदि ने अपने–अपने क्षेत्रों में नारी शक्ति की अपूर्व मिसाल कायम की है। इतिहास के पृष्ठों में रानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, गेगम हजरत महल, चांदबीबी आज भी प्रकाश स्तम्भ के रूप में स्थित है, जिससे युगों–युगों तक समाज को नई दिशा प्राप्त होती रहेगी।

कल्पना चावला नासा की सक्रिय सदस्य बनकर अंतरिक्ष तक जा पहुंची थीं। आज की स्त्री प्रातः10 बजे से अपराह्न 5.30 बजे तक की रूटीन ड्यूटी से अलग विभिन्न पालियों में काम करने से नहीं हिचकती है। केंद्र सरकार ने भी नारी के इस नए रुख का सम्मान करते हुए पुराने कानून में संशोधन करके अब रात्रि में भी स्त्रियों को अपने रोजगार परक कार्य में संलग्न होने की अनुमति दे दी है। समाचार पत्रों और टेलीविजन चेनलों में उसने अपनी अलग पहचान बनाई है। पुरुषों के एकाधिकार माने जाने वाले क्षेत्र पत्रकारिता में भी महिलाओं ने अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी है। पत्रकार बरखा दत्त कवरेज के लिए युद्ध के दौरान कारगिल गईं और वहां सफलतापूर्वक अपने दायित्वों का निर्वाह किया। अपने आत्म–विश्वास और काम के प्रति लगन के कारण महिलाओं ने अपने आपको हर उस मुकाम पर खड़ा किया है जिसे पुरुष अपने लिए सुरक्षित समझता है।

आधुनिक दौर की स्त्री इस बात को सही साबित करती है कि वह किसी मायने में पुरुषों से कम नहीं है। भले ही उस पर भावनाओं का जोर चलता हो लेकिन उसकी शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती है। घर–परिवार की जिम्मेदारियों को निभाते हुए बाहर की दुनिया में उसने अपनी सशक्त पहचान बनाई है। अब वह उस मुकाम तक पहुंच रही है, जहां पहले केवल पुरुषों की पहुंच होती थी।

निस्संदेह समाज के सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने अपनी क्षमता साबित की है। इसलिए सत्ता में समुचित भागीदारी के बिना महिलाओं की बेहतरी की तलाश की बात बेमानी है। तब तो और जब अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने भारत में महिलाओं की स्थिति असंतोषजनक बताई है। फिर स्त्रियों को विकास और उन्नति के परिदृश्य से बाहर करके महाशक्ति बनने की कल्पना भी कैसे की जा सकती है? लोकतांत्रिक संस्थाओं में महिलाओं की अधिकाधिक उपस्थिति लोकतंत्र की मजबूती और सार्थकता के लिहाज से भी अनिवार्य है क्योंकि कविवर जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में नारी नाम श्रद्धा का है, विश्वास का है। अतएव, नारी के सशक्तिकरण से ही एक सशक्त समाज उभर कर सामने आएगा और उसकी शीतलता के छाँव तले ही मानवता पुष्पित और पल्लवित हो सकेगीः–

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत, नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।"

नयी सहस्राब्दी में हिंसा से नारी की सुरक्षा: कितनी यथार्थ कितनी मिथ्या

* डॉ0 हेमलता

पिछले कुछ दशकों में महिलाओं की सुरक्षा और उनके उत्थान के लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कानूनी प्रयास किए गये हैं। सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू., 1993 का वियना डिक्लरेशन ऑन द एलिमिनेशन ऑफ वायलेंस अगेंस्ट वीमैन, 1995 का बीजिंग सम्मेलन आदि इस दिशा में किए गये सराहनीय प्रयास हैं। परन्तु इन सब के बावजूद महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न प्रकार की हिंसक घटनाएं आज सामान्य घटना बन गयी हैं। भारत में तो स्थिति और भी भयावह है। भ्रूण हत्या, घरेलू हिंसा, बलात्कार आदि ऐसी शर्मनाक हिंसक घटनाएँ हैं जो आज के सभ्य समाज के लिए कलंक हैं। इन घटनाओं से मुक्ति के लिए राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नित्य नवीन प्रयास किए जा रहे हैं पर केवल संवैधानिक प्रयास काफी नहीं हैं; आवश्यकता है मानव मूल्यों को पुनः परिभाषित करने और व्यक्ति के सोच में परिवर्तन लाने की।

विज्ञान और इंजीनियरिंग में महिलाओं के पीछे रहने की वजह प्राकृतिक या जेनेटिक भी हो सकता है।[1] अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यक्ष लैरिंस समर्स के इस वक्तव्य की विश्व में सर्वत्र आलोचना हुई कि यह सब जैनेटिक वजहों से नहीं वरन् सामाजिक कारणों से है। शायद वह भूल गये कि इंग्लैंड की मेरी वोल्सट्नक्राट ने अपनी विश्व प्रसिद्ध कृति 'दि विंडिकेशन ऑफ राइट्स ऑफ वूमैन' (1792) में स्त्रियों के समान अधिकारों की मांग करते हुए उनके प्रति हो रहे भेदभाव को अन्यायपूर्ण सामाजिक ढांचे के साथ जोड़कर देखा। वास्तव में स्त्रियों की अबोधता और अज्ञान उनकी शोचनीय अवस्था के कारण थे। उनका विचार था कि मस्तिष्क का कोई लिंग नहीं होता। महिलाएं विवेक युक्त होती हैं। परंतु सदियों के अत्याचार ने उन्हें इससे वंचित कर दिया है।[2] उन्होंने इस बात पर बल दिया कि नारी की आचार शैली में क्रांति

* रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, एस.एस. सी पी.जी. महाविद्यालय, हापुड़ (उत्तर प्रदेश)

[1] टाइम्स ऑफ इंडिया, 28 जून 2005

[2] मेरी वाल्सट्नक्राट, लंदनः एवरीमैन, 1792/1995, पृष्ठ 11

पैदा की जाय और उसकी विलुप्त गरिमा को पुनः स्थापित किया जाय। स्त्रियों की बोधशक्ति एवं तर्कबुद्धि के विकास हेतु शिक्षा, कार्य एवं राजनीति में उन्हें पुरुष के समान अवसर प्रदान किये जाने चाहिए। 19वीं शती के अंत में तथा 20वीं शती के पूवार्द्ध में अमेरिका की एलिजाबेथ केडी स्टेंटन, सूसान बी. एंथोनी एवं अन्य महिलाओं के लिए वोल्सट्नक्राट प्रेरणा का स्रोत बनीं, जिन्होंने नारी मुक्ति आंदोलन को नये संवेग के साथ आगे बढ़ाया। वर्ष 1848 में इतिहास प्रसिद्ध विश्व का प्रथम महिला सम्मेलन सेनेका फॉल्स, न्यूयार्क अमेरिका में आयोजित करते हुए केड़ी स्टेंटन ने यह आवाज बुलंद की कि सभी पुरुष एवं महिलाएं समान बनाये गये हैं। सभी को उनके निर्माता द्वारा अहस्तांतरणीय अधिकार प्रदान किये गये हैं जिनमें जीवन, स्वतंत्रता एवं प्रसन्न रहने के अधिकार प्रमुख है।[3] इन महिलाओं के योगदान को संपूर्ण विश्व में मुक्त कंठ से स्वीकार किया गया है। उस समय प्रदीप्त की गयी महिला अधिकारों की यह अग्नि शिखा आज भी विश्व के कोने–कोने को प्रकाशित कर रही है।

विश्व स्तर पर महिला अधिकारों के रक्षार्थ प्रयास

अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में पिछले कई दशकों से महिला अधिकारों के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में महत्वपूर्ण क्रियाकलाप होते रहे हैं। 1945 में विश्व में शांति और सहयोग स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। संघ के चार्टर की प्रस्तावना में ही यह घोषित किया गया कि इसकी स्थापना मानव पीढ़ी को युद्ध की विभीषिका से बचाने, मौलिक अधिकारों की रक्षा करने, मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा करने एवं महिलाओं एवं पुरुषों के अधिकारों की समानता में विश्वास सुदृढ़ करने के लिए की गयी है। संघ के तत्वावधान में मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणापत्र, 1948 स्वीकार किया गया।[4] महिलाओं के अधिकारों के विकास–क्रम को चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है:–

(1) प्रथम चरण 1945–1962 के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महिलाओं के अधिकारों को विधिक मान्यता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। 1946 में मानव अधिकार आयोग एवं महिलाओं के लिए आयोग (कमीशन ऑन दी स्टेट्स ऑफ वीमैन) का गठन किया गया।

(2) द्वितीय चरण 1963–1975 के अंतर्गत महिलाओं के अधिकारों को अधिक से द्वारा मान्यता प्रदान की गई। वर्ष 1975 को अंतरराष्ट्रीय महिला–वर्ष घोषित किया गया व इसी वर्ष मेक्सिको में प्रथम विश्व सम्मेलन आयोजित किया गया। जिससे महिला अधिकारों के इस आंदोलन को गति मिली एवं विश्व स्तर पर महिलाओं

[3] एलिजाबेथ, केडी स्टेंटन, सूसान बी एंथोनी, एम.जी.गेज (सम्पा.) हिस्ट्री आफ वीमेंस सफरेज, टवस. प्प 1848–1861; रोचेस्टर, न्यूयार्क; चार्ल्समान, 1881 / पृ0 70

[4] कृपया देखें ह्यूमन राइट्स आफ वीमैनः 25. कलैक्शन आफ इन्टरनेशनल नारमेटिव इन्सट्रूमैन्ट, मोनाइट्स एण्ड व्लादी मीर, बोलोडीन, यूनेस्को फ्रांस, 1989

ने इसमें सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारम्भ किया। प्रथम विश्व महिला सम्मेलन का लक्ष्य 'समानता, विकास एवं शांति' निर्धारित किया गया।

(3) तृतीय चरण 1976–1985 इस दशक को 'महिला दशक' घोषित किया गया। कोपनहेगन में 1980 में दूसरा विश्व महिला सम्मेलन आयोजित करते हुए महिलाओं के अधिकार एवं स्वतंत्रता के लिये किये गये प्रयासों का मूल्यांकन किया गया। 1985 में नैरोबी में तृतीय विश्व सम्मेलन हुआ जिसमें महिलाओं को विकास प्रक्रिया में 'आवश्यक सहयोगी' माना गया जबकि इससे पूर्व विचारणीय विषय यह था कि महिलाओं का विकास कैसे सुनिश्चित किया जाय। महिलाओं की भूमिका के इस परिवर्तन को स्थायी रूप प्रदान करने के लिये नैरोवी में 'भविष्य योजना' बनायी गयी। इससे पूर्व 1979 में महिलाओं के प्रति भेदभाव समाप्त करने के लिए महत्वपूर्ण घोषणा कन्वेंशन फॉर दि एलीमिनेशन ऑफ फार्म्स ऑफ ऑल डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट विमेन (CEDAW) स्वीकार की गयी। यह घोषणा महिलाओं के अधिकारों के लिए अंतरराष्ट्रीय 'मैग्ना कार्टा' के रूप में प्रसिद्ध है।

(4) 1986 से वर्तमान समय तक–1993 में वियना में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में 'डिक्लरेशन ऑन दि एलिमिनेशन ऑफ वायलेंस अगेंस्ट वीमैन' स्वीकार किया गया जिसके द्वारा सार्वजनिक एवं पारिवारिक क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के कारणों को समाप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। 1995 में बीजिंग में महिलाओं का चौथा विश्व सम्मेलन हुआ जिसमें 'महिलाओं के अधिकारों' को 'मानव अधिकारों' के रूप में मान्यता प्रदान की गई। इस सम्मेलन में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया कि महिलाओं का सशक्तिकरण सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में सुनिश्चित किया जाय जिसके लिए निर्णयपरक प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी आवश्यक है। इस सम्मेलन की सफलता इस बात में निहित थी कि इसके द्वारा महिलाओं की समानता का मार्ग प्रशस्त किया गया। भारत उक्त सभी कन्वेंशस का हस्ताक्षरकर्त्ता है।[5]

महाशक्ति भारतः ज्वलंत प्रश्न

अमेरिका की इंटेलिजेंस एजेंसी की जनवरी 2005 में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार भारत आगामी 15 वर्षों में महाशक्ति के रूप में उभरेगा क्योंकि भारत की संस्थाएं प्रजातांत्रिक हैं।[6] महाशक्ति की राह पर बढ़ते हुए भारत के समक्ष कुछ यक्ष प्रश्न चुनौती प्रस्तुत कर रहे हैं। भारत की 50 करोड़ महिलाएं जो उसके अर्द्ध आकाश को सुशोभित कर रही हैं क्या भारत अपने महिला सशक्तीकरण के दावों पर खरा उतर रहा है? क्या

[5] कृपया देखें इयान ग्राउनली एण्ड जी गुडविन गिल (सम्पा.) बेसिक डॉक्यूमैन्ट ऑन हयूमन राइट्स IV एड. (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2002)

[6] इंडियन एक्सप्रेस 15 जनवरी 2005

हमारा पितृसत्तात्मक समाज नारी के लिए लैंगिक निष्पक्षता व समानता सुनिश्चित करने में समर्थ रहा है? क्या हम महिलाओं को शिक्षा, कार्यक्षेत्र व राजनीति में समुचित स्थान प्रदान करते हुए हिंसा, उत्पीड़न व लिंग भेद से उन्मुक्त वातावरण देने में समर्थ रहे है?

लुप्त कन्याएं और सामाजिक संतुलन

भारतीय समाज का कड़वा सच यह है कि सरकारी प्रयासों के बावजूद 20वीं सदी में पुरुष–महिला अनुपात में लगातार गिरावट आयी है। नोबल पुरस्कार विजेता डॉ0 अमर्त्य सेन ने इस स्थिति पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा है कि भारत की '370 मिलियन मिसिंग वूमैन' अर्थात् 37 करोड़ लुप्त महिलाएं कहां हैं?[7] उदारीकरण व वैश्वीकरण के दशक में अर्थात् 1991 से 2001 में महिलाओं की संख्या में सबसे अधिक गिरावट आई है। 1901 में 1000 पुरूषों पर 972 महिलाएं थीं जो सदी के अन्तिम दशक में 933 रह गयीं। सन् 1991 में यह संख्या घटकर 927 ही रह गयी थी। सन् 2001 में 6 अंकों की वृद्धि हो गयी थी। परंतु जनगणना के आंकड़ों में चौकाने वाला तथ्य यह है कि पिछले दशक में शून्य से छह की आयु समूह के बच्चों में बालिकाओं की संख्या के अनुपात में अठारह (18) अंकों की कमी हुई है। 1991 में 1000 बालकों पर 945 की संख्या घटकर वर्ष 2001 में यह 927 रह गयी है।

तालिका

भारत में स्त्री–पुरूष अनुपात

वर्ष	स्त्री–पुरुष अनुपात (प्रति हजार पुरुषों पर महिलाएं)
1901	972
1951	946
1991	927
2001	933

स्रोत–भारत की जनगणना–2001[8]

इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय समाज पितृसत्तात्मक व्यवस्था से अपने को मुक्त नहीं कर पाया है। इसके अतिरिक्त चिकित्सा विज्ञान की अत्याधुनिक देन अल्ट्रासाउंड तकनीक जिसका आविष्कार आनुवंशिक विकारों की रोकथाम व भ्रूण के विकास का पता लगाने के लिए किया गया था, लेकिन इसका दुरुपयोग भ्रूण लिंग परीक्षण के लिए होने लगा। कानूनी प्रतिबंधों के बावजूद भ्रूण लिंग परीक्षण हो रहे हैं चिकित्सीय

[7] डॉ0 अमर्त्य सेन व जीन डी. ओमनिकस, इंडियाः इक्नॉमिक डिवलपमेंट एण्ड सोशल ऑपरचुनिटी; ऑक्सफोर्ड न्यू दिल्ली, 1999 पृ0 140–141

[8] भारत की जनगणना, 2001

गर्भ समापन अधिनियम (एम.टी.पी. एक्ट, 1972) में मुख्य रूप से माता के कल्याण के लिए या फिर भ्रूण में कोई सम्भावित विकृति होने के मामले में कानूनी रूप से गर्भपात कराने का प्रावधान किया गया है। प्री कन्सेप्शन व प्रसव पूर्व नैदानिक तकनीक (नियमन व दुरुपयोग बचाव) अधिनियम, 1994 (पी.सी.पी.एन.डी.टी.एक्ट, 1994) वर्ष 1996 में लागू किया गया एवं वर्ष 2003 में इसमें महत्वपूर्ण संशोधन किए गये जिसके अंतर्गत अकारण और गैरकानूनी भ्रूण हत्या पर 3 वर्षों तक की सजा एवं 50 हजार रु0 के जुर्माने का प्रावधान रखा गया।

परंतु यह दुर्भाग्य का विषय है कि शिक्षा व आर्थिक विकास की दृष्टि से अग्रणी पंजाब, हरियाणा, दिल्ली व चण्डीगढ़ जैसे प्रदेशों में पुरुष महिला अनुपात अंतरराष्ट्रीय औसत से काफी कम है।

पंजाब	1000 पुरुष	874 महिलाएं
हरियाणा	1000 पुरुष	861 महिलाएं

सर्वाधिक विकसित क्षेत्र देश की राजधानी दिल्ली के सम्बन्ध में परिवार कल्याण विभाग के आंकड़े एक कड़वी सच्चाई को प्रस्तुत करते हैं। साउथ दिल्ली का रिकार्ड (1000:762) सबसे खराब है जहाँ प्रत्येक 4 में से 1 लड़की पैदा होने से पहले खत्म हो जाती है।[9] देश में केरल, त्रिपुरा, मिजोरम और सिक्किम ऐसे राज्य हैं जिनमें महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में अधिक है। किसी भी समाज की स्थिरता और विकास के लिए स्त्री व पुरुष अनुपात में समानता होना अति आवश्यक है। पश्चिम के विकसित देशों में पुरुषों की तुलना में महिलाओं का अनुपात अधिक है।

संयुक्त राज्य अमेरिका	1000	:	1029
रूस	1000	:	1041
जापान	1000	:	1040

उच्चतम न्यायालय ने सी.ई.एच.ए.टी. (CEHAT)[10] वाद में महिलाओं की गरिमा को घटाने वाले वैज्ञानिक तकनीकों के दुरुपयोगों को रोकने के लिए यह केन्द्र व राज्य सरकारों को दिशा निर्देश दिए हैं कि वे इस तकनीक का दुरुपयोग करने वाले क्लिनिकों पर प्रतिबंध लगाना सुनिश्चित करें। मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया का सक्रिय सहयोग भी इसमें अपेक्षित है।

लैंगिक समानता सुनिश्चित करना

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय और सार्थक भूमिका निभायी। जिन महापुरुषों ने देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था उनका विचार था कि स्वतंत्र

---

[9] हिन्दुस्तान टाइम्स 6.2.2005

[10] सेंटर फॉर इंक्वायरी इन टू हेल्थ एंड एलाइड थीम्स (CEHAT) प्रति यूनियन ऑफ इंडिया, ए.आई.आर. 2001 एस.सी. 2007

भारत में महिलाओं के लिए बड़े पैमाने पर सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता होगी। महिला समानता के पक्षधर गांधी जी का विचार था–"मैं एक ऐसे संविधान के लिए प्रयास करूंगा, जो भारत को दासता से मुक्ति दिलाए। मैं ऐसे भारत के लिए काम करूंगा जिसमें ऊंच–नीच का भेद न हो, महिलाओं को भी वही अधिकार मिलें जो पुरुषों को प्राप्त हैं।[11] स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिये गये। संविधान में महिलाओं तथा बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था करने का उपबंध भी किया गया है। महिलाओं से संबंधित मामलों में उनके हितों के सुरक्षार्थ एवं उनको बढ़ावा देने के लिए 41 कानून पारित किए गए हैं जिनमें सती निवारक अधिनियम 1986, बाल विवाह रोकथाम अधिनियम, 1929; मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961; देह व्यापार रोकथाम अधिनियम , 1956; महिलाओं का अश्लील प्रदर्शन (रोकथाम) अधिनियम, 1986 आदि प्रमुख हैं।

यह एक विडम्बना ही है कि इन सबके बावजूद भी महिलाओं के प्रति अत्याचारों में कमी नहीं आई है बल्कि ये प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। नेशनल क्राइम ब्यूरो की ताजी रिपोर्ट 'क्राइम इन इंडिया 2002' के अनुसार 35 बड़े शहरों एवं महानगरों में किये गये सर्वेक्षण के आंकड़े अत्यधिक चौकाने वाले हैं। पिछले 4 वर्षों में महिलाओं के प्रति अपराधों में 12 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। एक वर्ष यानि 2001 से 2002 के मध्य महिलाओं के प्रति अपराधों विशेषकर बलात्कार के मामलों में दिल्ली ने बिहार को भी पछाड़ दिया हैं। राजधानी दिल्ली महिलाओं के लिए असुरक्षित स्थल घोषित की गई है। 35 शहरों से लिए गए आंकड़ों के अनुसार बलात्कार के कुल मामलों में दिल्ली का अनुपात 24 प्रतिशत है यानि कुल 1312 मामलों में से दिल्ली में 320 मामले घटित हुए हैं। यही स्थिति छेड़छाड़ व दहेज हत्या के मामलों में भी है।[12] इस स्थिति का अत्यधिक चिन्ताजनक पहलू यह है कि दिल्ली में प्रति लाख जनसंख्या पर 381 पुलिसकर्मी तैनात हैं जबकि राष्ट्रीय औसत 125 पुलिसकर्मियों का है।

घरेलू हिंसा

घरेलू हिंसा प्रत्येक समाज में व्यापक स्तर पर फैली हुई है, जो कि सभी जाति, धर्म, वर्ग, अमीर–गरीब, उद्योगी महिलाओं आदि के अधिकारों के लिए गम्भीर खतरा है। विशेष रूप से पितृप्रधान समाज में महिलाओं के अधिकारों का दमन होता है। दुनिया में प्रति तीन में से एक महिला ने सगे सम्बन्धियों द्वारा हिंसा का अनुभव किया है। अधिकांश महिलाएं ऐसी घटनाओं की सूचना पुलिस को देने के बजाए चुपचाप सहना पसंद करती हैं क्योंकि उन्हें डर होता है:–

- कि ऐसा करने से उनका और अधिक उत्पीड़न होगा एवं उनको परिवार में शर्मिन्दगी व अपमान का सामना करना पड़ेगा।

---

[11] लैंगिक निष्पक्षता सुनिश्चित करना, राष्ट्रीय महिला आयोग, न्यू दिल्ली, 2001, पृ० 11

[12] क्राइम इन इंडिया 2002, नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो, मिनिस्ट्री ऑफ होम अफेयर्स, न्यू दिल्ली

- घरेलू हिंसा के मामलों में व्यथित महिलाओं के पड़ोसी, मित्र व संबंधी कदाचित् ही हस्तक्षेप करते हैं।
- पुलिस ऐसी घटनाओं को वैवाहिक विवाद समझती है और प्रायः ऐसे मामलों को दर्ज करने से इनकार कर देती है।
- यदि रिपोर्ट दर्ज भी कर ली लाए तो भी ऐसे मामलों में महिलाओं के प्रति भेदभाव की झलक न्यायपालिका में भी मिलती है जहां इन्हें तुच्छ माना जाता है।

महिलाएं प्रायः अपनी आर्थिक निर्भरता एवं शक्तिहीनता के कारण ऐसी हिंसा को रोकने में असमर्थ होती हैं। इंग्लैंड में घरेलू हिंसा को रोकने के लिए मैट्रिमोनिअल होम एक्ट, 1976; डोमेस्टिक वायलेंस एण्ड मैट्रिमोनिअल प्रोसिडिंग्स एक्ट, 1976 प्रचलित थे जिनके स्थान पर वर्तमान में फेमिली लॉ एक्ट, 1999 प्रचलित है। इसके अंतर्गत विवाहित महिलाओं को वैवाहिक आवास का अधिकार प्रदान किया गया है। न्यायालय की शरण में जाकर वह अपने आक्रामक पति के विरुद्ध प्रोटैक्शन आदेश (Protection order) प्राप्त कर सकती हैं एवं भविष्य में आक्रामक पति को न्यायालय के आदेश के अंतर्गत हिंसा करने से रोका जा सकता है। इसके उल्लंघन पर 5 वर्ष की सजा तक दी जा सकती है।

अमेरिका में 'दि वायलेंस अगेंस्ट वीमैन एक्ट, 1984 घरेलू हिंसा को रोकने के लिए पारित किया गया जिसके अंतर्गत पीड़ित महिलाएं क्षतिपूर्ति प्राप्त करने की अधिकारी हैं। भारत में घरेलू हिंसा को रोकने के लिए कोई विशेष कानून नहीं है। भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत धारा 498ए, 304बी, 306, 354, 509 दहेज उत्पीड़न एव दहेज आदि के विरुद्ध प्रावधान हैं। इसके अतिरिक्त दहेज निवारक अधिनियम, 1967 एवं सती नियंत्रण अधिनियम, 198 भी लागू है परंतु घरेलू हिंसा को रोकने के लिए कोई ऐसा अधिनियम ऐसे नहीं है जो कि पीड़ित महिलाओं को वैवाहिक आवास एवं प्रोटेक्शन आदेश की गारंटी प्रदान करता हो वैसी भारत में नहीं है। जैसी आवास की सुरक्षा इंग्लैंड व अमेरिका में विवाहित महिलाओं को दी जा रही है।

राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा घरेलू हिंसा रोकने के लिए घरेलू हिंसा संरक्षण विधेयक तैयार किया गया है जो कि महिलाओं को सशक्त बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। प्रस्तावित विधेयक महिलाओं को यह छूट प्रदान करता है कि उनके साथ दुर्व्यवहार करने वालों के साथ वे दीवानी कार्यवाही कर सकती हैं। इसके साथ ही प्रथम सूचना रिपोर्ट भी दायर करके बिगड़ती हुई स्थिति को और अधिक बिगड़ने से रोक सकती हैं। महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्रालय के परामर्श से तैयार घरेलू हिंसा से संरक्षण विधेयक, 2000 का मसौदा संसद में प्रस्तुत किया गया जो कि विचार हेतु मानव संसाधन विकास मंत्रालय से संबंधित संसद की स्थायी समिति को प्रेषित किया गया है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा भी इस पर विचार किया गया है एवं जनवरी 2003 को महिला एवं बाल विकास विभाग को अपने सुझाव हेतु प्रेषित किए गए हैं।

सर्वेक्षण प्रतिक्रिया एवं सुझाव

समय–समय पर सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों द्वारा घरेलू हिंसा के संबंध में सर्वेक्षण किये गये। उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में वानांगना एन.जी.ओ. ने जनवरी 1999 में 30 गांवों में सर्वेक्षण किया एवं यह पाया गया कि पत्नी के साथ मारपीट प्रत्येक परिवार में सामान्य घटना है। अतः जनता में जागरूकता लाने के लिए भिन्न स्थानों पर नुक्कड़ नाटकों का प्रदर्शन किया गया। इसी प्रकार इंटरनेशनल सेंटर फॉर वीमेन ने 1997 में घरेलू हिंसा के संबंध में 8 सर्वेक्षण मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात व कर्नाटक में किये तथा यह पाया गया कि 94 प्रतिशत मामलों में परिवार के सदस्य या रिश्तेदार ही महिलाओं के प्रति हिंसा करते हैं। दिल्ली, लखनऊ, भोपाल, चेन्नई, नागपुर, त्रिवेन्द्रम, वैल्लोर में एक अन्य सर्वेक्षण किया गया उसके अनुसार घरेलू हिंसा की घटनाएं एकल परिवारों में एवं शिक्षित महिलाओं के साथ ज्यादा घटित होती हैं।

वैवाहिक बलात्कार

भारत में वैवाहिक बलात्कार के संबंध में कोई कानून नहीं है। यह माना जाता है कि विवाह के साथ ही पति को पत्नी के साथ बिना किसी शर्त के उसकी स्वीकृति के बिना भी शारीरिक संबंध स्थापित करने का पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता है। परंतु इंग्लैंड में आर. प्रति.आर. (1991)[13] में हाऊस ऑफ लार्ड्स ने यह निर्णय लिया कि पत्नी किसी भी समय इस संबंध में अपनी अप्रकट सहमति (Implied consent) वापस ले सकती है। आस्ट्रेलिया, कनाड़ा, एवं डेनमार्क में वैवाहिक बलात्कार को रोकने के लिए कानून हैं। भारत में भी पितृसत्तात्मक समाज की व्यवस्था से हटकर इस संबंध में कानून बनाए जाने की महती आवश्यकता है।

कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन–उत्पीड़न से सुरक्षा

कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन–उत्पीड़न, आधारभूत मानव अधिकारों के विपरीत होने के नाते, न केवल एक महिला की गरिमा को नष्ट करता है अपितु कार्यस्थल के पूरे माहौल और अन्तः वैयक्तिक संबंधों को भी दूषित करता है जिससे कार्य कुशलता और उत्पादकता का स्तर गिर जाता है। यूरोपियन ह्यूमन राइट्स कमीशन द्वारा कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि ऐसा कोई भी आचरण जो यौन प्रकृति का हो तथा लिंग पर आधारित हो एवं कार्यस्थल पर किसी भी व्यक्ति या महिला की गरिमा को प्रभावित करता हो यौन उत्पीड़न है। इसमें स्पष्ट रूप से मौखिक एवं शारीरिक दोनों ही आचरण सम्मिलित हैं आयोग द्वारा 'व्यवहार संहिता' (Code of practice) भी प्रकाशित की गयी जिसका समर्थन मंत्रिपरिषद द्वारा किया गया। इसके द्वारा नियोक्ताओं एवं कर्मचारियों को यौन–उत्पीड़न के संबंध में विभिन्न दिशानिर्देश दिये गये। यौन–उत्पीड़न कार्य स्थल के वातावरण को दूषित कर देता है

---

[13] (1991), 1 ए.आई.आर. 747

एवं प्रभावित व्यक्तियों के स्वास्थ्य, विश्वास, नैतिकता एवं कार्यक्षमता पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।[14]

इंग्लैंड में कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न

सार्वजनिक/सरकारी अथवा निजी क्षेत्र के किसी कार्यस्थल का वातावरण यौन–उत्पीड़न के कारण महिलाओं के लिए दूषित है अथवा नहीं इसके लिए न्यायालयों द्वारा मुख्य मानदण्ड यह अपनाया जाता है कि क्या किन्ही विशेष परिस्थितियों में विवेकपूर्ण व्यक्ति (Reasonable persons) के द्वारा प्रश्नगत आचरण या वातावरण उत्पीड़न करने वाला माना जायेगा या नहीं। इंग्लैंड में सेक्स डिसक्रिमिनेशन एक्ट, 1975 महिलाओं को सुरक्षित, समान और अनुकूल कार्यस्थल उपलब्ध कराने की दिशा में एक सफल प्रयास है। अधिनियम की धारा 41(1) के अंतर्गत किसी भी कर्मचारी द्वारा नियोजन के दौरान किये गये किसी भी यौन उत्पीड़न के कार्य के संबंध में नियोक्ता स्वयं जिम्मेदार होगा चाहे वह कार्य उसकी जानकारी या स्वीकृति के बिना किया गया हो।

एन्टरप्राइज ग्लास क0 लि0 प्रति. माइल्स (1990)[15] में न्यायालय द्वारा यह निर्धारित किया गया कि यदि नियोक्ता द्वारा कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न रोकने का कोई प्रयास नहीं किया गया हो अथवा बहुत कम प्रयास किया गया हो तो ऐसे मामलों में नियोक्ता के विरुद्ध यौन–उत्पीड़न की उसे जानकारी थी या नहीं वह स्वयं इसके लिए जिम्मेदार होगा। अतः कार्यक्षेत्र में क्या हो रहा है इस संबंध में पूर्णतया सजग रहने की जिम्मेदारी नियोक्ता की है।

स्टीवार्ट प्रति. क्लीवलैंड गैस्ट लिमि0 (1996)[16] यौन उत्पीड़न के प्रस्तुत वाद में पीड़ित महिला द्वारा शिकायत की गयी कि कार्यस्थल पर महिलाओं की ऐसी तस्वीरें लगा दी गयीं हैं जो यौन–उत्पीड़नकारी है। इसमें यह शिकायत भी की गयी कि पीड़िता पर आक्रमण के साथ–साथ अन्यथा भी उसका यौन–उत्पीड़न किया गया। परंतु आक्रमण आदि तथ्यों का उल्लेख उसके शिकायत पत्रों में नहीं था। ट्रिब्यूनल द्वारा यह निर्धारित किया गया कि यद्यपि तस्वीरें महिलाओं की थीं तथापि यौन उत्पीड़नकारी नहीं थी क्योंकि कार्यस्थल पर कार्य करने वाली अन्य किसी महिला द्वारा उन तस्वीरों के विरुद्ध आपत्ति नहीं की गई थी। इसलिए यह कहते हुए कि यद्यपि तस्वीरों के संबंध में आपत्ति तर्कपूर्ण थी तथापि निरपेक्ष रूप से यह नहीं कहा जा सकता था कि विवादित तस्वीरों द्वारा कार्यस्थल पर उत्पीड़न का माहौल बना दिया गया है। अतः दावे को अन्ततः निरस्त कर दिया गया।

कोर्ट ऑफ अपील ने टॉवर बूट क0 प्रति. जोंस (1997)[17] में सकारात्मक दृष्टिकोण

---

[14] हेलेन फेनविक, सिविल लिबरटिज एण्ड ह्यूमेन राइट्स, 3 एडी; कैवेन्डिश पब्लिसिंग, लंदन 2002 पृ0 1009

[15] (1990) आई.आर.आर.एण्ड. आर. 412–15सी

[16] (1996) आई.सी.आर. 254

[17] (1997) आई.सी.आर. 254

अपनाते हुए यह निर्णय दिया कि नियोक्ताओं द्वारा उन सभी साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए जिससे कि कार्यस्थल पर होने वाले उत्पीड़न की उन्हें तुरंत जानकारी मिले और उसे रोकने के तुरंत उपाय किये जा सकें। नियोक्ता यह कहकर अपनी जिम्मेदारी से नहीं बच सकते कि उत्पीड़न का कार्य उनके नियोजन के दौरान नहीं किया गया।

अमेरिका में स्थिति

यद्यपि अमेरिका में राज्य एवं स्थानीय स्तर पर कानून स्पष्ट रूप से कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न का निषेध करते हैं तथापि इस संबंध में कोई संघीय कानून पहले से नहीं था। सिविल राइट्स एक्ट, 1964 के अंतर्गत टाइटल VII कार्यस्थल पर लिंग के आधार पर भेदभाव का निषेध करता है परंतु इसके प्रावधान इस संबंध में अत्यधिक अस्पष्ट थे एवं इसमें इस तथ्य का उल्लेख नहीं था कि यौन–उत्पीड़न लिंग भेद में सम्मिलित होगा अथवा नहीं। सर्वप्रथम फेमिनिस्ट विधिवेत्ता कैथराइन मैक्कीनौन ने अपनी प्रसिद्ध 'सेक्सुअल हरेसमेंट ऑफ द वर्किंग वीमैन' (1979) के द्वारा समाज में इस संबंध में जागृति उत्पन्न की कि कार्यरत महिलाओं का यौन–उत्पीड़न लिंग भेद में ही सम्मिलित है। वर्ष 1986 में इस सिद्वान्त को उच्चतम न्यायालय द्वारा मान्यता प्रदान की गई।[18]

अमेरिका में कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न के मामलों में 'प्रतिकूल कार्य वातावरण' (Hostile work environment) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। उच्चतम न्यायालय ने मेरिटर सेविंग्स बैंक प्रति. मिशेल विंसन (1986)[19] में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि यदि यौन उत्पीड़न द्वारा कार्यस्थल पर वातावरण महिलाओं को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है एवं इसके द्वारा कोई आर्थिक क्षति पीड़िता को नहीं है तो भी इसके द्वारा टाइटल VII का उल्लंघन हो सकता है। प्रस्तुत वाद में महिला कर्मचारी मिशेल विंसन बाद में जिसकी प्रोन्नति असिस्टेंट ब्रांच मैंनेजर के पद पर की गयी बैंक में कार्यरत थी। विंसन के द्वारा बैंक के उपाध्यक्ष टेलर के विरुद्ध टाइटल VII के अंतर्गत शिकायतपत्र प्रस्तुत किया गया कि वह उसका लगातार यौन–उत्पीड़न कर रहे थे। मुख्य न्यायाधीश विलियम रेनक्विस्ट द्वारा विपक्षी को दोषी मानते हुए यह निर्णय दिया गया कि प्रस्तुत मामले में यह पाया गया है कि कार्यस्थल पर विपक्ष के द्वारा प्रतिकूल वातावरण निर्मित कर दिया गया था जो कि पीड़िता के यौन–उत्पीड़न के लिए पर्याप्त था। इस संबंध में पीड़िता को कोई आर्थिक क्षति इस कारण से हुई, महत्वपूर्ण नहीं था।

वर्ष 1972 में टाइटल VII में प्रथम महत्वपूर्ण संशोधन किया गया जिसके द्वारा सरकारी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के साथ–साथ निजी नियोक्ताओं को भी इसके क्षेत्राधिकार में सम्मिलित कर लिया गया एवं इक्वल एम्पलॉयमेंट ऑपरचुनिटि कमीशन (EEOC)

---

[18] सुप्रीम कोर्ट टेसिसन एण्ड वीमैंन्स राइट्स क्लेयर कुशमैन, एडि; एडिजिवजन आफ प्रेस वाशिंगटन, 2001, पृ0 152

[19] 477 यू. एस. 57 (1986)

की शक्तियां भी तद्नुसार विस्तृत कर दी गयीं। वर्ष 1991 से पूर्व टाइटल VII के अंतर्गत यौन–उत्पीड़न न हो इस संबंध में दावा कर सकती थीं परंतु वर्ष 93 में एक अन्य महत्वपूर्ण संशोधन के पश्चात् अब वे क्षतिपूर्ति के लिए भी दावा प्रस्तुत करने के लिए अधिकृत हैं।

1993 में हेरिस प्रति. सिस्ट्रयस इंक[20] वाद में कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न के विषय की विवेचना उच्चतम न्यायलय द्वारा पुनः की गयी। न्यायाधीश सान्ड्रा ओकोंर द्वारा सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि पीड़िता के द्वारा यह प्रमाणित किया जाना आवश्यक नहीं था कि उसे यौन उत्पीड़न के कारण 'गम्भीर मानसिक आघात' जैसे नर्वस ब्रेक डाउन आदि हुआ हो। यदि यौन–उत्पीड़न के द्वारा पीड़िता की कार्यक्षमता प्रभावित हुई है अथवा वह कार्यस्थल पर कार्य करने से हतोत्साहित हुई हो एवं उसकी प्रोन्नति पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है तो यह भी टाइटल VII का उल्लंघन होगा। वर्तमान में न्यायालयों द्वारा यौन–उत्पीड़न के अंतर्गत पुरुष वरिष्ठ अधिकारियों व सहयोगियों अथवा अन्य किसी कर्मचारी के द्वारा महिला कर्मचारियों के साथ किये गये वे सभी आचरण सम्मिलित किये गये हैं जिसमें:–

- इशारे से यौन प्रस्ताव
- अपमानजनक कथन या टिप्पणियां
- अवांछनीय कामुक व्यवहार जैसे अश्लील टिप्पणियां, चुटकी भरना, सीटी बजाना, अश्लील मजाक, अश्लील तस्वीर, फिल्म आदि का प्रयोग
- शारीरिक प्रहार तथा छेडछाड़ सम्मिलित हैं।

न्यायालयों द्वारा पिछले वर्षों में प्रतिकूल कार्य वातावरण के संबंध में मानदण्ड स्थापित किये गये हैं अमेरिका के XI सर्किट कोर्ट ऑफ अपील द्वारा रॉब्रिसन प्रति. जे. शिपयार्ड (1991)[21] में यह प्रतिपादित किया गया कि कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न के मामले में बौद्धिक/विवेकपूर्ण महिला मानदंड (Reasonable woman standard) को अपनाया जायेगा न कि बौद्धिक पुरुष मानदंड (Reasonable man standard) को अपनाया जायेगा।

भारत में कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न रोकने के लिए उच्चतम न्यायालय के दिशा–निर्देश

उच्चतम न्यायालय ने विशाका प्रति. राजस्थान राज्य (1997) मामले में अपने निर्णय में कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन–उत्पीड़न को रोकने के लिए दिशा–निर्देश और मानदण्ड निर्धारित किये। हमारे देश में कार्यस्थल पर यौन–उत्पीड़न रोकने के लिए

---

[20] 510 यू. एस. 17 (1993)

[21] 760 ए. सप्ली., 1486 (एम डी एफ एल ए 1991

कोई भी कानून अथवा अधिनियम नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम प्रशंसनीय प्रयास उच्चतम न्यायालय द्वारा विशाका प्रकरण में किया गया। न्यायालय ने अपने दिशा–निर्देशों में यौन–उत्पीड़न को व्यापक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करते हुए महिलाओं के रक्षोपायों पर बल दिया है। न्यायालय द्वारा यौन–उत्पीड़न को परिभाषित करने में सी.ई.डी.ए.डब्लू (Convention for the Elimination of Discrimination against Women) की धारा 11 का अनुसरण किया गया। न्यायालय द्वारा यौन–उत्पीड़न को रोकने के लिए निम्न निर्देश दिए गए हैं:–

- नियोक्ता विधिक रूप से उच्चतम न्यायालय के निर्देशों को कार्यालय के सूचना पट्ट पर प्रदर्शित करें।
- शिकायत समिति का गठन करें जिसमें महिला की अध्यक्षता में सदस्यों में से आधी संख्या महिला सदस्यों की होनी आवश्यक है।
- नियोक्ताओं के लिए उक्त शिकायत समिति का गठन करना एवं शिकायतों की जांच करना बाध्यकारी है।

एपरेल एक्सफोर्ट प्रमोशन काउंसिल प्रति. ए. के. चोपड़ा (1999)[22] मामले में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री न्यायमूर्ति ए. एस. आनन्द द्वारा यौन–उत्पीड़न की गम्भीर समस्या पर चिंता व्यक्त करते हुए यह कहा गया कि कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन–उत्पीड़न उनकी गरिमा व सम्मान के विरुद्ध है। महिलाओं के लिए स्वस्थ व प्रेरक वातावरण बनाने की आवश्यकता है जिसमें महिला अपने विरूद्व किये गये अत्याचार के विरुद्ध प्रभावकारी आवाज उठा सकें व अपने मूलभूत अधिकारों एवं गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत करने के अधिकार की रक्षा कर सके।

महिला कर्मचारी द्वारा अभियुक्त ए. चोपड़ा, जो कि उसी कम्पनी में प्राइवेट सेक्रेटरी था, के विरुद्ध यौन–उत्पीड़न की शिकायत की गयी। जांच करने के पश्चात् कम्पनी ने अभियुक्त को दोषी पाते हुए जून 1989 में उसकी सेवाएं समाप्त कर दीं। दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा अभियुक्त को नौकरी में पुनः स्थापित कर दिया गया परंतु पूर्व वेतन नहीं दिलाये गये। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय की आलोचना की गयी एवं यह निर्धारित किया गया कि ऐसे मामलों में अभियुक्त के साथ सहानुभूति सर्वथा अवांछनीय थी, जिसका महिला कर्मचारियों के नैतिक बल पर प्रतिघाती प्रभाव होगा।

राष्ट्रीय महिला आयोग व यौन उत्पीड़न (निवारण) विधेयक

विशाका मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्देशों के आधार पर राष्ट्रीय महिला आयोग ने आचार संहिता तैयार की। यह आचार संहिता सभी राज्य महिला

---

[22] (1999) 1 एस.सी.सी. 759

आयोगों, गैर–सरकारी संगठनों, निगमित क्षेत्र की शिखर संस्थाओं, मीडिया, सभी मंत्रालयों तथा सरकारी विभागों को भेजी गई ताकि यह ऊपर से नीचे तक पदाधिकारियों तक पहुंचे और सभी इसका पालन करें।[23] न्यायालय के दिशा–निर्देशों का सार सभी मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालयों को भी भेजा गया। आयोग ने दिशा निर्देशों और मानदण्डों के कार्यान्वयन के लिए वर्ष 2000 से सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, सरकारी तथा गैर सरकारी बैंकों, शैक्षिक संस्थाओं, अस्पतालों आदि के साथ बैठकों का सिलसिला प्रारम्भ किया। इन बैठकों के पश्चात् आयोग का मूल्यांकन इस प्रकार हैं:–

- उच्चतम न्यायालय के निर्देशों का पालन करते हुए अनेक संस्थाओं में शिकायत समितियों का गठन नहीं किया जा रहा है जहां इनका गठन किया गया है, वहां बहुत से मामलों में निम्नलिखित त्रुटियां हैं–

  1. महिलाओं को 50 प्रतिशत प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है;
  2. समितियों के अध्यक्ष पुरुष हैं;
  3. तीसरे पक्ष (गैर सरकारी संगठन) को प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है।

आयोग द्वारा कार्य स्थल पर यौन उत्पीड़न (निवारण) विधेयक, 2000 तैयार करते हुए महत्वपूर्ण सहयोग दिया गया है।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग: उच्चतम न्यायालय के दिशा निर्देशों को कार्यान्वित कराने के लिए सार्थक प्रयत्न:

आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की तैंतीस वर्षीय महिला वकील श्रीमती संगीता शर्मा ने अपने वरिष्ठ अधिवक्ता वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा विजय कुमार एवं अन्य सहयोगियों द्वारा यौन–उत्पीड़न करने के कारण 15 जून 2005 को आत्महत्या कर ली। उसके समक्ष कई अनुचित प्रस्ताव रखे गये, परंतु संगीता ने इन्हें इनकार कर दिया साथ ही उनका विरोध भी किया। संगीता के बच्चे का अपहरण कराने की धमकी दी गई। कई महत्वपूर्ण टेलीफोन कॉल भी उसे की गयीं। इस प्रकार गम्भीर मानसिक आघात के कारण संगीता द्वारा आत्महत कर ली गयी। इसकी शिकायत अस्मिता (एन.जी.ओ.) द्वारा राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (एन.एच.आर.सी.) में की गयी एवं राष्ट्रीय महिला आयोग (एन.सी.डब्लयू) से भी इस संबंध में शिकायत की गयी।

प्रस्तुत प्रकरण में बार काउंसिल आफ इंडिया तथा आंध्र प्रदेश बार काउंसिल को पत्र लिखकर घटना में शामिल तीनों वकीलों का पंजीकरण रद्द करने का अनुरोध किया गया एवं राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के तत्कालीन अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री जे. एस. वर्मा द्वारा विधिक क्षेत्र में महिला अधिवक्ताओं के साथ यौन–उत्पीड़न को राष्ट्रीय स्तर पर कारगर ढंग से नियंत्रित करने हेतु सलाह दी गयी। आयोग द्वारा 29 जुलाई

---

[23] प्रयास का एक दशक खण्ड II 1990–2001, राष्ट्रीय महिला आयोग नई दिल्ली, पृ0 39

2002 को उच्चस्तरीय बैठक बुलायी गयी, जिसमें बॉर काउंसिल ऑफ इंडिया, सुप्रीम कोर्ट बार एसोसिएशन एवं अन्य विभिन्न राज्यों के बार एसोसिएशन में कारगर शिकायत समिति स्थापित करने के संबंध में विचार विमर्श किया गया। उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री पी. चिदम्बरम् द्वारा दिये गये सुझाव पर यह तय किया गया कि जब तक अधिवक्ता अधिनियम 1961 में उपयुक्त संशोधन नहीं हो जाते तब तक इस अधिनियम की धारा 9 में निर्धारित उपबंध के अनुसार बॉर काउंसिल यौन–उत्पीड़न के मामलों के लिए एक अनुशासनात्मक समिति गठित कर सकती है तथा एक वरिष्ठ महिला अधिवक्ता को समिति का अध्यक्ष बना सकती है। आयोग को इस संबंध में भी पत्र प्राप्त हुए हैं कि महिला वकीलों को कई बार अनुभव हुआ है कि न्यायाधीशों का व्यवहार भी उनके प्रति अनुचित होता रहा है। अतः भारत के मुख्य न्यायाधीश से भी आयोग ने इस संबंध में प्रार्थना की है कि इस दिशा में विशाका के निर्देशों का पालन सुनिश्चित कराया जाये। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से भी यह अपेक्षा की गयी है कि वह सभी विश्वविद्यालयों एवं संबंधित महाविद्यालयों में दिशा–निर्देशों का पालन सुनिश्चित कराये।[24] आवश्यकता इस बात की है कि महिलाएं यौन–उत्पीड़न के विरुद्ध अपनी झिझक को छोड़ने के लिए तैयार हों। अपनी शिकायत करने तथा न्याय पाने के लिए आगे बढ़ें। अपने अधिकारों के साथ–साथ उन्हें शिकायत के निवारण तंत्र के प्रति पूर्णरूप से जागरूक बनाया जाना अति आवश्यक है जिसमें गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी महत्वपूर्ण हो सकती है।

बलात्कार, वीभत्स अपराध और उच्चतम न्यायालय के न्याय की ओर बढ़ते कदम

बलात्कार महिलाओं के प्रति वीभत्स अपराध है जिसके लिए प्रत्येक राष्ट्र के कानून में अपराधियों के विरुद्ध कठोरतम दण्ड की व्यवस्था की गयी है। न्यायमूर्ति डॉ0 ए.एस. आनन्द के उद्‌गार इस संबंध में अविस्मरणीय हैं–

बलात्कार महज शारीरिक आक्रमण ही नहीं है बल्कि पीड़िता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए विनाशकारी है। एक हत्यारे के द्वारा तो व्यक्ति के शरीर को नष्ट किया जाता है परंतु एक बलात्कारी जीते जी महिला की आत्मा का पतन कर देता है एवं उसे गरिमा के साथ जीवन व्यतीत करने के अधिकार से वंचित कर दिया है।[25]

बलात्कार से संबंधित मामलों में 1997 एवं इससे पूर्व सर्वोच्च न्यायालय का दृष्टिकोण अनुदारवादी था। परंतु मथुरा रेप केस[26] के पश्चात् न्यायालय के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। मथुरा रेप केस में न्यायालय ने अपराधियों को इस आधार पर छोड़ दिया था कि पीड़िता के शरीर पर कोई चोट नहीं पायी गयी जिसके

---

[24] वार्षिक रिपोर्ट, 2002–2003, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली पृ0 94–98

[25] रंजीत हजारिका वी असम राज्य (1998) टवस. 8 एस.सी.सी. 185

[26] तुकाराम वी. महाराष्ट्र राज्य ए.आई.आर. 1979 एस सी 185

विरुद्ध राष्ट्रव्यापी आंदोलन विभिन्न महिला संगठनों व गैर सरकारी संगठनों द्वारा छेड़ा गया।

- 1996 में गुरमीत सिंह[27] के प्रकरण में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णीत किया गया कि यदि पीड़िता का साक्ष्य पूर्णतया विश्वसनीय है तो इसके लिए संपुष्ट साक्ष्य की कोई आवश्यकता नहीं है। न्यायालय द्वारा यह भी निर्देश दिया गया कि ऐसे मामलों में कार्यवाही इन–केमरा की जानी चाहिए एवं पीड़िता की पहचान गुप्त रखी जानी चाहिए जिससे समाज की उपेक्षा व प्रताड़ना से उसकी रक्षा की जा सके। ऐसे मामलों का निस्तारण करने में महिला न्यायाधीशों को प्राथमिकता दी जाएगी।
- महाराष्ट्र राज्य प्रति. मधुकर नारायन नारडीकर (1990)[28] में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया कि पीड़िता के पूर्व चरित्र को जानना आवश्यक नहीं है।
- साक्षी प्रति समूनियम ऑफ इंडिया (2004)[29] में उच्चतम न्यायालय द्वारा बच्चियों के साथ बलात्कार के मामले में यह व्यवस्था की गई हैं कि धारा 273 सी आर पी सी के अंतर्गत साक्ष्य के समय अभियुक्त की उपस्थिति पीड़िता को आतंकित कर सकती है जिससे वह शॉक की स्थिति में भी जा सकती है। अतः इस भयावह स्थिति से बचाने के लिए पीड़िता व अभियुक्त के मध्य किसी परदे आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे मानसिक आघात से उसकी रक्षा की जा सके।[30]
- पश्चिमी बंगाल के बहुचर्चित बलात्कार काण्ड में अभियुक्त धनंजय को 14 वर्ष की बच्ची के साथ बलात्कार व हत्या के आरोप में वर्ष 2004 में उच्चतम न्यायालय के निर्णयोपरांत फांसी की सजा दी गयी। उच्चतम न्यायालय को 6 वर्षीय बच्ची के साथ दुष्कर्म तथा फिर उसकी हत्या करने वाले आरोपी सतीश को 10 फरवरी 2005 को मौत की सजा सुनायी है।[31] न्यायमूर्ति अरिजित पसायत एवं न्यायमूर्ति एस. एच. कपाड़िया ने इस मामले में इलाहबाद उच्च न्यायालय के फैसले को पलट दिया। परीक्षण अदालत ने कु0 विजयलक्ष्मी, अपर जिला जज मेरठ के द्वारा अपराधी को दी गई सजा–ए–मौत से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि विचारण न्यायालय द्वारा इस मामले को विरलों में विरल की श्रेणी में रखने का निर्णय उचित था। इस फैसले में न्यायमूर्ति पसायत ने लिखा है कि ऐसे जघन्य मामलों में अनुचित सजा सुनाए जाने का समाज पर प्रतिकूल असर पड़ सकता है।

---

[27] पंजाब राज्य वी.गुरमीत सिंह (1996) 2 एस.सी.सी. 384

[28] 1990 (4) एस सी सी 169

[29] ए.आर.आर. 2004 सुप्रीम कोर्ट, पृ0 3566

[30] कृपया देखें, गुड प्रक्टिसिस इन कम्बेटिंग इन कम्बरिंग सैक्सुअल एन्यूस एण्ड सैक्सुअल एक्सप्लोइटेशन आफ चिल्ड्रन एण्ड यूथ इन्ड एशिया, इकानामिक एण्ड सोशियल कमीशन फॉर एशिया एण्ड पैसेफिक, यूनाइटेड नेशन्स, 2001

[31] हिन्दू 11.2.2005

उत्पीड़ित महिला के लिए क्षतिपूर्ति का प्रावधानः

- दिल्ली डोमेस्टिक वर्किंग विमैनस् फोरम प्रति. भारत सरकार (1995)[32] वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने ऐतिहासिक निर्णय में उत्पीड़ित महिलाओं के हितों को बढ़ावा देने के लिए क्षतिपूर्ति (Comepensation) देने का आदेश किया गया। पुरी एक्सप्रेस में यात्रा करती हुई ट्राइबल महिला कर्मियों के साथ सेना के जवानों के द्वारा बलात्कार करके उनका उत्पीड़न किया गया। इस देश में न्यायालय के यह आदेश दिया कि उत्पीड़िता महिलाओं के पुर्नवास एवं क्षतिपूर्ति के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए एवं अपराध न्याय मुआवजा बोर्ड गठित करने की सिफारिश की जानी चाहिए। न्यायालय ने राष्ट्रीय महिला आयोग को निर्देश दिया कि महिलाओं की सुरक्षा के लिए काम करें और महिलाओं के प्रति भेदभाव तथा उन पर होने वाले अत्याचारों की रोकथाम के बारे में विशेष अध्ययन करते हुए अपनी संस्तुति प्रस्तुत करे।

चैयरमैन रेलवे बोर्ड प्रति. चन्द्रिमा दास (2000)[33] एक जनहित याचिका बंगला देश से आयी महिला हनूफा खातून की ओर से कोलकाता उच्च न्यायालय में दायर की गयी। इस महिला का उत्पीड़न हावड़ा रेलवे स्टेशन के यात्री निवास में रेलवे कर्मचारियों द्वारा किया गया। कोलकाता उच्च न्यायालय द्वारा पीड़िता को अन्तरिम सहायता के रूप में 1,00,000/– रु0 का मुआवजा रेलवे से दिलाने के आदेश दिये गये जिसकी अपील उच्चतम न्यायालय द्वारा निरस्त कर दी गयी। न्यायालय द्वारा निर्णय लिया गया कि आर्टिकल 21 के अंतर्गत विदेशी महिला को गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत करने का पूर्ण अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय के उक्त महत्वपूर्ण निर्णयों को जिनमें कि उत्पीड़ित महिला के लिए मुआवजा दिलाने की व्यवस्था की गई है, संहिताबद्ध करते हुए स्थितियों को स्पष्ट किया जाना अत्यंत आवश्यक है।

विश्व में अब तक करीब 100 करोड़ महिलाएं लुप्त हो चुकी हैं [34] आर्थिक विकास की दौड़ में यदि हम महिलाओं के गिरते अनुपात को नहीं रोक पाये तो विकास की सतत् गति अवरुद्ध हो जायेगी। आदर्श स्थिति में पुरुषों व महिलाओं का अनुपात बराबर होना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय निकायों के प्रयास स्वरूप आयोजित सम्मेलनों से पूरे विश्व में महिलाओं के अधिकारों संबंधी आंदोलनों को बल मिला है। इन मंचों पर महत्वपूर्ण घोषणाएं एवं वचनबद्धताएं की गयी हैं। भारत हमेशा ही इन सम्मेलनों में एक प्रमुख भागीदार रहा है। बेजिंग विश्व सम्मेलन के पश्चात् महिलाओं एवं बालिकाओं के अधिकार मानव अधिकारों के अविभाज्य अंग माने गये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र

---

[32] (1995) 1 एस सी सी 14

[33] (2000) 2 एस. सी. सी. 465

[34] हेनरी जे स्टेनर एण्ड फिलिस एल्सटन, इन्टरनेशनल ह्यूमैन राइट्स इन कॉन्टैक्सट ऑफ ला, पॉलिटिक्स एण्ड मॉरल्स, (क्लेरंडन प्रैसः न्यूयार्क, 1996) पृ0 165

की विकास प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता एवं राजनीतिक, विधिक निकायों, व्यवसायिक, आर्थिक प्रबंधन तथा निर्णय लेने वाले पदों के हर स्तर पर उनकी भागीदारी बढ़ाने के लिए विशेष नीतियां निर्धारित की जायें। लैंगिक निष्पक्षता, समानता और महिलाओं के सशक्तीकरण के साथ–साथ, उनके विरुद्ध बढ़ती हुई हिंसा पर नियंत्रण एवं उन्हें अपनी प्रजनन शक्ति को नियंत्रण में रखने योग्य बनाना विकास संबंधी कार्यक्रमों की सफलता के लिए नितांत आवश्यक है।

महिलाओं का निरंतर घटता अनुपात, हिंसा, देह–व्यापार को बढ़ावा, निरक्षरता, आर्थिक निर्भरता, एच.आई.वी. एड्स, आदि समस्याएं इतनी जटिल हैं कि इन्हें केवल सरकार के भरोसे ही नहीं छोड़ा जा सकता। इस कार्य में समाज के सभी वर्गों, शिक्षा विभागों, सरकारी विभागों, विभिन्न व्यवसायों के लोगों, मीड़िया एवं निगमित जगत के साथ मिलाकर सरकार का सहयोग करना होगा। 174 देशों के मानव विकास सूचकांक में भारत का 128वां स्थान है। महिलाओं की साक्षरता दर 43.5 प्रतिशत व पुरुषों की 68.8 प्रतिशत है जिसमें सुधार लाने के लिए महिलाओं में शिक्षा का प्रसार व स्वास्थ्य को सुधारने की विशेष आवश्यकता हैं। पुलिस, प्रशासन, आदि को प्रशिक्षण के माध्यम से अधिक संवेदनशील बनाये जाने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय महिला आयोग के तत्वावधान में जनवरी 2005 में आयोजित 'विजन फॉर विमैन ऑफ टूमौरो' के परिचर्चा सत्र में राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने विद्यार्थियों का आह्वान करते हुए कहा कि महिलाओं को उनकी महानता की अनुभूति कराये जाने की आवश्यकता है। इस अवसर पर उन्होंने अपना गुरुमंत्र दिया कि "कुछ न करने में कोई समस्या नहीं है, कुछ करने में ही समस्या सामने आती है। लक्ष्य यह होना चाहिए कि समस्याओं पर विजय प्राप्त की जाय, उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देना चाहिए।'

मानवाधिकार : सांस्कृतिक अस्मिता का आधार

* नंदकिशोर आचार्य

यह विडंबनापूर्ण है कि मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाली इन घटनाओं को समाज के कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा इस तरह विश्लेषित किया जाता है मानों कोई प्रवृत्ति मानवाधिकारों अर्थात् मनुष्य होने के अधिकार पर कुठाराघात करके भी संस्कृति कहलाने का गौरव हासिल कर सकती है। दरअसल पिछले एक अर्से से संस्कृति को 'असूर्यम्पश्या' जैसी कोई चीज़ मान लिया गया है और उसे बचाने के नाम पर किसी भी तरह की गैर–कानूनी और मानव विरोधी कार्रवाई को भी सामाजिक मान्यता मिलने लगी है।

संस्कृति या परंपरा के नाम पर मानवाधिकारों और कानून सम्मत प्रक्रियाओं पर आघात करने वाली घटनाएं आए दिन देखने को मिलती रहती हैं – फिर चाहे उनका संबंध किसी प्रेमी युगल के अंतर्जातीय विवाह से हो, किसी दलित दूल्हे के घोड़ी चढ़ कर बारात निकालने से हो अथवा सती जैसी गैर कानूनी प्रथाओं से। संविधान–सम्मत मौलिक अधिकारों अथवा कानून के संरक्षण के प्रयोजन से निर्मित संस्थाएं ऐसी घटनाओं को लेकर क्या कार्रवाई करती हैं और वह कार्रवाई कितनी प्रभावी होती है तथा क्या वह भविष्य में ऐसी घटनाओं और उनके पीछे काम कर रही मनोवृत्ति को समझने और उसका उचित प्रत्युत्तर दिए जाने की जरूरत शायद और भी ज्यादा है क्योंकि सामाजिक मनोवृत्तियों को केवल कानून के भरोसे नहीं बदला जा सकता।

कानून की भूमिका केवल एक अतिरिक्त दबाव बनाने की ही हो सकती है अथवा अधिक से अधिक दंड देने की। लेकिन केवल दंड भी सामाजिक मनोवृत्तियों को बदलने का सामर्थ्य नहीं रखता। यदि ऐसा होता तो अधिकांश सामाजिक अपराधी मिट चुके होते। यह आश्चर्यजनक है कि ऐसी मनोवृत्तियों से संचालित घटनाओं को अंजाम देने वाले लोगों को कानून की दृष्टि से अपराधी घोषित कर दिए जाने के बावजूद संबंधित

* हिंदी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक और वरिष्ठ साहित्यकार, सुयारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर (राजस्थान)

समाजों में उनकी प्रतिष्ठा न केवल बनी रहती है बल्कि उन्हें संस्कृति या जातीय परंपरा अथवा गौरव के रक्षक होने की हैसियत प्राप्त हो जाती है। कानून द्वारा दंडित कर दिए जाने के बावजूद उनकी सामाजिक हैसियत में कोई कमी नहीं आती। राज्य के कानून के सामाजिक स्तर पर निष्प्रभावी होने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है।

यह विडंबनापूर्ण है कि मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाली इन घटनाओं को समाज के कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा इस तरह विश्लेषित किया जाता है मानो कोई प्रवृत्ति मानवाधिकारों अर्थात् मनुष्य के मनुष्य होने के अधिकार पर कुठाराघात करके भी संस्कृति कहलाने का गौरव हासिल कर सकती है। दरअसल पिछले एक अर्से से संस्कृति को 'असूर्यम्पश्या' जैसी कोई चीज मान लिया गया है और उसे बचाने के नाम पर किसी भी तरह की गैर–कानूनी और मानव विरोधी कार्रवाई को भी सामाजिक मान्यता मिलने लगी है। जब सती जैसी प्रथा को हमारे बुद्धिजीवियों और संबंधित समाज द्वारा उचित माना जाता है और अंतर्जातीय विवाह जैसी घटनाओं को जाति–पंचायतें सार्वजनिक फैसले लेकर दंडित करती हैं जिसे संबंधित गांव या जाति की बहुसंख्या का समर्थन भी मिला है, तो इसके पीछे विकृति को संस्कृति मानने की मानसिकता काम कर रही होती है क्योंकि इस दृष्टि को मानने वालों के लिए बहुसंख्यक समाज की स्वीकृति ही संस्कृति होती है क्योंकि अंततः समाज का आचरण ही तो उसकी संस्कृति कहलाता है। विचारणीय यह है कि ऐसे लोग या जाति पंचायतें आदि यह नहीं मानते बल्कि शायद समझ भी नहीं पाते कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह मानवाधिकारों का उल्लंघन या कोई अनुचित बात है क्योंकि यह सब वे अपनी सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा के प्रयोजन से कर रहे हैं।

दरअसल, इस मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में एक प्रकार के सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की विचारधारा सक्रिय रही होती है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की अवधारणा इस पूर्वमान्यता पर आधारित है कि सार्वभौमिक संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं होती क्योंकि प्रत्येक संस्कृति का अपना विशिष्ट चरित्र होता है, जो उसके परंपरागत रिवाजों के रूप में अभिव्यक्त होता है और इसलिए उन रिवाजों में कोई भी परिवर्तन उस विशिष्ट चरित्र को अर्थात् उस समाज की सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट करने की दिशा में उठाया जा रहा कदम है। ऐसा मानना भूल होगी कि ये लोग मानवाधिकार विरोधी या मानव–हंता होते हैं क्योंकि अन्य परिस्थितियों में इन्हें उदार मानवतावादी कार्यों में भी सक्रिय देखा जा सकता है। यहां मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा जो अपने किन्हीं निजी या राजनीतिक स्वार्थों की वजह से संस्कृति के नाम पर उत्तेजना पैदा करना चाहते हैं – मेरा आशय उन लोगों से है जो सामान्य तौर पर नैतिक और सीधे–सादे लोग होते हैं – जैसा कि हमारे ग्रामीण समाज का बहुसंख्यक वर्ग रहा – लेकिन जिन्हें संस्कृति के नाम पर उत्तेजित किया जा सकता और किया जाता है।

इस वर्ग के साथ मैं उन बुद्धिजीवी लोगों को जोड़ना चाहूंगा जो शायद उतने भोले और सीधे–सादे तो नहीं होते, लेकिन 'सांस्कृतिक अस्मिता' जिनके लिए एक ऐसी

पवित्र अवधारणा होती है जिसका स्पर्श भी नहीं किया जा सकता। यहां इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि आधुनिक काल में बहुत से नए राष्ट्र–राज्यों का निर्माण 'सांस्कृतिक अस्मिता' या किसी समाज के विशिष्ट सांस्कृतिक चरित्र के तर्क के आधार पर ही हुआ है जिसका तात्पर्य है कि 'सांस्कृतिक अस्मिता' की इस अवधारणा को बौद्धिक स्तर पर ही नहीं, राजनीतिक स्तर पर भी अंतरराष्ट्रीय मान्यता मिल चुकी है। इसलिए यदि इस 'सांस्कृतिक अस्मिता' की रक्षा के नाम पर किसी समाज को उत्तेजित किया जा सकता है तो किम् आश्चर्यम्!

दरअसल, 'सांस्कृतिक अस्मिता' की अवधारणा पर ही आक्रामक रवैया अपनाने की बजाय यह समझने–समझाने की जरूरत है कि संस्कृति कोई जड़ या गतिहीन प्रक्रिया नहीं है और रिवाजों तथा बुनियादी सांस्कृतिक मूल्यों में फर्क होता है। रिवाज एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज होते हैं और इतिहास निरंतर चलता रहता है। यह देखा जाना चाहिए कि किसी संस्कृति का उत्स किसी बुनियादी मूल्यबोध से है या इतिहास के एक विशेष दौर में विकसित किसी रिवाज़ में वह रिवाज़ आज उचित है या अनुचित इसे आज के ऐतिहासिक संदर्भ के साथ–साथ उस बुनियादी मूल्य–दृष्टि की कसौटी पर भी परखने की जरूरत है जो किसी संस्कृति की बुनियादी मूल्य–दृष्टि है। इस दृष्टि से देखें तो किसी भी संस्कृति की मूल्य–दृष्टि को मानवाधिकारों की विरोधी नहीं माना जा सकता क्योंकि सभी के मानवीय आशय या सरोकार लगभग समान होते हैं। विकृति वहीं आती है जहां मनुष्य के मनुष्य होने के अधिकार की अनदेखी की जाती है। कोई विकृति किसी दीर्घावधि के लिए प्रचलन में रही, इससे वह संस्कृति नहीं हो जाती। जैसे शरीर में किसी बीमारी के दीर्घकाल तक रहने के आधार पर उसे स्वास्थ्य का लक्षण अथवा उस देह की अस्मिता नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार दीर्घकाल तक चलने वाले किसी विकृत रिवाज को भी संस्कृति का दर्जा नहीं दिया जा सकता। एक रुग्ण मानसिकता ही रोग को अपनी अस्मिता मान सकती है। किसी चीज के होने की वजह से यह तो माना जा सकता है कि वह है, पर उससे उसका नैतिक या सांस्कृतिक औचित्य प्रमाणित नहीं होता।

यह ठीक है कि प्राकृतिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की वजह से प्रत्येक संस्कृति का अपना विशिष्ट चरित्र होता है लेकिन यह वैशिष्ट्य उस चरित्र को संस्कृति की मूल अवधारणा की परिधि के बाहर नहीं कर सकता। संस्कृति का तात्पर्य ही है मानवीय सर्जनात्मकता का विकास। यदि मानवीय सर्जनात्मकता नहीं है तो जो कुछ है वह प्रकृति है, संस्कृति नहीं। इसलिए, 'विशिष्ट सांस्कृतिक चरित्र' के नाम पर यदि मानवीय सर्जनात्मकता पर आघात होता है तो उसे सांस्कृतिक नहीं माना जा सकता। किसी भी प्रकार की सर्जनशीलता के लिए स्वतंत्रता एक पूर्वशर्त है क्योंकि जो समाज स्वतंत्रता का दमन करते हैं वे सर्जनात्मकता के और इसीलिए संस्कृति के विकास के विरोधी ही माने जाएंगे। मध्यकाल में ब्रूनो, गैलीलियो या मंसूर आदि के साथ जो व्यवहार हुआ, वह इसका ज्वलंत उदाहरण है। कोई समाज जिस सीमा तक स्वतंत्रता और

सर्जनात्मकता का दमन करने की कोशिश कर रहा है उस सीमा तक वह एक संस्कृति विरोधी समाज हो जाता है – यह दमन व्यक्ति के स्तर पर भी हो सकता है और वर्ग, जाति या राष्ट्र के स्तर पर भी। मानवीय स्वतंत्रता से वंचित समाज की कोई 'सांस्कृतिक अस्मिता' या चरित्र नहीं होता क्योंकि उसकी कोई संस्कृति ही नहीं होती।

इसलिए जो कोई 'सांस्कृतिक अस्मिता' की रक्षा का दायित्व लेना चाहता है, उसे यह समझना जरूरी है कि स्वतंत्रता की रक्षा ही संस्कृति की रक्षा और कोई विशिष्ट संस्कृति, दरअसल, संस्कृति है ही नहीं, यदि वह 'संस्कृति' मात्र की परिभाषा की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। मानवाधिकार अर्थात मानव स्वातंश्य कहें कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वातंश्य – इसलिए किसी भी संस्कृति की कसौटी है, उसके विशिष्ट चरित्र या अस्मिता भी। जो अस्मिता स्वातंत्र्य को नकारती है, वह दरअसल, अपनी अस्मिता को ही नकार रही होती है।

('जनसत्ता' में प्रकाशित लेख को आभार सहित पुनः प्रकाशित)

वाल्मीकीय रामायण तथा मानवाधिकार

* प्रो0 अमरनाथ पाण्डेय

वाल्मीकि ने अपने रामायण में न्याय, समानता, बन्धुत्व आदि ऐसे मानवीय मूल्यों का समावेश किया है जो मानवाधिकार के प्राण हैं। इस महाकाव्य की विशेषता यह है कि इसमें चरित–निबन्धन के माध्यम से मानवाधिकार की प्रतिष्ठा की गयी है। स्त्रियों के अधिकारों का संकेत शबरी प्रसंग के साथ–साथ रावण, बाली आदि के वध के प्रसंग में मिलता है। रावण और बाली की हत्या स्त्री--अधिकार के रक्षा के लिए ही किया गया था। शबरी प्रसंग के माध्यम से वाल्मीकि यह संदेश देना चाहते हैं कि छुआ–छूत, जाति–पाति मानव धर्म के विपरीत है। सभी मनुष्य मनुष्य होने के कारण समान अधिकार के हकदार हैं। राम के चरित्र के माध्यम से कवि यह संदेश देना चाहता है कि न्याय के पथ पर चलकर ही मानवाधिकारों की रक्षा की जा सकती है और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। तपस्वियों की रक्षा करना राम का कर्त्तव्य है जिसका पालन वे राक्षसों का वध करके करते हैं। (तात्पर्य यह है कि अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं एक के बगैर दूसरे की रक्षा नहीं हो सकती)।

वाल्मीकीय रामायण में मानवाधिकार की प्रतिष्ठा मिलती है। वाल्मीकि ने रामायण के माध्यम से समाज का आदर्श रूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने उस समाज की स्थापना की है, जिसमें न्याय है, समानता है, बन्धुत्व है, उत्कृष्ट व्यवस्था है, सामरस्य है। रामायण ने उस मार्ग का निर्माण किया है, जिस पर चलने का सभी का अधिकार है, जहाँ भेदभाव नहीं है। वह मार्ग सभी को लक्ष्य तक पहुँचाने वाला हैं। ऐसे लक्ष्य का भी निरूपण है, जिसको व्यक्ति अपनी साधना से प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार का मार्ग सभी मनुष्यों के लिए निर्मित हुआ है और लक्ष्य का द्वार भी सभी के लिए खुला हुआ है। वाल्मीकि ने इस प्रकार के समाज का दर्शन प्रस्तुत किया है, जो सार्वभौम सिद्धांत पर अधिष्ठित है, सार्वकालिक है और विश्व के संदर्भ में कहीं भी प्रयुक्त हो सकता है।

* पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

रामायण में राम और सीता का चरित निबद्ध है। इनके माध्यम से अनेक कथानक, अनेक चरित प्रस्तुत किये गये हैं; जो संस्कृति तथा समाज की भूमिका प्रकाशित करते हैं जिनसे आज भी प्रेरणा मिल रही है तथा मानव की आकांक्षाओं का उन्मीलन हो रहा है। वाल्मीकि ने राम तथा सीता के चरित का आश्रय लिया। यही मूल बिन्दु है। कवि ने चरित–निबन्धन के माध्यम से मानवाधिकार की घोषणा की है। यह निरूपित किया गया है कि मनुष्य श्रेष्ठ है और वह ज्ञान तथा कर्म से कुछ भी प्राप्त कर सकता है। यद्यपि परम्परा ने राम के चरित को ही महत्त्व प्रदान किया है, किन्तु वाल्मीकि का स्पष्ट निर्देश है कि सम्पूर्ण रामायण काव्य में सीता का चरित ही सम्पूर्ण है :–

"कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्।"

बालकाण्ड 4/6

रहस्य यह है कि कवि ने मूलरूप में स्त्री–मर्यादा, उसके वैशिष्ट्य, उसकी उत्कृष्टता, उसकी साधना और उसके त्याग की प्रतिष्ठा के लिए रामायण की रचना की। परीक्षा करने पर यही बात सामने आती है कि सम्पूर्ण घटना–क्रम सीता के चरित के चारो ओर घूमता है। कवि यह प्रकाशित करता है कि स्त्री के उत्कर्ष तथा महत्त्व को स्वीकार करना है, क्योंकि समाज की आधारशिला वही है। उसी पर समाज तथा राष्ट्र अधिष्ठित है। आज स्त्रियों के अधिकारों तथा स्त्री–पुरुष समानता का जो प्रश्न उठ रहा है उसको वाल्मीकि ने पहले ही देख लिया था। सीता का चरित ही रामायण–काव्य है। उसकी उपस्थापना के लिए रामायण की रचना की गयी है। सीता के चरित की महिमा सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त है। सीता के माध्यम से स्त्री का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सीता वाल्मीकि के आश्रम में रहीं। वाल्मीकि सीता के चरित के साक्षी थे। उनके चरित से कवि प्रसन्न थे। यही कारण है कि कवि ने मनोयोग से उनके चरित का वर्णन किया है। सीता का चरित रामायण की घटनाओं को अत्यधिक प्रभावित करता है। उसी के कारण कथा में गति आती है। सीता के चरित के द्वारा तपस्या तथा साधना का परम लक्ष्य प्रकाशित कर दिया गया है। वाल्मीकि की जो दृष्टि थी, उसका समीचीन अनुगमन नहीं हो सका है। बाद के कवियों तथा विद्वानों की दृष्टि सीता के चरित पर कम केन्द्रित रही है, जिससे राम के चरित की तुलना में सीता का चरित कुछ दब–सा गया है। ध्यातव्य है कि स्त्री–मर्यादा तथा महिमा का उत्कृष्ट निदर्शन वाल्मीकि की कृति में मिलता है। आज मानवाधिकार के सन्दर्भ में सीता का चरित प्रेरक तथा निर्देशक है।

राम का चरित मानवाधिकार के लिए समर्पित है। रामायण यही सन्देश देता है कि न्याय के पथ पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह अपने कर्तव्य का पालन कर सके। उसके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न आये। शासन यह देखे कि अन्याय करने वाली प्रवृत्तियों का दमन हो और सन्मार्ग पर चलने वाले की रक्षा हो। राम ऐसा विचार नहीं करते कि किसी विशेष वर्ग या जाति के व्यक्ति के ही अधिकारों की रक्षा हो।

विश्वामित्र तथा अरण्यकाण्ड के ऋषि अपनी तपस्या, अपनी साधना में लगे रहते थे। वे यज्ञ करते थे। राक्षसों द्वारा वे प्रताड़ित थे। उनके योग, उनकी साधना में अवरोध उत्पन्न होता था। विश्वामित्र ने दशरथ से प्रार्थना की थी और राम–लक्ष्मण उनके साथ गये। विश्वामित्र ने कहा था कि राम राक्षसों के विनाश में समर्थ हैं :–

"शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा।।"
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने।।"

– बालकाण्ड 19 / 9–10

विश्वामित्र ने ताड़का का वध करने के लिए राम को प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि हे राम, आपके अतिरिक्त अन्य कोई इसका वध नहीं कर सकता। यह स्त्री है – ऐसा समझकर इसके प्रति दया मत कीजिए। चारों वर्णों के हित के लिए इसका वध कीजिए। यह अधर्म करने वाली है :–

"न ह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान्।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामते रघुनन्दन।।
न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्त्तव्यं राजसूनुना।।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोशं वा कर्तव्यं रक्षता सदा।।
राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते।।"

बालकाण्ड 25 / 16–29

राम ने कहा था कि मैं गो, ब्राह्मण तथा देश के हित के लिए आपके वचन के अनुसार कार्य करने के लिए उद्यत हूँ :–

"गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।
तव चाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः।।"

बालकाण्ड 26 / 5

राम ने ताड़का का वध तथा राक्षसों का संहार किया।

अरण्यकाण्ड में राक्षसों के वध के प्रसंग में सीता ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने रखा है। वे कहती हैं – कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं – मिथ्यावाक्य, परदाराभिगमन तथा बिना वैर के रौद्र कर्म –

"त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवर्न्युत।
मिथ्यावाक्यं परमेकं तस्माद् गुरूतरावुभौ।।"
परदाराभिगमनं बिना वैरं च रौद्रता।"

अरण्य0 8 / 3

सीता कहती हैं कि जो वैर नहीं करता उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। राक्षस राम से तो वैर नहीं कर रहे हैं, अतः उनका वध नहीं करना चाहिए। सीता का प्रश्न पारम्परिक चिन्तन के आधार पर था। प्रकृत प्रसंग में राम का उत्तर समीचीन है। वे कहते हैं कि मुनियों का संरक्षण करना है। इसके लिए आवश्यक है कि जो राक्षस मुनियों के धार्मिक कार्यों में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं, उन्हें दण्डित किया जाए। यद्यपि राक्षसों ने राम की कोई हानि नहीं की है, किन्तु ऋषियों को तो पीड़ित किया है, अन्य प्राणियों को कष्ट दिया है। प्रश्न मानवाधिकार की रक्षा से सम्बद्ध है। शासक का कर्त्तव्य है कि यदि मानव का अधिकार कहीं बाधित होता है, तो उसके लिए अनुशासनात्मक व्यवस्था की जाए। यह नहीं देखना है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं प्रभावित हो, तभी उसका प्रतिकार करे। यह समाज का प्रश्न है। यदि समाज में कहीं भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित की जा रही है, तो उसको रोकने की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। राम प्रजा परिचालक हैं। वे इसी दृष्टि से इस प्रकरण को लेते हैं और ऋषियों के अधिकार की सुरक्षा के लिए राक्षसों को दण्डित करते हैं। राम के समय में मानवाधिकार की इस उदात्त भाव भूमि का दर्शन होता है। राम ने ऋषियों की रक्षा के लिए प्रतिज्ञा की है। वे उसका पालन अवश्य करेंगे। वे अपने जीवन का परित्याग कर सकते हैं, सीता–लक्ष्मण का परित्याग कर सकते हैं, किन्तु समाज की रक्षा रूपी व्रत का परित्याग नहीं कर सकते। राम अपने को समाज का सेवक मान रहे हैं। यदि समाज पीड़ित होता है, तो वे पीड़ित होते हैं। इस प्रकार राक्षसों का ऋषियों के प्रति वैर राम के प्रति भी हो जाता है। समाज पीड़ित होता रहे, राम देखते रहें – यह नहीं हो सकता। राम ने सीता के प्रश्न को व्यापक संदर्भों में देखा है और समाज को केन्द्र में रखकर उसका समाधान प्रस्तुत किया है। राम सीता से कहते हैं :–

"ऋषिणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।
संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्।।"

– अरण्य0 10/17

"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्।।"

– वही 10/18–19

यदि राम का यह चरित सामने रखा जाता, उसके निर्देशों का अनुसरण होता, तो मानवाधिकार की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता।

रावण ने अपनी बहन शूर्पणखा का विवाह दानवराज विद्युज्जिह्व से किया था। उसने विद्युज्जिह्व को मार डाला। रावण अत्यन्त कामी था। यह उसका सबसे बड़ा दोष था। वह सीता को अपनी भार्या बनाना चाहता था। उसकी न तो कोई नीति थी और न ही कोई धर्म। वह राजा के गुणों से रहित था। रावण के वध से प्रकट होता

है कि राम ने अनियन्त्रित काम को नष्ट किया और स्त्री मर्यादा की प्रतिष्ठा की। शूर्पणखा, रावण तथा बाली में काम विकृत रूप में विद्यमान है। इसका निराकरण दण्ड द्वारा ही किया जा सका है। मारीच ने रावण से कहा कि कामवृत्त तथा दुर्मति राजा अपने को, स्वजन को तथा राष्ट्र को नष्ट कर देता है –

"त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्गतिः।।"

– अरण्य 37 / 7

मारीच ने राम को विग्रहवान् धर्म कहा है –

"रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः।।"

वही 37 / 13

राम की वानरजाति के प्रति मित्रता प्रसिद्ध है। वानर वन में रहते थे। उनकी संस्कृति भिन्न थी, फिर भी राम ने उनसे मित्रता की। राम हनुमान की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि हनुमान ने निश्चित ही समग्र व्याकरण का श्रवण किया है जिसके कारण इन्होंने कहीं भी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है। राम कहते हैं कि जिसका दूत हनुमान जैसा होगा उसके कार्य क्यों नहीं सिद्ध होंगे। हनुमान के कारण ही राम तथा सुग्रीव की मित्रता होती है। राम ने पहले सुग्रीव से यह पूछा कि वैर का कारण क्या है। जब उन्हें मालूम हो गया कि बाली ने अपराध किया है, सुग्रीव को पीड़ित किया है, उसकी भार्या का अपहरण किया है तब उन्होंने सुग्रीव से कहा कि बाली का वध करूँगा। राम ने बाली का वध किया और सुग्रीव तथा उसकी भार्या रूमा का मिलन हुआ। राम ने वानर–संस्कृति में परिष्कार किया।

बाली ने सुग्रीव की पत्नी रूमा का अपहरण किया था। उसने मर्यादा का उल्लंघन किया था। राम धर्म की प्रतिष्ठा करने वाले हैं। मानवाधिकार की रक्षा धर्म है। राम ने बाली के वध के औचित्य का प्रतिपादन किया है। जो लोक विरुद्ध कार्य है, उसके लिए दण्ड आवश्यक है। दण्ड के अतिरिक्त अन्य निग्रह समीचीन नहीं है। राम कहते हैं कि जो अपनी लड़की, बहन अथवा अनुज की भार्या में काम–वासना रखना है, उसके लिए दण्ड वध ही है :–

"औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः।।
प्रचरेत् नरः कामान् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।।"

– किष्किन्धा0 18 / 22–23

राम ने कहा – भरत राजा हैं, हम तो आदेश का पालन करने वाले हैं। तुमने धर्म का अतिक्रमण किया है। इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है –

"भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः।।
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।"

– किष्किन्धा0 18/23–24

राजा दुर्लभ धर्म तथा शुभ जीवन के दाता होते हैं –

"दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च।
राजनो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः।।"

– किष्किन्धा0 18/41

बाली तथा सुग्रीव का प्रसंग मानवाधिकार के महत्त्वपूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करता है। इस प्रसंग में अनेक बार धर्म पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ धर्म मानवाधिकार ही है। वाली के राज्य के अधिकारी सुग्रीव हैं, अतः वे राम के आदेश से राजा के रूप में अभिषिक्त होते हैं और अंगद युवराज के रूप में।

राम तथा समाज का निचला वर्ग

राम श्रृंगवेरपुर में ठहरते हैं। निषादराज गुह उनका सत्कार करते हैं। गुह ने सुना कि राम उसके जनपद में आये हुए हैं। वह वृद्धों, अमात्यों तथा बन्धुओं के साथ राम के पास गया। वह राम का सखा था –

"स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः।।"

– अयोध्या 50/34

जिस प्रकार दशरथ का राज्य है उसी प्रकार गुह का भी। उसका भी जनपद है, उसके भी मन्त्री हैं। गुह ने राम का आलिंगन किया। उसने भक्ष्य, भोज्य, शयन आदि के द्वारा राम का सत्कार किया। प्रसन्न होकर राम ने उसे भुजाओं में आवेष्टित कर लिया। उन्होंने कहा – हे गुह, भाग्य से आप बन्धुओं सहित नीरोग हैं। आपके राज्य में कुशल तो है न, आपके मित्र कुशली हैं न, आपके वनों में कुशल है न –

"दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोग सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च।।"

अयोध्या0 50/42

यहाँ राम ने राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है। गुह का अपना राज्य है जिस पर उसका शासन है। राम उसकी मर्यादा को समझते हैं और उसके प्रति अपनी मैत्री का प्रकाशन करते हैं। ऐसी बात नहीं है कि राम बड़े हैं और गुह छोटा है। कवि दोनों को समान धरातल पर रखता है। गुह नाव मँगाता है और उससे राम आदि गंगा पार करते हैं। यदि आज की स्थिति में राम और गुह को रखा जाय तो मानवाधिकार का उद्घोष करने वाले दोनों को भिन्न–भिन्न कोटि में रखेंगे।

राम और लक्ष्मण पम्पा के तट पर पहुँचते हैं और शबरी के आश्रम में जाते हैं। शबरी का आश्रम सुन्दर है और वृक्षों से घिरा हुआ है –

"अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्"
तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम्।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीयम्युपेयतुः।।

– अरण्य0 74/4–5

राम का शबरी के आश्रम में जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। कवि ने शबरी के अत्यधिक सुन्दर आश्रम का वर्णन किया है। राम शबरी के तप, आहार, नियम, मन के सुख आदि के संबंध में प्रश्न करते हैं। शबरी धर्मसंस्थित बतायी गयी है – "तमुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम्" – अरण्य0 74/6। यहाँ दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। राम के मन में यह शंका नहीं उठती है कि शबरी शबर–कुल की है और स्त्री है, अतः उसके आश्रम में क्यों जायँ। वस्तुतः राम की नीति में जो अधिकार पुरुष को प्राप्त है वही स्त्री को भी। राम स्त्री–पुरुष दोनों के अधिकारों को समान महत्त्व देते हैं और उनकी रक्षा करते हैं। शबरी अपनी तपस्या के कारण पवित्र स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है। यही राम को आकृष्ट करने का साधन बनता है। शबरी ने राम के लिए पम्पा के तट के वनों के फलों को एकत्र कर रखा था –

"मया तु सञ्चितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्।"

– अरण्य 74/17–18

वाल्मीकि अत्यधिक अनुराग से शबरी के आश्रम, उसके स्वरूप तथा उसकी साधना का वर्णन करते हैं। यहाँ स्त्री की मर्यादा तथा गौरव की कमनीय झाँकी प्रस्तुत की गयी है। राम उसके गौरव की विभावना करते हैं और उसकी साधना को अंकित करते हैं –

"कच्चित् ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित् ते वर्धते तपः।
कच्चित् ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने।।
कच्चित् ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित् ते मनसः सुखम्।
कच्चित् ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि।।"

– अरण्य0 74/8–9

इस प्रसंग में तुलसीदास ने अन्य प्रकार से योजना की है। उनकी शबरी कहती है–

"केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी।
अधम जाति मैं जड़मति भारी।।
अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति मंद अघारी।।"

– अरण्य0 35/2

तुलसीदास द्वारा प्रकारान्तर से प्रस्तुत यह दृष्टांत उचित नहीं प्रतीत होता। भला जो शबरी पुण्य–आश्रम में रह रही हो, जिसने विघ्नों को जीत लिया हो, जिसकी तपस्या का उत्कर्ष प्रकाशित हो रहा हो, जिसको मानसिक शान्ति मिल चुकी हो, जिसकी गुरूशुश्रूषा सफल हो चुकी हो, वह अधम कैसे हो सकती है? शबरी नियमों को जानती है और पवित्र आचरण वाली है। वह राम को देखकर अपने शरीर का परित्याग कर देती है और स्वर्ग में पहुँच जाती है। कवि ने उसे जलती हुई अग्नि के समान बताया है। वह दिव्य आभूषणों से अलंकृत थी, दिव्य माताओं तथा सुरभित पदार्थों से शोभित थी, दिव्य वस्त्रों से अंलकृत थी तथा प्रियदर्शना थी –

"ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमालानुलेपना।।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना।"

– अरण्य0 74/33–34

रामायण में राम का धर्म मानव तक ही सीमित नहीं है। उसकी परिधि में पशु पक्षी भी आते हैं। इस दृष्टि से जटायु के प्रसंग को ले सकते हैं। राम–लक्ष्मण ने जटायु को देखा। जटायु ने सीता का वृत्तान्त बताया। फिर राम ने उसका आलिंगन किया। दुःखित राम ने लक्ष्मण से कहा–मेरा राज्य गया, वनवास मिला, सीता नष्ट हुई और जटायु की मृत्यु हुई। इस प्रकार मेरी अलक्ष्मी है जो अग्नि को जला सकती है। मुझसे बड़ा अभागा इस पृथ्वी पर कोई नहीं है। मेरे पिता के मित्र गृधराज भूमि पर पड़े हैं–

"राज्यं नष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः।
इदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम्।।"

– अरण्य0 67/24

"नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् सचराचरे।

– वही 67/26

"अयं पितुर्वयस्यो मे गृघराजो महाबलः।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात्।।"

– वही 67/27

गृधराज के मर जाने पर राम ने कहा – धर्म का आचरण करने वाले साधु तथा शरण देने वाले शूर सर्वत्र दिखायी पड़ते हैं। ये तिर्यग्योनियों में भी मिलते हैं। हे लक्ष्मण, सीताहरण से उत्पन्न दुःख मुझे उतना दुःखित नहीं कर रहा है जितना गृध्र की मृत्यु–

"सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि।।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्।
यथा विनाशो गृधस्य मत्कृते च परन्तप।।"

– अरण्य0 68/24–25

राम ने कहा – जिस प्रकार श्रीमान् राजा दशरथ मेरे लिए पूजनीय तथा मान्य थे, उसी प्रकार ये पक्षिराज भी –

"राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महादशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः।।"

– अरण्य0 68 / 26

जटायु ने प्राण छोड़े। राम ने उसका दाह–संस्कार किया।
राम की धर्मवृत्ति पशु, पक्षी, मानव–सभी में व्याप्त है।

वाल्मीकि रामायण में न केवल मानवाधिकार को बल्कि प्रत्येक जीव के अधिकार को मान्यता मिली है।

मानवाधिकार को समझने में राम का चरित निर्देशक है। राम के चरित से यह प्रकट होता है कि मानवाधिकार की धाराएँ बहुत जटिल हैं। जो महापुरुष होगा वही उनके तात्पर्य को समझ सकेगा। इसीलिए ताड़का वध, शूर्पणखा–प्रसंग, बाली का वध, रावणादि राक्षसों का वध आदि सभी प्रसंग राम के चरित के आलोक में देखने से स्फुट–रूप से प्रकाशित हो जाते हैं। मनुष्य मनुष्य को पीड़ित न करे – यही निर्देश है, यही विधि है। यदि इसमें बाधा उत्पन्न होती है तो अंकुश लगना चाहिए। राम के आचरण से मानव का अधिकार सुरक्षित हुआ है।

यदि कोई व्यक्ति मानवाधिकार का उल्लंघन करता है, तो यह दण्डनीय है। दण्ड के द्वारा ऐसी स्थिति पैदा की जाती है जिसमें मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा करता है और दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करता। यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने अधिकार की सीमा को बढ़ाना चाहता है और दूसरे के अधिकार के क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहता है। जब अतिक्रमण की स्थिति आती है तब दोष उत्पन्न होता है। राम के समय में ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनमें व्यक्तियों ने दूसरों के अधिकारों पर अधिकार कर रखा था। राम ने दुष्टों को दण्ड देकर समाज को व्यवस्थित किया।

वाल्मीकि ने शाश्वत मूल्यों का साक्षात्कार किया था जिसका दर्शन उस काल के मनीषियों के आचरण में होता है। परन्तु आज ये मूल्य लुप्त हो रहे हैं। इसलिए वाल्मीकि के काव्य से नयी पीढ़ी को प्रेरणा लेनी है, वाल्मीकि ने एकत्व का दर्शन किया था, समत्व का दर्शन किया था, समतामूलक समाज की अवधारणा प्रस्तुत की थी और मनुष्य के गौरव को प्रस्तुत किया था। एक ही आत्मा प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है, फिर भेद–दृष्टि क्यों हो? जब अणु–अणु में राम व्याप्त हैं तो वे भिन्न दृष्टि का आश्रय कैसे ले सकते हैं। जब इस अभेद–दृष्टि का उदय हो जाता है तब मानव का अधिकार सुरक्षित हो जाता है। वाल्मीकि का काव्य इसका सुन्दर निदर्शन है।

क्या हों छात्रों के मानव अधिकार?

* मदन गुप्त

चार–पांच दशक पहले एक पट्टी पूजन और स्लेट अथवा तख्ती पर अक्षर ज्ञान के साथ स्वस्थ, प्रेरणाप्रद और प्रेम–आशीर्वाद के साथ शुरू होता था विद्यार्थी जीवन अब यह दुखद होता है नैराश्य और रिजेक्शन की भावना के साथ। कोई भी जानकार व्यक्ति इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता कि सब बच्चे कुशाग्र बुद्धि होते हैं। फर्क होता है तो उनके बुद्धि विकास के स्तर का किंतु क्षमता सब बच्चों में होती है। यहां तक कि सीमित बौद्धिक वाले बच्चों तक में एक न एक गुण आपको देखने को मिल जाएगा। क्या शिक्षा खरीद–फरोख्त की वस्तु बना दी जानी चाहिए या बना दिए जाने की इजाज़त दी जानी चाहिए? क्या शिक्षा का अधिकार एक मूलभूत मानव अधिकार नहीं है?

बुद्धि भावना और मन के विकास में निराशा, भय और टूटते परिवार गहरा प्रभाव डाल रहे हैं। ऐसे में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि बच्चों का संतुलित विकास सुनिश्चित किया जा सके। पूरी तरह विकसित होने पर ही उन्हें समाज की जिम्मेदारियां सौंपी जानी चाहिए।

गुरु–शिष्य परंपरा अब लुप्त ही हो चुकी है। इसका हमें कोई गिला नहीं है। गिला है तो सिर्फ इस बात का कि इसके स्थान पर कोई दूसरी स्वस्थ संस्था अभी तक स्थापित नहीं हो पाई है। अभी शिक्षा की जो व्यवस्था चल रही है उसे प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। अब स्कूल में दाखिले के लिए ही अबोध और निरक्षर बच्चे का इन्टरव्यू लिया जाता है। स्कूल में दाखिला मिलना भाग्य से ही ज्यादा होता है। हम एक तरफ निःशक्त और सामान्य बच्चों को एक साथ कक्षा में रखकर पढ़ाए जाने की मांग करते हैं और दूसरी ओर आम बच्चों का दाखिला इन्टरव्यू के आधार पर करते हैं। कितनी विसंगति है इस प्रक्रिया में? कहां 4–5 दशक पहले एक पट्टी पूजन और स्लेट अथवा तख्ती पर अक्षर ज्ञान के साथ स्वस्थ, प्रेरणास्पद और प्रेम–आशीर्वाद के साथ शुरू होता था विद्यार्थी जीवन और कहां अब होता है नैराश्य ओर रिजेक्शन की

* संयुक्त सचिव, (राजभाषा), राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार

भावना के साथ। कोई भी जानकार व्यक्ति इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता कि सब बच्चे कुशाग्र बुद्धि होते हैं। फर्क होता है तो उनके बौद्धिक विकास के स्तर का किंतु क्षमता सब बच्चों में होती है। यहाँ तक कि सीमित बुद्धि वाले बच्चों में भी एक न एक गुण आपको देखने को मिल जाएगा। क्या शिक्षा खरीद–फरोख्त की वस्तु बना दी जानी चाहिए या बना दिए जाने की इजाज़त दी जानी चाहिए? क्या शिक्षा का अधिकार एक मूलभूत मानव अधिकार नहीं है? क्या एक चार साल के बच्चे को अच्छी शिक्षा पाने से इसलिए वंचित कर दिया जाना चाहिए कि उसका इन्टरव्यू अच्छा नहीं हुआ? अभी जिसका 'व्यू' ही नहीं बन पाया हो उसका 'इन्टरव्यू' कैसा? फिर हम में से कौन नहीं जानता इन्टरव्यू की इस नई परंपरा का खेल?

छात्रों पर अपना नैतिक प्रभाव गंवा चुके अध्यापक, अब ऐसे कुकृत्य भी करने लगे हैं जो आए दिन जिससे अखबार और मीडिया की सुर्खियां बनते हैं। किसी बच्चे को मारना, पीटना, घायल कर देना, उसका अपमान करना, बैंच पर खड़ा करना, चोट पहुंचना, गले में जूतों की माला पहनाना, इतना डरा या धमका देना कि बच्चा आत्महत्या जैसा अमानवीय कृत्य कर बैठे या घर से भाग जाए या फिर परीक्षा में नहीं बैठे और झूठी अंक तालिका और प्रमाणपत्र की तलाश में अपराध के काले साये में फंस जाए। दंडनीय भूल पहले भी होती थी, किंतु आत्मीयता के इस रिश्ते के कारण माता–पिता, समाज और सरकार द्वारा उस मामले को रफा–दफा कर दिया जाता था। अध्यापक भी बच्चों के प्रति उसी तरह का दुख प्रकट करते थे, जैसा अपने बच्चे के साथ सख्ती करने पर करते थे। बच्चे को स्वाभिमान के साथ पढ़ने–लिखने का अधिकार सम्मानीय मानव अधिकार है। इसलिए जहां इस अधिकार को कानूनी भाषा नहीं दी गई है वहां ऐसा तुरंत करना बाल शिक्षा, बाल विकास और स्वस्थ–सुशिक्षित समाज के लिए परमावश्यक है।

स्कूल और कालेज आज की शिक्षण संस्थाएँ हैं। इन्टीट्यूशन्स हैं। खेद है कि ये बड़ी तेजी के साथ इन्स्टीट्यूशन से मात्र ट्यूशन में तब्दील होती जा रही हैं। जीवन के अन्य क्षेत्रों, यथा स्वास्थ्य सेवाओं की तरह इनका व्यवसायीकरण था तो अवश्यंभावी, किंतु यह है बहुत ही अहितकर। दिल्ली में और उसी तरह ज्यादातर शहरों में हर विषय में हर कक्षा के लिए ट्यूशन करना लाजिमी हो गया है। पहले तो दो–ढाई साल की उम्र से ही स्कूल में दाखिले की तैयारी के लिए निमित्त "होम वर्क" नर्सरी नाम की कक्षा से मिलता है, जब बच्चा न अक्षर ज्ञान रखता है न चित्र बना सकता है, उसको ट्यूशन तो करना ही पड़ता है। अगर माता या पिता सक्षम हैं तो वो ट्यूशन दें अन्यथा ट्यूटर रखकर यह काम करवाना पड़ता है। भाषा शिक्षण में चाहे अंग्रेजी हो, चाहे हिंदी या संस्कृत यहां ट्यूशन तो रखना ही पड़ेगा। अर्थशास्त्र, विज्ञान, गणित बिना ट्यूशन किए ये नौवीं कक्षा से कोई बच्चा पढ़ सकेगा उसमें कुछ शक है। यह धारणा घर कर चुकी है कि अच्छे अंक पाने के लिए बच्चे को ट्यूशन तो करवाना ही पड़ेगा। स्कूल के अध्यापक से ही यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वह इन विषयों को कक्षा में इतनी अच्छी

तरह से पढ़ाए कि विद्यार्थी को ट्यूशन करना ही न पड़े। सेवा भाव से ऐसा कर रहे अध्यापक किसी तरह गुजर बसर कर रहे हैं वरना समझदार तो कार में चलते हैं, घड़ी की सुई से आते–जाते हैं और महीने में पचास–साठ हजार रुपये कमा ही लेते हैं। ट्यूशन की दर 300–400 रुपये प्रति घंटा भी हो सकती है। पैकेज है तो 5000–10,000 रुपये हो सकती है! यह सिलसिला तो चलता ही रहेगा जब तक बच्चा किसी प्रोफेशनल कोर्स में नहीं चला जाता। आखिर कमाएगा भी कितना? डालरी भाषा में कहूं तो 1,50,000 (एक लाख पचास हजार डालर) सालाना जो रुपये में 75,00,000 होंगे। ठीक है मगर क्या सबको इतना मिल जाता है? बाकी किस दर पर लगें? और जो ट्यूशन की इस ऊंची दुकान से कुछ न खरीद पाये वो क्या प्रेमचंद की कहानी, ईदगाह के पात्र बन कर नहीं रह जायेंगे? क्या ऐसा होने दिया जाना चाहिए? क्या निःशुल्क या औचित्यपूर्ण शुल्क पर पढ़ने के लिए सरकारी व्यवस्था के अंदर ऋण लेने की सुविधा नहीं होनी चाहिए? अगर यह मूलभूत मानव अधिकार नहीं हैं तो फिर अन्य कोई अधिकार मानव अधिकार की श्रेणी में गिना जाने योग्य है ही नहीं।

बच्चों के स्वस्थ विकास में शरीर, बुद्धि भावनाओं आदि का विकास शामिल है। शिक्षा इन सभी प्रकार के विकास का साधन है। शरीर के विकास का माजरा यह है कि प्राथमिक स्तर में भी अक्सर बच्चे चश्मे लगाते हैं। देश में दृष्टिहीन और अल्प दृष्टि लोगों की संख्या 5 से 10 प्रतिशत तक आंकी गई है। बच्चों की क्षुधा या भूख प्रभावित होने से उदर रोग बढ़ रहे हैं। बुद्धि, भावना और मन के विकास में निराशा, भय और टूटते परिवार गहरा प्रभाव डाल रहे हैं। ऐसे में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि बच्चों का संतुलित विकास सुनिश्चित किया जा सके। पूरी तरह विकसित होने पर ही उन्हें समाज की जिम्मेदारियां सौंपी जानी चाहिए।

चुनिंदा संस्थाओं के विद्यार्थियों का शिक्षण के अंतिम वर्ष में नौकरियों के लिए साक्षात्कार होता है। इसे कैंम्पस रिक्रूटमेंट कहते हैं। (नाम कोई भी हो सकता है किंतु अर्थ इसी संदर्भ में है)। यह एकदम दुरुस्त बात है। किंतु हानिकारक और रुग्ण प्रवृत्ति है राजनीति, अपराध या गैर कानूनी धंधा करने के लिए उनका कैंपस रिक्रूटमेंट। विद्यार्थियों का समय और कैरियर इन हरकतों को सहकर, काम में लाकर या बढ़ावा देकर न तो करना चाहिए और न ही करने दिया जाना चाहिए। बौद्धिक रूप से अपरिपक्व बालक–बालिकाएँ अनुभव को समझते तक नहीं। कारण वे अकादमिक या शास्त्र अध्ययन करते हुए उस ज्ञान को सत्य भी मानते हैं और अपना आदर्श भी। किंतु अनुभव जीवन की कड़वी सच्चाई से उनको रूबरू कराता है। ज्ञान के अद्वैत से चलकर बालक जब वयस्क जीवन का अनुभव करता है तो इस द्वैत को सहज ही स्वीकार नहीं कर पाता है। किंतु उसकी बुद्धि और विवेक उसे जीवन के हर अनुभव से सीखने का मौका देती है। यह विवेक बुद्धि उसने शिक्षा प्राप्ति के दौरान अर्जित की होती है। लेकिन स्वार्थी तत्व बच्चों को इस विवेक बुद्धि के विकास के पहले ही कब्जे में ले लेना चाहते हैं। इसमें मादक पदार्थों का धंधा करने वाले, अपराध करने वाले तो आगे हैं ही, दुर्भाग्य

से राजनीतिक विचारधाराओं को प्रचारित करने वाले सबसे ज्यादा दोषी हैं। मानो स्कूल और कालेज, शिक्षण संस्थाएँ नहीं बल्कि राजनैतिक दलों के कार्यालय हों। इस अपूर्ण विवेक विकास काल का फायदा उठाकर ये दल अपने–अपने कैंपस रिक्रूटमेंट करते हैं। इनके कारण पढ़ाई में केवल बाधा ही नहीं पहुंचती बल्कि शिक्षण संस्था हिंसा और अव्यवस्था का अड्डा बन जाती है। बच्चों के होस्टल में ये नेता टाइप लोग अवैध तरीके से निवास करके विद्यार्थियों को दलों या खेमों में बांट देते हैं। अपनी लड़ाई इनके माध्यम से लड़ते हैं, इनका पुलिस रिकार्ड खराब करवाकर जिंदगीभर के लिए इन्हें अपना पिछलग्गू बना लेते हैं। इनकी बातें चिकनी–चुपड़ी और असरदार होती है। पढ़ाई से हटकर विद्यार्थी इनकी बातों के कारण पथभ्रष्ट हो जाता है। ये बंधु–भगिनियां तो आए दिन अपनी आस्था और विचारधारा बदलते रहते हैं, लेकिन खूंटे की तरह बंधा रह जाता है तो आदर्श की तलाश करता युवा वर्ग। इनके काम, तौर–तरीके और असलियत का पता चलते–चलते इस युवा वर्ग की उम्र बीत जाती है। एक दिन ये यही कहते पाए जाते हैं : दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम। अध्ययन छुड़वाकर इन "प्रतिभासंपन्न" विद्यार्थियों को केवल मायाराम बना दिया जाता है। यह नई पीढ़ी की दुर्दशा करना है। हर विद्यार्थी का मूलभूत मानव अधिकार है कि उसे शिक्षा के दौरान हर प्रकार के शोषण से बचाया जाए। हर खतरे से महफूज रखा जाए। जिन लोगों का अध्यापन को अनुभव होगा, वे अच्छी तरह जानते हैं कि ऐसे नेता विद्यार्थियों को चुनाव के बहाने, खेल प्रतियोगिताओं में या वार्षिक दिवस कार्यक्रमों आदि में हिंसा के लिए भड़काते हैं और इनसे डंडा–चाकू–गोली चलवाते हैं। हर वर्ष स्कूल–कालेजों में इस तरह की लड़ाई से होने वाली मौतें इस बात का जीता–जागता सबूत हैं। अपराध संबंधी आंकड़े देखकर कोई भी इनकी पुष्टि कर सकता है। इस प्रकार की हिंसा और डराने–धमकाने से निश्चिंत होकर अध्ययन करना हर विद्यार्थी का मूलभूत मानव अधिकार है। यह जीवन के मौलिक अधिकार से भिन्न भी है और ज्यादा मूल्यवान भी। जीवन के मौलिक अधिकार का हनन तो फले–फूले पौधे को नष्ट करने जैसा है, किंतु विद्यार्थी का यह मानव अधिकार तो पौधे के फूलने–फलने से पहले ही नष्ट कर देने जैसा है।

विद्यार्थी के मानव अधिकारों में बालक–बालिकाओं, दोनों के अधिकार आते हैं। बालिकाओं को भी निर्भीक होकर विद्या अर्जन का मौलिक मानव अधिकार होना चाहिए। आज कालेज–यूनिवर्सिटी में लड़कियां जान हथेली पर रखकर पढ़ने जाती हैं। कैंपस में उन पर हमला करना या उन्हें जीप के नीचे कुचल देने की खबरें जब भी पढ़ने–सुनने को मिलती हैं तो मानवीय संवेदनाएँ बुरी तरह आहत होती हैं।

परीक्षा प्रणाली, पर्चे, परीक्षण–विधि से अब विद्यार्थियों में भय पैदा होता है। अर्जित ज्ञान की परीक्षा न करके परीक्षा–प्रणाली विद्यार्थी को अनर्जित ज्ञान के लिए दंडित करते हुए अनुत्तीर्ण कर देती है। अगर कोई विद्यार्थी अर्जुन की तरह मछली की आंख में तीर नहीं चला पाता तो भी तीर चलाना तो सीख गया। शेष जीवन में प्रशिक्षण पूरा कर देगा। अन्यथा भी सभी तीर थोड़े ही चलाएँगे, कुछ तीर बनाएँगे, कुछ तीर

बेचेंगे, तो कुछ तीर एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाएँगे। हम में से सभी लोग सदा ही गणित का प्रयोग नहीं करते हैं। तो उसके प्रयोग न करने से न तो हमारी अवमानना होती है न ही हानि बल्कि जो ज्यादा जोड़–बाकी–गुणा–भाग नहीं करता है वह कुछ ज्यादा ही खुश रहता है। अंग्रेजी न जानने भर से व्यक्ति का शीर्ष पर पहुंचना असंभव नहीं होता। संभव होता है तो फिर अंग्रेजी या गणित न जानने पर किसी विद्यार्थी को कालेज–यूनीवर्सिटी की शिक्षा से वंचित करना कहां तक सही है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जो विद्यार्थी जिस विषय में रुचि रखता हो उसे उस विषय की शिक्षा लेने का अवसर दिया जाना चाहिए। उस पर कोई अरुचिकर विषय थोपा या लादा नहीं जाना चाहिए। व्यक्ति जीवन में कभी–भी कोई अन्य विषय पढ़ सकता है। जिसे आज गणित या अंग्रेजी अच्छी नहीं लगती, हो सकता है उम्र के किसी पड़ाव पर अच्छी लगने लगे। लेकिन इसके बिना उसे उच्च शिक्षा से वंचित करना मानव की जिज्ञासा को दबाने जैसा है। अपनी चाहत और आवश्यकता के अनुसार अध्ययन करना मानव का अधिकार है जिसका सम्मान किया जाना चाहिए।

आज की भाग–दौड़ और स्पर्धा से भी बहुधा जिंदगी में मानव अधिकारों का अतिक्रमण होता है। यही कारण है कि आधुनिक कहे जाने वाले इस काल में संयुक्त राष्ट्र संघ को मानव अधिकारों की घोषणा करनी पड़ी है। इस घोषणा को स्वीकार करने वाले राष्ट्रों ने अपने–अपने देश में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग स्थापित किए हैं। भारत भी इन दोनों क्षेत्रों में एक अग्रणी देश हैं, किंतु हमारी कुछ समस्याएँ नितांत हमारी अपनी ही हैं। इन्हीं में से एक है विद्यार्थियों के मानव अधिकार जिसकी इस लेख में चर्चा की गई है। अभी तक यह विषय मानव अधिकार विशेषज्ञों की नजर से शायद दूर रहा है। इसीलिए अभी तक विद्यार्थियों के मानव अधिकारों के विषय में कुछ विशेष देखने–सुनने–पढ़ने को नहीं मिला है। इस लेख में उठाए गए मुद्दे कानून के नजरिये से कम और मानव अधिकार के नज़रिये से देखे जाने के ज्यादा हकदार हैं। अपने विद्यार्थी जीवन, प्राध्यापक जीवन, विद्यार्थियों के अभिभावक के अनुभव तथा नित प्रकाशित–प्रसारित समाचारों ने ही यह लेख लिखने की प्रेरणा दी है। जिस घटना ने इस लेख को लिखने के लिए प्रेरित किया है उसमें एक निरपराध बालक ने नकल करने का झूठा आरोप लगाए जाने पर स्कूल की चौथी मंजिल से कूदकर जान देने की कोशिश की थी। जान तो बच गई, पर बच्चा बुरी तरह जख्मी हो गया। हाथ पर प्लास्टर है और उसके निर्मल हृदय को जो घाव लगा है, उसे मैं महसूस कर रहा हूँ।

बालिका भ्रूण–हत्या : महिलाओं की अस्मिता पर प्रहार

* नन्द्रेश निगम

नवरात्रों में ढूंढ़–ढूंढ़ कर पूजी जाने वाली कन्या आज जन्म के बाद ही नहीं बल्कि जन्म से पहले भी क्रूरता, बर्बरता और नृशंसता का शिकार हो रही है। देश में बालिकाओं को जन्म लेने और अपना जीवन जीने के मूलभूत अधिकार से ही वंचित किया जा रहा है। इससे महिलाओं का अस्तित्व, उनकी अस्मिता और प्रकृति का संतुलन सब कुछ खतरे में पड़ रहा है। सामाजिक कुरीतियों के कारण लड़कियों को बोझ समझने वाला हमारा समाज लड़की को जन्म देने वाली कोख को ही कब्रगाह बनाने पर तुला हुआ है। गर्भ में जीवन की कली को खिलने से पहले ही कुचल दिया जाता है। इस पितृसत्तात्मक समाज में लड़कियां सदियों से भेदभाव और शोषण का शिकार रही हैं। इस समस्या की जड़ें इतनी गहरी हैं कि शहरी, पढ़ा–लिखा और समृद्ध वर्ग भी इससे अछूता नहीं है। महिलाओं के अस्तित्व को न केवल नकारने बल्कि उसका समूल नाश करने के कुचक्र में यह वर्ग भी शामिल है। यह हम सबके लिए खतरे की घंटी है। यह समस्या सीधे तौर पर मिथकों, भ्रांतियों और अंधविश्वासों से जुड़ी है, अतः कानूनी प्रावधानों के साथ–साथ लोगों की मानसिकता में बदलाव लाने से ही इसका समुचित समाधान संभव है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने महिलाओं को कभी कमज़ोर नहीं माना। उनका कहना था कि यदि शक्ति का अभिप्राय पाशविक शक्ति से है तो निश्चित रूप से पुरुष की तुलना में महिलाएं कम ताकतवर हैं। यदि शक्ति का अभिप्राय नैतिक बल से है तो महिला पुरुष से कहीं अधिक शक्तिशाली है। उसकी अंतर्दृष्टि, उसकी आत्म–बलिदान की भावना और उसकी सहनशीलता पुरुष से कहीं अधिक है। बिना महिला के पुरुष का अस्तित्व ही नहीं है। इसके अलावा और भी ऐसे अनेक विचारक व चिंतक हुए हैं जिन्होंने बिना

* हिंदी लेखक एवं पत्रकारिता से सम्बद्ध; 62 (एम आई जी फ्लैट), सेक्टर 13, फेज–2, पॉकेट–1, द्वारका, नई दिल्ली–75

स्त्री के पुरुष को पशु जैसा ही माना है। हमारी वैदिक संस्कृति भी स्त्री को देवी और शक्ति का प्रतीक मानती है तथा 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता' जैसी उक्तियों से उसे महिमामंडित करती रही है। लेकिन, पिछली अनेक सदियां इस बात की साक्षी हैं कि नैतिक बल पर पाशविक शक्ति का ही वर्चस्व रहा है। नवरात्रों में ढूंढ़–ढूंढ़ कर पूजी जाने वाली कन्या आज जन्म के बाद ही नहीं बल्कि जन्म से पहले भी क्रूरता, बर्बरता और नृशंसता का शिकार हो रही है।

हम स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को मानवाधिकारों का आधार मानते हैं, किंतु हमारे देश में बालिका को जन्म लेने और अपना जीवन जीने के मूलभूत अधिकार से ही वंचित किया जा रहा है। इससे महिलाओं का अस्तित्व, उनकी अस्मिता और प्रकृति का संतुलन सब कुछ खतरे में पड़ रहा है। इससे पहले भी देश के सभी संप्रदायों में, सभी जातियों में और सभी प्रदेशों में बालिका जन्म की परिणति 'शिशु–हत्या' के रूप में देखी गई है। 'पाशविक शक्ति' के प्रभुत्व के कारण अव्वल तो नवजात बालिकाओं की किलकारियों को गूंजने से पहले ही हमेशा के लिए बंद कर दिया जाता था लेकिन जिन बालिकाओं की सांसें बख्श दी जाती थीं वे भी जीवनभर उपेक्षा और भेदभाव वाला जीवन जीने को अभिशप्त रहती हैं। जीवन के हर क्षेत्र में, हर मोड़ पर उन्हें लड़कों से कमतर समझा जाता है और यही उनकी बदतर जिंदगी का कारण भी बनता है। आज सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के कारण लड़कियों को बोझ समझने वाला हमारा समाज लड़की को जन्म देने वाली कोख को ही कब्रगाह बनाने पर तुला हुआ है। गर्भ में जीवन की कली को खिलने से पहले ही कुचल दिया जाता है। उस अजन्मी बालिका की चीत्कार, उसका क्रंदन आज बेशक किसी को सुनाई न दे लेकिन तथाकथित आधुनिकता की आंधी में बह रहे देश–समाज को उसका कर्कश स्वर आने वाली विनाशलीला में अवश्य सुनाई देगा।

आज बालिका भ्रूण–हत्या देश की, समाज की सबसे गंभीर समस्याओं में से एक है। भ्रूण–हत्या के जरिए बालिकाओं को जनमने न देने की प्रवृत्ति विष–बेल की भांति शहरों में ही नहीं बल्कि गांव–देहात में भी तेजी से फैल रही है। यह एक ऐसा घिनौना अपराध है जिस पर अगर सख्ती से रोक नहीं लगाई गई तो इसके भयंकर परिणाम सामने आएंगे। देश की आधी आबादी अर्थात महिलाएं पहले से ही समाज में अपना स्वतंत्र अस्तित्व, अपने सम्मान और गौरव तथा बराबरी के अधिकार के लिए संघर्षरत हैं। भ्रूण–हत्या महिलाओं के अस्तित्व को न केवल नकारने बल्कि उसका समूल नाश करने का कुचक्र है।

पुरुष–महिला अनुपात : खतरे की घंटी

हमारे देश में पुरुषों के मुकाबले महिलाओं का अनुपात बहुत कम है और यह किसी भी सभ्य एवं उन्नतशील समाज के लिए कलंक भी है और घातक भी। यह समस्या आज की नहीं है बल्कि इसकी जड़ें इतिहास में बहुत दूर तक दिखाई देती हैं। पिछले

सौ सालों पर यदि हम निगाह डालें तो यह पाएंगे कि बालिकाओं के अस्तित्व को मिटा देने की प्रवृत्ति बदस्तूर जारी है। वर्ष 1901 में हर एक हजार पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 972 था। स्वतंत्रता के बाद वर्ष 1951 में यह 946 हो गया तथा वर्ष 2001 की जनगणना में यह अनुपात 933 दर्शाया गया है। 1991 की जनगणना में महिलाओं का अनुपात 927 था जिससे यह भ्रम होता है कि महिलाओं के अनुपात में कुछ सुधार हुआ है। लेकिन 0–6 वर्ष के आयु–वर्ग में एक हजार बालकों की तुलना में बालिकाओं का संख्या–अनुपात वर्ष 1991 के 945 से घटकर वर्ष 2001 में केवल 927 ही रह गया। देश, समाज और जनसांख्यिकी की दृष्टि से यह स्थिति अत्यंत खतरनाक है। महिलाओं के अनुपात में पहले यह गिरावट बालिका शिशु–हत्या के कारण हो रही थी और अब बालिका भ्रूण–हत्या ने इसे वीभत्स रूप दे दिया है।

यह तस्वीर तब और भयावह हो जाती है जब हम यह पाते हैं कि देश की राजधानी दिल्ली और आर्थिक राजधानी मुंबई में भी 6 वर्ष तक के आयु–वर्ग में बालिकाओं का संख्या–अनुपात घटकर क्रमशः 850 और 898 ही रह गया है। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि इन दोनों शहरों में कितनी बड़ी तादाद में बालिकाओं की इहलीला समाप्त कर दी गई। इस लिहाज से देश के कई अन्य शहर भी बालिकाओं को मिटा देने की होड़ में पीछे नहीं हैं। इनमें पुणे (906), अमृतसर (783), पटियाला (770), अंबाला (784), गुड़गांव (863), फरीदाबाद (856), कुरुक्षेत्र (770), अहमदाबाद (814), बड़ोदरा (873), राजकोट (844) और जयपुर (897) एक ऐसी स्याह तस्वीर पेश कर रहे हैं जिसमें बालिकाओं के लिए शायद कोई स्थान ही न रहे।

देश के 70 से ज्यादा जिलों में बालिकाओं की संख्या में 'असामान्य कमी' दर्ज की गई है जो कि हमारे लिए खतरे की घंटी है। पंजाब, हरियाणा, गुजरात और हिमाचल प्रदेश – इन चारों राज्यों में बालिकाओं का अनुपात खतरनाक तरीके से प्रति हजार बालकों पर 800 बालिकाओं से भी कम हो गया है। जिन जिलों की स्थिति बहुत अधिक शोचनीय है, उनमें पंजाब का फतेहगढ़ साहिब (754), हरियाणा में कुरुक्षेत्र (770) और गुजरात में महसाणा (798) शामिल है।

पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश जैसे समृद्ध राज्यों ने इस मिथक को भी दूर कर दिया है कि शिक्षा के प्रसार और आर्थिक प्रगति से इस तरह की समस्याएं स्वयंमेव कम होती जाएंगी। आज़ादी के बाद से ही हमारा पूरा सामाजिक–आर्थिक चिंतन इस बात की वकालत करता रहा है कि शिक्षा के जरिए जागरूकता लाकर और आर्थिक खुशहाली से देश–समाज की तमाम सामाजिक समस्याओं पर काबू पाया जा सकता है। लेकिन, वास्तविकता इसके ठीक उलट है। जनसंख्या संबंधी आंकड़े यह बताते हैं कि पंजाब और हरियाणा में ही नहीं बल्कि केरल (महिला अनुपात 1058) जैसे राज्य में भी शहरी, पढ़े–लिखे और समृद्ध वर्ग के हाथ बालिकाओं के खून से ज्यादा रंगे हुए हैं। दिल्ली जैसे महानगर के दक्षिण–पश्चिमी

इलाके में जहां भारत के कुछ अत्यंत समृद्ध और शिक्षित लोग रहते हैं, वहां एक हजार लड़कों पर लड़कियों का अनुपात केवल 845 है। जनगणना आयुक्त ने वर्ष 2001 के जो आंकड़े प्रस्तुत किए हैं, उनके अनुसार इस विकराल समस्या के लिए प्रमुख रूप से समृद्ध और वैभवशाली लोग ही जिम्मेदार हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन और इंडियन मेडिकल ऐसोसिएषन के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे देश में प्रतिवर्ष औसतन 20 लाख बालिका–भ्रूणों की हत्या कर दी जाती है। इसके अलावा परिवार नियोजन के नाम पर कुल जितने गर्भपात कराए जाते हैं, उनमें से 80 प्रतिशत से अधिक गर्भपातों में बालिका–भ्रूण को ही नष्ट किया जाता है। पिछले 10–20 वर्षों में ही बालिका भ्रूण–हत्या की प्रवृत्ति में तेजी आई है जिससे इस दौरान हम कई करोड़ बालिकाओं को खो चुके हैं।

सामाजिक–आर्थिक : दशा और दिशा

देश में बढ़ती जनसंख्या और महिलाओं का घटता अनुपात गंभीर चिंता का विषय है। पुरुषों के मुकाबले महिलाओं का संख्या–अनुपात कम होने का प्रमुख कारण प्रारंभ से ही बालिका–शिशुओं की बड़े पैमाने पर हत्याएं किया जाना रहा है। अनेक मिथकों, भ्रांतियों, अंधविश्वासों के कारण हमारा सामाजिक ताना–बाना कुछ इस तरह का रहा है, जिसमें लड़के को कुलदीपक, वंशवाहक, बुढ़ापे का सहारा, मौत के बाद कंधा देने वाला, चिता को अग्नि देने वाला माना गया है। हमारे पितृसत्तात्मक समाज में यह मिथ्या धारणा भी रही है कि पुत्र–प्राप्ति के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर लड़कियों को हमेशा बोझ और पराया धन माना गया है। दहेज जैसी कुप्रथाओं ने इस समस्या को और विकट बना दिया है। लड़कियों के विवाह के समय होने वाले अत्यधिक खर्च और अन्य परेशानियों के कारण लोग लड़कियों को पढ़ाने–लिखाने, उसे अच्छा आहार देने की जरूरत को ही नकारने लगे। उन्हें लगने लगा कि जिस लड़की के विवाह पर जीवन की सारी जमा–पूंजी खर्च हो जानी है और जो पराए घर की अमानत है, उस पर पोषाहार, स्वास्थ्य और शिक्षा की दृष्टि से खर्च किया जाना एकदम अनावश्यक है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी लड़कियों के साथ चल रही इस उपेक्षा और भेदभाव में स्वयं महिलाएं भी शामिल होती गईं। इस तरह लड़कों को घर–परिवार में तरजीह देने और लड़कियों को दबाकर रखने का अंतहीन सिलसिला चलता रहा। लड़कियों को मूलभूत अधिकारों से और अपनी योग्यता सिद्ध करने के अवसरों से वंचित रखा गया। स्थिति इतनी निराशाजनक होती गई कि लड़कों के जन्म पर खुशियां मनाई जाती हैं और लड़कियों के जन्म पर मातम छा जाता है। हमारे सभी रीति–रिवाज, धार्मिक अनुष्ठान, लोक–विश्वास आदि भी लड़के के ही पक्ष में झुके हुए हैं। बहू को 'पुत्रवती भव' का आशीर्वाद दिया जाता है। सभी मंगल गीत लड़के के जन्म के लिए हैं। पति की और पुत्र की दीर्घायु एवं कल्याण के लिए ही पत्नी और मां उपवास रखती हैं। क्या पत्नी के दीर्घायु और स्वस्थ होने तथा पुत्री के कल्याण की कामना करने की कोई जरूरत नहीं है?

लड़की के जन्म के कारण होने वाले तमाम सामाजिक–आर्थिक झंझटों से बचने के लिए तथा कुछ अन्य सामाजिक बुराइयों के कारण बालिका को जन्म लेते ही मार देने की घृणित मानसिकता विकसित होती गई। प्राचीन काल से ही नवजात बच्ची की हत्या के लिए ही कई अमानवीय और क्रूर तरीके अपनाए गए जिनमें मां के स्तनों पर अफीम लगाना, बच्ची के मुंह में आंवला रख देना, बच्ची को भूखा रखना, उसका गला घोंट देना, उसे पानी भरी बाल्टी में डाल देना आदि शामिल हैं। दिल दहला देने वाली यह क्रूरता और बर्बरता सदियों से चल रही है और इसमें परिवर्तन केवल इतना आया कि चिकित्सा–विज्ञान की प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीकों से पहले ही ज्ञात होने लगा कि गर्भ में पल रहा शिशु लड़का है या लड़की। फिर अवांछित बालिका–भ्रूण की गर्भपात के जरिए हत्या करवा देने और बालिका को जन्म लेने के मूलभूत अधिकार से वंचित रखने का सिलसिला चलने लगा।

गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर का कहना था कि इस पृथ्वी पर आने वाला प्रत्येक शिशु यह संदेश लेकर आता है कि ईश्वर मानव से निराश नहीं है। लेकिन बालिका–शिशु की विचित्र स्थिति यह है कि जन्म से पहले ही घृणा, उपेक्षा और भेदभाव के तहत उसका दमन कर दिया जाता है। उसे इस संसार में आकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने का मौका तक नहीं दिया जाता है।

प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीक वास्तव में यह पता लगाने के लिए है कि माता के गर्भ में पल रहे शिशु में कोई आनुवंशिक विकृति है या नहीं। लेकिन बालिकाओं के प्रति असंवेदनशीलता, अनैतिकता तथा उक्त तकनीक से जुड़े पेशेवर लोगों की मूल्यविहीनता और धनलिप्सा की प्रवृत्ति के कारण इस तकनीक का जमकर दुरुपयोग हुआ। तमाम कानूनी प्रतिबंधों और सामाजिक आंदोलन के बावजूद प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीक केवल बड़े शहरों में ही नहीं बल्कि गांव–देहात में भी धड़ल्ले से यह बताती रही है कि जन्म लेने वाला शिशु लड़का है या लड़की। इसका परिणाम बालिका भ्रूण–हत्या के रूप में सामने आता है। पढ़े–लिखे और समृद्ध परिवारों के लिए भी यह पता लगाना फैशन हो गया कि गर्भ में लड़का है या लड़की। जब परिवार को सीमित रखने की मंशा हो और साथ में लड़के को पाने की चाह भी, तो इसकी गाज गर्भ में पल रही लड़की पर पड़नी स्वाभाविक है।

अब शहरों में ही नहीं बल्कि गांवों में भी इस वैज्ञानिक तकनीक के पहुंचने का परिणाम यह हुआ कि पुत्र–प्राप्ति की लालसा रखने वाला हमारा समाज अब पूरी तरह से 'बालिका–हत्या' के खेल में शामिल हो गया। इसे सामाजिक विवशता कहें या घर–परिवार में अपनी इज्ज़त बनाए रखने की मजबूरी, लेकिन आज नारी भी नारी की दुश्मन बन गई है। ऐसा देखने में आया है कि बहुत–से गर्भपात केवल पारिवारिक दबावों के कारण ही नहीं होते बल्कि उनमें महिलाओं की भी रज़ामंदी होती है। विडंबना तो यह है कि दूर–दराज के गांवों में बुनियादी स्वास्थ्य सेवाएं तक उपलब्ध नहीं हैं और गर्भनिरोधक विधियों के बारे में भी कोई जानकारी नहीं है। वहीं हरियाणा और पंजाब

के ऐसे इलाकों में अल्ट्रासाउंड मशीनों से सुसज्जित मोटरगाड़ियों को खुलेआम देखा जा सकता था। महिलाओं के एक स्वैच्छिक संगठन द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार इस धंधे के मुनाफे को देखते हुए पिछले कुछ वर्षों में ऐसे क्लीनिकों की संख्या बहुत तेजी बढ़ी है। यह दुष्प्रचार भी किया जा रहा है कि ये लिंग–परीक्षण दहेज प्रथा का हल हैं। 'आज 500–1000 रुपये देकर कल भारी दहेज से बचें।' इस तरह का दुष्प्रचार पिछड़े, आदिवासी लोगों और किसानों आदि को बहुत आसानी से अपनी गिरत में ले रहा है। कुछेक वरिष्ठ चिकित्सकों का यह भी कहना है कि अवैध रूप से लिंग परीक्षण करने वालों की बहुत बड़ी तादाद है और पैसे के लालच में कई बार बालक–भ्रूण को भी बालिका बताकर नष्ट कर दिया जाता है।

दरअसल आदर्श स्थिति तो यह है कि पुरुषों और महिलाओं का संख्या–अनुपात बराबर हो। प्रकृति का नियम है और वह चाहती है कि नर और मादा का जोड़ा बने। जोड़ा तभी बनेगा जब दोनों के अंक समान हों। कल्पना कीजिए कि यदि समाज में बेटियों को पैदा ही नहीं होने दिया जाएगा तो कैसा समाज बनेगा। महिलाएं ही तो पुरुषों को जन्म देती हैं। ज़ब वे ही नहीं रहेंगी तो पुरुषों का अस्तित्व भी तो खतरे में पड़ जाएगा। आज परिवार नियोजन के नाम पर बालिका–भ्रूणों की गर्भपात के जरिए हत्या कराने वाले और संयोग से एक या दो बेटों को जन्म देने वाले दंपती जब गर्व से सिर ऊंचा करते हैं तो इससे उनका मानसिक दिवालियापन ही झलकता है। बेटियों के खून पर बेटों के माध्यम से वंश चलाना हैवानियत का ही प्रतीक है।

लिंग परीक्षण तकनीकें और समाज पर दुष्प्रभाव

1970 के दशक से ही गर्भ में पल रहे शिशु के लिंग की जांच की प्रवृत्ति चल रही है। इनमें मुख्य रूप से तीन पद्धतियाँ रही हैं। पहली–ऐम्नियोसेंटसिस (Amniocentesis) पद्धति है जिसमें सामान्यतया 15–17 सप्ताह की गर्भावस्था के दौरान ऐम्नियोटिक सैक से ऐम्नियोटिक लूड निकालकर लिंग–परीक्षण किया जाता था। दूसरी–कोरियोनिक विली बायोप्सी (Chorionic Villi Biopsy) पद्धति है जिसमें 6–13 सप्ताह की गर्भावस्था के दौरान भ्रूण के चारों तरफ के ऊतकों अर्थात कोरियोन की लंबी कोषिकाओं (Elongated cells) को लेकर उसका परीक्षण किया जाता है। तीसरी–अल्ट्रासाउंड (Ultrasound) पद्धति है जिसमें सामान्यतया 10 सप्ताह की गर्भावस्था के दौरान ध्वनि–तरंगों की सहायता से भ्रूण की दृश्यछवि स्क्रीन पर ली जाती है। हालांकि यह पद्धति गर्भस्थ शिशु में किसी विकृति का पता लगाने के लिए है किंतु इसका सबसे ज्यादा प्रयोग लिंग परीक्षण के लिए ही हुआ है।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कारों का सिलसिला चलता रहा है जिसमें अब नई एवं उन्नत तकनीकों के जरिए बालिका भ्रूण–हत्या किए बिना भी पुत्र की संभावना को बढ़ाना संभव हुआ है। चूंकि गर्भस्थ शिशु के लड़का या लड़की होने के लिए माता नहीं वरन पिता ही पूरी तरह से जिम्मेदार है अतः गर्भ धारण करने से पहले ही एरिक्सन

पद्धति के जरिए x और y गुणसूत्र शुक्राणुओं (क्रोमोसोम स्पर्म) को अलग किया जाता है और y गुणसूत्र शुक्राणुओं को महिला के गर्भाशय में पहुंचाया जाता है जहां y गुणसूत्र शुक्राणुओं द्वारा अंडाणु को निषेचित किए जाने से लड़के का जन्म होता है।

ये सभी तकनीकें बालिकाओं के अस्तित्व पर प्रहार कर रही हैं, लेकिन असल समस्या हमारी सोच में, हमारी मानसिकता में है। चिकित्सा–विज्ञान की तकनीकें तो केवल एक जरिया मात्र हैं, जिनका परिवार के सदस्य, क्लीनिक और डॉक्टर सब मिलकर दुरुपयोग कर रहे हैं। इन पर केवल कानूनी रोक और प्रतिबंध लगा देने मात्र से समस्या नहीं सुलझेगी क्योंकि कानून में हजारों छेद ढूंढ़े जा सकते हैं। कानून की अवमानना और इन तकनीकों का धड़ल्ले से दुरुपयोग तब तक होता रहेगा जब तक हमारी सामाजिक सोच और पुत्र को वंश–परंपरा का वाहक मानने की मानसिकता नहीं बदल जाती। जब तक इन सामाजिक संकीर्णताओं को दूर नहीं किया जाएगा तब तक गर्भवती महिला के शरीर के साथ यह खिलवाड़ होता रहेगा। यह जानते हुए भी कि बार–बार गर्भपात कराने से महिला तमाम तरह के संक्रमणों से ग्रस्त हो सकती है और उसकी जान पर भी खतरा बना रहता है। इसके अलावा कोमल कली को औजारों से छिन्न–भिन्न किए जाने से महिला शरीर से ही नहीं बल्कि मन से भी दुर्बल हो जाती है। गर्भ में जीवन के संचार से जो सुखद अनुभूति होती है, उस पर गहरा आघात तब पहुंचता है जब माता को गर्भस्थ शिशु की जान लेने के लिए विवश किया जाता है। इससे उसकी गरिमा, उसकी प्रतिष्ठा पर ही आंच नहीं आती बल्कि उसमें अपराध बोध की भावना भी घर कर जाती है। यह स्थिति उसके जबरदस्त सदमे का कारण बनती है।

बालिका भ्रूण–हत्या से पूरे समाज पर भी बुरा प्रभाव पड़ रहा है क्योंकि महिलाओं का अनुपात निरंतर कम होने से प्रकृति का संतुलन बिगड़ रहा है। एक तो महिलाएं ही कम होती जा रही हैं और जो हैं भी उनका शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य समाज के लिए बड़ी समस्या बन रहा है। बालिकाओं और महिलाओं की संख्या कम होने से उनके विरुद्ध अपराध और हिंसा की घटनाएं दिनोंदिन बढ़ रही हैं। जिन राज्यों में पहले बालिका षिषु–हत्याएं और अब बहुत ज्यादा बालिका भ्रूण–हत्याएं हो रही हैं वहां ऐसा भी देखने में आया है कि विवाह योग्य लड़कों को अपने लिए लड़कियां नहीं मिल पातीं। इन सभी स्थितियों का सीधा परिणाम होता है–दहेज के कारण होने वाली मौतें, बाल विवाह, दुल्हनों की खरीद–फरोख्त, अपहरण और बलात्कार आदि।

कानूनी उपाय

समाज के संतुलन को तबाह कर देने वाली इस समस्या से निपटने के लिए कानूनी उपाय भी किए गए हैं। इनमें गर्भ का चिकित्सकीय गर्भ समापन अधिनियम, 1971 (Medical Termination of Pregnancy Act, 1971) के अंतर्गत मुख्य रूप से तीन बातों का उल्लेख किया गया –एक, किन परिस्थितियों में गर्भपात करवाया जा सकता

है। दूसरा, यह गर्भपात कौन कर सकता है। तीसरा, ये गर्भपात कहां कराए जा सकते हैं। इस अधिनियम में ऐसे बहुत से बिंदु थे जिनके आधार पर आसानी से बालिका–भ्रूण को नष्ट किया जा सकता था। इसके अलावा इसमें दंड का कोई प्रावधान नहीं था। बाद में वर्ष 2002 में कुछ ऐसे प्रावधान किए गए जिनमें बालिका–भ्रूण का गर्भपात करवाने वालों और करने वालों को दो से सात वर्ष तक के कठोर कारावास के दायरे में लाया गया। गर्भ का चिकित्सकीय समापन नियमन, 2003 में अस्पतालों आदि में प्रक्रिया संबंधी तथा जिलास्तरीय समिति के बारे में कुछ प्रावधान किए गए।

प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीक (नियमन एवं दुरुपयोग की रोकथाम) अधिनियम,1994 (Pre-natal Diagnostic Techniques (Regulation and Prevention of Misuse) Act, 1994) 1 जनवरी, 1996 से अस्तित्व में आया। इसमें उक्त तकनीक का दुरुपयोग करके भ्रूण के लिंग का पता लगाने और इस बारे में विज्ञापन करने पर रोक लगाई गई। साथ ही आनुवंशिक विकृतियों का पता लगाने के लिए अनुमति एवं नियमन का प्रावधान किया गया। इसमें केवल पंजीकृत संस्थाएं ही निश्चित परिस्थितियों में ऐसी तकनीकों का इस्तेमाल कर सकती हैं। किसी भी परिस्थिति में इन तकनीकों का इस्तेमाल भ्रूण के लिंग का पता लगाने के लिए नहीं किया जाएगा, जिसमें अल्ट्रासोनोग्राफी भी शामिल है। उक्त तकनीक संचालित करने वाला कोई भी व्यक्ति गर्भवती महिला को या उसके संबंधियों को मौखिक रूप में, लिखित रूप में या अन्य किसी भी प्रकार से भ्रूण के लिंग की जानकारी नहीं देगा। इनका उल्लंघन होने पर पहली दोषसिद्धि के लिए तीन वर्ष का कारावास और/अथवा रु. 10,000/– के जुर्माने तथा दूसरी दोषसिद्धि में रु. 50,000/– के जुर्माने और पांच वर्ष के कारावास का प्रावधान था। इस अधिनियम में भ्रूण के लिंग परीक्षण पर तो रोक लगाई गई लेकिन गर्भधारण से पहले ही लड़की को जनमने न देने की तकनीक इसके दायरे में नहीं थी। यह अधिनियम बालिका भ्रूण–हत्या रोकने में एकदम विफल साबित हुआ और कई वर्षों तक इसमें एक भी दोषसिद्धि नहीं हुई।

समस्या की गंभीरता को देखते हुए वर्ष 1994 के अधिनियम को वर्ष 2002 में संशोधित किया गया तथा यह 14 फरवरी, 2003 से लागू हुआ। अब 1994 के मूल अधिनियम का नाम बदलकर गर्भधारण–पूर्व एवं प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीक (लिंग परीक्षण निषेध) अधिनियम (Pre-conception and Pre-natal Diagnostic Techniques (Prohibition of Sex Selection) Act) कर दिया गया है। इसमें गर्भधारण से पहले या बाद में शिशु का लिंग चुनने या लिंग का पता लगाने पर रोक लगाई गई है। इसमें आनुवंशिक विकृति का पता लगाने के लिए अल्ट्रासाउंड जैसी प्रसव–पूर्व नैदानिक तकनीक के प्रयोग पर प्रतिबंध तो नहीं लगाया गया किंतु उसका नियमन किया गया है। इसके अनुसार अल्ट्रासाउंड परीक्षण करने वाले नर्सिंग होम, पंजीकृत मेडिकल प्रैक्टीशनर या अस्पतालों को यह बताना आवश्यक होगा कि वे लिंग–परीक्षण नहीं करते हैं। लिंग–परीक्षण करवाने वालों को पहली दोषसिद्धि पर तीन वर्ष के कारावास और

रु. 50,000/– के जुर्माने का प्रावधान है तथा इसका विज्ञापन करने वालों के लिए तीन वर्ष तक के कारावास और रु. 40,000/– तक के जुर्माने का प्रावधान है।

उच्चतम न्यायालय ने एक जनहित याचिका के संदर्भ में 4 मई, 2001 को एक आदेश भी सुनाया है जिसमें केंद्र सरकार, राज्य सरकारों, संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासन और अन्य उपयुक्त प्राधिकारियों को इस समस्या के संबंध में सख्त, कारगर और प्रभावी कदम उठाने के निदेश दिए गए हैं।

समस्या से निपटने के लिए सुझाव

बालिका भ्रूण–हत्या की समस्या से निपटने के लिए कानूनी उपाय किए गए हैं तथा जागरूकता लाने के लिए अभियान भी चलाए गए हैं लेकिन इसके बावजूद बालिकाओं को मिटा देने की प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लग सका है। इस संबंध में सुझाव है कि महिलाएं स्वयं अपने भीतर से हीन–भावना दूर करें और अपने जन्म को सार्थक बनाने के लिए पहल करें। महिलाओं ने इस दिशा में कदम बढ़ाए हैं तथा ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में नई ऊंचाइयों को भी छुआ है किंतु सामाजिक विषमता और पूर्वाग्रहों से मुकाबला करने के लिए उन्हें अभी और दृढ़ता से आगे आना होगा। पुरुष मानें या न मानें परंतु महिलाएं स्वयं अपने को दोयम दर्जे का न मानें। उनमें अपने अस्तित्व की, अपनी पहचान की भूख होनी चाहिए। महिलाओं में यदि दृढ़–इच्छाशक्ति होगी तो पुरुष को उसके आगे नतमस्तक होना ही पड़ेगा। उसे अपना प्रभुत्ववादी और वर्चस्ववादी स्वभाव बदलना ही होगा। यही परिवार और समाज के भी हित में है। इस दिशा में कुछ कदम बढ़ाए गए हैं, लेकिन फिर भी मंजिल अभी काफ़ी दूर है।

यदि माता ही अपनी बेटी की सही तरह से परवरिश नहीं करेगी तो पुरुष भी मन नहीं बनाएगा। पुरुष का बहुत ज़्यादा जुड़ाव नहीं होता, वह केवल जिम्मेदारियां निभाता है। प्रायः देखने में आया है कि बेटी पैदा होने की बात सबसे पहले दादी, नानी या सास ही उठाती हैं। इस दुश्चक्र को तोड़ने से बालिका के जीने के अधिकार को बल मिलेगा। इसके अलावा और एक आक्रामक जागरूकता अभियान चलाया जाए जिसमें सरकारी संगठनों के साथ–साथ स्वैच्छिक संगठनों, धार्मिक संगठनों को भी शामिल किया जाए। इस अभियान में महिलाओं के जन्म के महत्व को समझाया जाए। यह चेतना जागृत की जाए कि स्त्री का जन्म पुरुष के सहस्रों जन्मों से ज्यादा पवित्र, सार्थक और संपन्न होता है क्योंकि महिलाएं ही पुरुषों को जन्म देती हैं।

दहेज जैसी कुरीतियों को जड़–मूल से उखाड़ने का संकल्प भी करना होगा। इसी के साथ इस भ्रांति को भी दूर करने के लिए सामाजिक आंदोलन चलाए जाने की जरूरत है कि बुढ़ापे का सहारा केवल लड़का ही होता है। दरअसल लड़की भी माता–पिता की सेवा–शुश्रूषा कर सकती है, बस हमें उसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाना होगा। यह वातावरण सामाजिक दृष्टि से भी जरूरी है और कानूनी दृष्टि से

भी। लड़कियों को माता–पिता की संपत्ति में अधिकार आदि के रूप में कुछ पहल हुई भी हैं। रही बात मृत्यु के बाद चिता को अग्नि देने की तो यहां एक यक्ष प्रश्न समाज के समक्ष खड़ा हुआ है कि जो महिला पुलिस और सेना के माध्यम से राष्ट्र की सेवा कर सकती है, वैज्ञानिक बन सकती है, अंतरिक्ष में जा सकती है, ज्ञान–विज्ञान के हर मोर्चे पर सफलता अर्जित कर सकती है तो क्या वह चिता को अग्नि नहीं दे सकती। इस प्रश्न के संबंध में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। वंश–परंपरा और मोक्ष आदि के बारे में व्याप्त भ्रांतियां हर–हालत में दूर की जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त बालिका भ्रूण–हत्या से संबंधित कानूनी प्रावधानों का कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए सख्त और प्रभावी कार्रवाई की जानी चाहिए। बालिका भ्रूण–हत्या के लिए दोषी पाए जाने वाले किसी भी व्यक्ति, डॉक्टर आदि को बख्शा नहीं जाना चाहिए। समाज सेवा से जुड़े कुछ लोगों का कहना है कि बालिका भ्रूण–हत्या एक जघन्य और घिनौना अपराध है, अतः इसके लिए भी वही दंड होना चाहिए जो अन्य प्रकार की हत्याओं में होता है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

जीवेम शरदः शतम्

* सरोज कुमार शुक्ल

अपने अधिकारों का उपभोग करने के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रहना आवश्यक है। पर दुःखद बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 50 वर्षों बाद भी हम स्वास्थ्य के क्षेत्र में काफी पीछे हैं, इसका कारण केवल आर्थिक ही नहीं है। भ्रष्टाचार, गिरते हुए नैतिक मूल्य और राजनैतिक इच्छा शक्ति की कमी भी इसके लिए उत्तरदायी है। सार्वभौम मानवाधिकार घोषणा के अतिरिक्त भारतीय संविधान के नीति–निर्देशक तत्वों को अनुच्छेद 21 से जोड़कर स्वास्थ्य के अधिकार को मौलिक अधिकार माना गया है। परन्तु इन समस्त संवैधानिक उपबन्धों के बावजूद वास्तविकता कुछ और ही है। हालांकि विगत 50 वर्षों में स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार हुआ है पर उचित प्रबंधन के अभाव में अपेक्षित परिणाम सामने नहीं आये हैं। आज उचित प्रबंधन के साथ–साथ जनसंख्या और कुपोषण जैसे मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है ताकि विकास का लाभ लोगों को मिल सके।

सभी कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए शरीर ही प्रथम साधन है। इसे और विस्तार दें तो कह सकते हैं कि अपने सभी अधिकारों (मानवाधिकार सहित) के उपयोग के लिए और अपने सभी कर्त्तव्यों के अनुपालन के लिए शरीर का स्वस्थ होना अनिवार्य है। चूंकि मन और मस्तिष्क भी शरीर के ही अंग हैं इसलिए स्वास्थ्य की परिधि में स्वाभाविक रूप से उनका स्वास्थ्य भी शामिल है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है।

अस्वस्थ होने का एक कारण तो व्यक्ति स्वयं भी हो सकता है। कुछ मामलों में व्यक्ति स्वयं अपनी आदतों के कारण, अपने प्रमाद के कारण या कुपथ्य सेवन आदि के कारण बीमारी को न्योता देता है। इस सम्बन्ध में मैं यहाँ तुलसीदास को उद्धृत कर रहा हूँ :

जानबूझ विष संग्रह करई। कहई उमापति काहे न मरई।।

---

* सहायक निदेशक, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

लगे हाथ तुलसीदास का एक और उदाहरण देने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहीं व्यापा।।

आदर्श रामराज में दैहिक, दैविक, भौतिक ताप का कहीं कोई अस्तित्व नहीं था। आज हम दैविक और भौतिक ताप की बात भले न करें लेकिन अपने इस लोकतंत्र में जिसके लिए हम गर्व के साथ अनेक विशेषण लगाते हैं और जोर–जोर से मानवता की दुहाई देने वाली इस आधुनिक दुनिया में हम दैहिक ताप से मुक्ति की न सिर्फ कामना करते हैं बल्कि उसकी माँग भी करते हैं और उसके लिए दावा भी करते हैं।

लगभग छह दशक की आजादी के बावजूद और विश्वशक्ति के रूप में उदित हो रहे भारत के तूर्यनाद के बीच स्वास्थ्य के मोर्चे पर हम कितने अशक्त और निरीह हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारी स्वास्थ्य सेवाएँ अपर्याप्त हैं। लेकिन समस्या सिर्फ स्वास्थ्य सेवाओं की अपर्याप्तता की ही नहीं है, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच, स्वास्थ्य सेवाओं की व्यावसायिकता, तंत्र की ओर से उपेक्षा, लापरवाही, तिरस्कार आदि अनेकों ही समस्याएँ आज विचारणीय हैं। मानवता की सेवा के नाम पर जमीन की नाम–मात्र की कीमत चुकाकर उन पर बने आलीशान पंच–सितारा अस्पतालों के पास आम जनता फटक भी नहीं सकती। लेकिन जो अभिजन अपनी ठसक के साथ वहाँ जाते हैं उनमें से भी कई अपने ठगे जाने की दास्तान सुनाते हुए बाहर आते हैं। सरकारी अस्पतालों में व्याप्त लापरवाही, उपेक्षा, तिरस्कार, टाल–मटोल, निष्क्रियता, भाई–भतीजावाद (स्टाफवाद), भ्रष्टाचार आदि का बोलबाला सर्वविदित है। तंत्र में अयोग्य डॉक्टरों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यह तो हुई शहरों और नगरों की बात। गाँव–गवईं में आज भी स्वास्थ्य सुविधाओं का नितांत अभाव है। नाम मात्र के कुछ स्वास्थ्य केंद्र बने हैं जिनका वर्णन करने से बेहतर मौन रहना ही है। जनता नीम हकीमों की शिकार बनती है। कुछ खुशकिस्मत मरीज दुर्गम रास्तों को तय कर शहरों के अस्पतालों के भेड़िया धसान का अंग बन जाते हैं अन्यथा अधिकांश गाँव में ही काल कवलित हो जाते हैं।

खाद्य पदार्थों में मिलावट, नकली दवाओं का कारोबार, आदि अनेक कारक हैं जो स्वस्थ समाज की परिकल्पना को मुँह चिढ़ाते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक कारणों और टूटते हुए जीवन मूल्यों के कारण बढ़ते तनाव मानसिक रोगों में वृद्धि कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आधि–व्याधि से पूरा समाज जर्जर है। पूरा देश त्राहिमाम की मुद्रा में है फिर भी हम अनेक वायवीय मुद्दों पर तलवार ताने खड़े हैं और इस मूलभूत मुद्दे पर लगभग मौन हैं कि सच्चे लोकतंत्र में हर नागरिक को स्वस्थ रहने का अधिकार है। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि 21 वीं सदी की तथाकथित उन्नत विश्व व्यवस्था में अकाल मृत्यु मानवाधिकार की चिंता का विषय बने।

आधुनिक समय में 1948 के सार्वभौमिक मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य को मनुष्य के अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अनुच्छेद 25 में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि 'अपने और अपने परिवार की तंदुरुस्ती तथा स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त जीवन–स्तर जिसमें भोजन, वस्त्र–धारण, आवास, चिकित्सा सुविधा, बीमार और अशक्त होने पर सुरक्षा का अधिकार भी शामिल है, का अधिकार सभी को है'। इस दृष्टि से सर्वोत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करना व्यक्ति का मौलिक अधिकार है जिसका कार्यान्वयन केवल स्वास्थ्य–क्षेत्र पर ही नहीं बल्कि सामाजिक, आर्थिक और कई अन्य क्षेत्रों पर भी निर्भर करता है। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा का अनुच्छेद 12 भी प्रत्येक व्यक्ति को सर्वोत्तम शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने का अधिकार देता है।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न मानवाधिकारों की स्वीकारोक्ति को भारतीय संविधान में भी स्थान दिया गया है। स्वास्थ्य सहित अनेक सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को संविधान के चौथे अध्याय में राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों में शामिल किया गया है। हालाकि ये सिद्धांत, मौलिक अधिकारों की भांति बाध्यकारी नहीं हैं फिर भी अनुच्छेद 42 में निर्देश दिया गया है कि राज्य काम की न्यायसंगत और मानवीय स्थितियां सुनिश्चित करने तथा मातृत्व राहत सुनिश्चित करने के लिए प्रावधान करेगा। अनुच्छेद 47 में भी कहा गया है कि राज्य अपने नागरिकों का जीवन–स्तर तथा पोषण स्तर ऊपर उठाने और जन–स्वास्थ्य को बेहतर बनाने को अपना प्राथमिक कर्तव्य मानेगा। विशेष रूप से यह चिकित्सकीय उपयोग को छोड़कर स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नशीले पेय और दवाईयों के सेवन को रोकने का प्रयास करेगा। इसके अलावा इन निर्देशक सिद्धांतों को अनुच्छेद 21 में वर्णित मौलिक अधिकार के साथ पढ़ा जाना चाहिए। इसमें स्वास्थ्य और स्वास्थ्य–रक्षा के अधिकार को शामिल किया गया है तथा उन्हें जीवन के अधिकार का अभिन्न अंग माना गया है। इन संवैधानिक उपबंधों के साथ–साथ उच्चतम न्यायालय ने भी जन–स्वास्थ्य को लेकर कई महत्वपूर्ण निर्णय दिए हैं। इनमें शीर्ष न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि स्वास्थ्य व्यक्ति का मौलिक अधिकार है। संवैधानिक उपबंधों और न्यायालय के निर्णयों में स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी सुविधाएं सभी नागरिकों को सुलभ कराने का निर्देश दिया गया है।

इन तमाम संवैधानिक और न्यायिक निर्देशों के बावजूद जमीनी हकीकत बहुत ही निराशाजनक तस्वीर पेश करती है। इसका कारण है कि यह मुद्दा केवल आर्थिक संसाधनों की अपेक्षा स्वास्थ्य नीति और इसके कार्यान्वयन की नियत से अधिक जुड़ा हुआ है। पिछले पांच दशकों में स्वास्थ्य के क्षेत्र में हुई प्रगति को संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। स्वास्थ्य के अधिकार व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं से जनित हैं लेकिन सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की भांति स्वास्थ्य के अधिकार पर भी गरीबी का ग्रहण लगा हुआ है। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से शोषित लोगों की स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच ही नहीं है। स्वास्थ्य सेवाओं का दायरा केवल डॉक्टरी चिकित्सा और अस्पताल

तक सीमित नहीं है वरन् उसमें पौष्टिक आहार, स्वच्छता, शुद्ध पेयजल की उपलब्धता, प्रदूषण मुक्त वातावरण पर्यावरण आदि भी आते हैं। इन सबका का पर्याप्त रूप में सुलभ न होना भी व्यक्ति के अधिकार का हनन है।

देश में अब भी कुपोषण, गंदगी, प्रदूषण का साम्राज्य है। इसका सबसे अधिक प्रभाव दलितों, आदिवासियों महिलाओं और बच्चों पर पड़ता है। दरअसल, स्वास्थ्य के अधिकार के हनन का प्रमुख कारण समाज में व्याप्त सामाजिक–आर्थिक विषमताएँ हैं। आज के उपभोक्तावादी समाज में ये विषमताएँ और तेजी से बढ़ रही हैं। जनसंख्या के अत्यधिक बोझ से भी स्वास्थ्य नीति के परिणामों पर असर पड़ता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वतंत्रता के तुरन्त बाद से ही देश में केंद्र और राज्यों की सरकारों ने स्वास्थ्य और शिक्षा को मानवीय विकास का आधार मानते हुए अनेक दीर्घकालिक योजनाएं और कार्यक्रम बनाए हैं।

इनमें प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और प्रसूति गृह खोला जाना, जन्म के बाद बच्चों को जानलेवा बीमारियों से बचाने के लिए निशुल्क टीकाकरण, पल्स पोलियो अभियान आदि शामिल हैं। इसके अलावा देश में बड़े पैमाने पर सरकारी और निजी अस्पताल खोले गए हैं जिनमें साध्य–असाध्य रोगों के उपचार के लिए बड़े पैमाने पर पूंजी लगाई गई है। सकल घरेलू उत्पाद (जी0डी0पी0) की 69 प्रतिशत राशि स्वास्थ्य रक्षा के क्षेत्र पर ही खर्च की जा रही है। संसाधनों और स्वास्थ्य कर्मियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। अस्पतालों की संख्या वर्ष 1991 में 11,174 (57 प्रतिशत निजी) से बढ़कर वर्ष 2000 में 18,218(75 प्रतिशत निजी) हो गई। वर्ष 2000 में देश में 12.5 लाख डॉक्टर और आठ लाख नर्सें थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक 1800 व्यक्तियों पर एक डॉक्टर उपलब्ध था। यदि आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक और अन्य चिकित्सा–पद्धतियों को भी शामिल किया जाए तो प्रत्येक 800 व्यक्तियों पर एक डॉक्टर उपलब्ध होता है। इसके अलावा हर वर्ष 15,000 स्नातक डॉक्टर और 5,000 स्नातकोत्तर डॉक्टर प्रशिक्षित होकर निकलते हैं।

स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी सुविधाएं मुख्य रूप से शहरी क्षेत्रों मुख्यतया महानगरों में ही केंद्रित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की विषम और प्रतिकूल स्थिति इसी बात से सिद्ध होती है कि वहां अस्पतालो में बिस्तरों और डॉक्टरों का अनुपात शहरों की तुलना में क्रमशः 15 गुणा और 6 गुणा कम है। प्रतिव्यक्ति व्यय सात गुणा कम है। राज्यों का व्यय भी बहुत कम है। भारत में जन–स्वास्थ्य के आधारभूत ढांचे की प्रमुख इकाई प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र हैं। हाल के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि केवल 38 प्रतिशत प्राथमिक केंद्रों में ही आवश्यक कर्मचारी हैं और केवल 31 प्रतिशत केंद्रों में ही सभी जरूरी आपूर्तियां की जाती हैं। यह दुःख की बात है कि केवल तीन प्रतिशत प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में ही 80 प्रतिशत आवश्यक सामग्री निवेश सुलभ है। शहर की गंदी बस्तियां भी बद से बदतर हो रही मानव–स्थितियों की व्यथा सुनाती हैं।

आजादी के बाद 50 वर्ष से अधिक की अवधि में देश में स्वास्थ्य–सेवाओं में सुधार तो हुआ है लेकिन संसाधनों की कमी और उचित प्रबंधन के अभाव में उसका अपेक्षित लाभ नहीं मिल सका है। यदि हम महिलाओं की स्थिति, बाल मृत्यु दर, कुपोषण, खून की कमी, पेयजल जैसे मानकों पर दृष्टि डालें तो हम अपने आपको विकसित देशों से ही नहीं बल्कि अनेक विकासशील देशों से भी पीछे खड़ा पाते हैं। भारत में प्रसव के दौरान मृत्युदर (एम0एम0आर0) 550–570 है अर्थात 37 में से एक महिला इस घातक दौर से गुजरती है। यह मृत्यु–दर चीन और श्रीलंका से भी 4–5 गुणा अधिक है। भारत में जच्चा बच्चा स्थिति अच्छी कैसे हो सकती है जबकि एक–तिहाई से भी कम महिलाओं (31.8 प्रतिशत) को पूर्ण प्रसव–पूर्व देखभाल प्राप्त हो पाती है। इसी तरह ग्रामीण क्षेत्रों में भी एक–तिहाई महिलाओं (32.3 प्रतिशत) को ही सुरक्षित प्रसव की सुविधा मुहैया हो पाती है। गर्भावस्था के दौरान स्वास्थ्य और पोषण पर ध्यान न दिए जाने और पर्याप्त आपातिक प्रसूति सेवाएं न मिल पाने के कारण माताओं की जिंदगी पर मौत का खतरा मंडराता रहता है। कदाचित विश्वभर में विशेषकर भारत जैसे विकासशील देशों की स्थिति को देखते हुए ही विश्व स्वास्थ्य संगठन वर्ष 2005 को जच्चा–बच्चा वर्ष घोषित किया है।

शहरी क्षेत्रों में निजी अस्पतालों की संख्या में बढ़ोतरी तो हुई है लेकिन व्यावसायिकता की आंधी से ये अस्पताल भी अछूते नहीं हैं। इनका महंगा इलाज आम आदमी को उसके बुनियादी अधिकार से वंचित करता है। विवश होकर लोगों को झोला छाप डॉक्टरों की शरण में जाना पड़ता है। पैसे के लालच में ये अस्पताल गर्भवती महिलाओं के शरीर से खिलवाड़ करते हैं तथा सामान्य प्रसव के स्थान पर अनावश्यक रूप से ऑपरेशन के जरिए प्रसव को तरजीह देते हैं। गर्भावस्था के दौरान जांच के लिए जो नई वैज्ञानिक तकनीकें समाने आई हैं उनका जमकर दुरुपयोग हो रहा है। तमाम कानूनी प्रतिबंधों के बावजूद इस बात की धड़ल्ले से जांच की जा रही है कि गर्भ में लड़का है या लड़की। लड़के की चाह रखने वाले हमारे समाज में इसकी परिणति बालिका भ्रूण–हत्या के रूप में होती है।

मादा भ्रूण के लिए माँ की कोख ही कब्रगाह बना दी जाती है। मादा भ्रूण–हत्या के कारण स्त्री–पुरुष अनुपात में असंतुलन आ रहा है जो हमारे लिए भयानक खतरे की घंटी है। भारत में शिशु मृत्यु दर भी गंभीर चिंता का विषय है जो कि औसतन 1000 जन्मे बच्चों मे से 72 हैं। महिलाओं और बच्चों से जुड़ी यह स्थिति अपने भीतर सामाजिक और आर्थिक विनाश का बीज लिए हुए है। हमारा समाज जीवन की स्वतंत्रता, समानता और स्वास्थ्य जैसे मानवाधिकार सभी महिलाओं और बच्चों को सुलभ कराए जाने में विफल रहा है। इसमें सामाजिक कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ समस्या को और विकराल बना रही हैं।

आज भी यदा–कदा भुखमरी से मौतें होने की खबरें आती रहती हैं। देश में पांच वर्ष से कम आयु के 50 प्रतिशत बच्चे (लगभग 6 करोड़) कुपोषण का शिकार हैं। यहाँ

कुपोषण के कारण समय से पहले अशक्त बच्चों का जन्म या कम वज़न के बच्चों का जन्म भी आम बात है। भारत में इसका प्रतिशत 33 है जबकि यह दक्षिण कोरिया और चीन में नौ, थाईलैण्ड में 6 और इंडोनेशिया में 8 है। उचित पोषण और टीकाकरण के अभाव में बड़ी तादाद में बच्चे ऐसी बीमारियों से मर जाते हैं जिनकी रोकथाम की जा सकती है। कुपोषण एक बहुत बड़ी समस्या है और बच्चे, गर्भवती महिलाएं, वृद्ध व्यक्ति, कमजोर वर्ग के लोग इससे अधिक पीड़ित हैं। निम्न जीवन–स्तर के एक से पांच वर्ष तक के बच्चों की मृत्यु दर उच्च जीवन स्तर वाले बच्चों से 3.9 गुणा अधिक है। संतुलित भोजन मानव की प्राकृतिक आवश्यकता है और इस अधिकार की रक्षा के लिए न केवल दवा की अपितु पर्याप्त, पौष्टिक और संतुलित भोजन की जरूरत है। महिलाओं में खून की कमी और बच्चों में कुपोषण को दूर किए बिना हम अपनी भावी पीढ़ी को स्वस्थ नहीं बना सकते । देश के जनजातीय क्षेत्रों में स्वास्थ्य की दृष्टि से मानवाधिकार हनन की स्थिति अत्यंत भयावह है। वहां लोग कुपोषण के साथ–साथ महामारी के भी शिकार हैं।

यहां यह सीधा सवाल खड़ा होता है कि क्या हम बीमार, कमजोर और अशक्त आबादी को लेकर विकसित देशों की श्रेणी में खड़े हो सकते हैं? स्वास्थ्य का अधिकार, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की परिधि में आता है। देश में केवल नागरिक या राजनीतिक अधिकारों पर ही नहीं बल्कि आर्थिक, सामाजिक अधिकारों पर भी ध्यान केंद्रित करना चाहिए। गरीबी में जीवन–यापन करना और स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित होना मानवाधिकार का सबसे गंभीर उल्लंघन है। अतः हमें इस दिशा में ध्यान देना होगा और प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए कारगर उपाय करने होंगें।

इसके लिए बेतहाशा बढ़ रही आबादी पर अंकुश लगाने हेतु परिवार–नियोजन कार्यक्रमों को गति प्रदान करने के लिए जन–जागरूकता तथा सभी नागरिकों को स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार जैसी जरूरतों के बीच के अंतर–संबंध से परिचय कराने की आवश्यकता है। यह जन–जागरूकता आंदोलन शहरी, ग्रामीण, जनजातीय क्षेत्रों के साथ साथ महिलाओं, दलितों, जनजातीय लोगों, अल्पसंख्यकों आदि की आवश्यकताओं और सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर चलाया जाना चाहिए। इसमें स्वास्थ्य के विभिन्न पहलुओं या रूपों की भी जानकारी दी जानी चाहिए। जन स्वास्थ्य सेवा का अधिकार आपातकालीन चिकित्सा सेवा का अधिकार, उचित मूल्य पर आवश्यक दवाएं प्राप्त होने का अधिकार, बीमारी निवारण ज्ञान का अधिकार, अधिनियमों के प्रावधानों के कार्यान्वयन में होने वाली कमी को दूर करने के लिए जवाबदेही ठहराना, एच0 आई0 वी0 एड्स रोगियों तथा वरिष्ठ नागरिकों के स्वास्थ्य का अधिकार आदि को इसके अन्तर्गत शामिल किया जाना चाहिए।

एक अन्य बड़ी समस्या यह है कि निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएं देने वाले सरकारी अस्पतालों की संख्या बहुत सीमित है, साथ ही ये घूसखोरी, भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता

का शिकार भी हैं। निजी अस्पताल धन उगाही और मुनाफाखोरी का जरिया बन चुके हैं। ये दोनों ही स्थितियां आम आदमी को उसके स्वास्थ्य के अधिकार से वंचित करती हैं। अतः स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकारी निवेश बढ़ाया जाना चाहिए तथा घूसखोरी और भ्रष्टाचार पर काबू पाने के लिए सख्त कदम उठाए जाने चाहिए। निजी अस्पतालों की बढ़ती संख्या का तब तक कोई विशेष लाभ नहीं है जब तक वे आम आदमी को जरूरी चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करने के अपने सामाजिक दायित्त्व को नहीं निभाते। इसके लिए स्वस्थ सोच के साथ–साथ कड़ी निगरानी प्रणाली की भी जरूरत है। महिलाओं के सुरक्षित प्रसव, शिशुओं से लेकर वृद्धों तक सभी के इलाज का मुद्दा अस्पतालों की संख्या के साथ उनकी कार्यकुशलता से भी जुड़ा है।

स्वास्थ्य क्षेत्र की अक्षमता तब और भयावह एवं वीभत्स हो जाती है जब जीवन की रक्षा करने वाली दवाएं ही उन्हें काल का ग्रास बनाने लगती हैं। नकली दवाओं का कारोबार हमारे नियम–कानूनों के लिहाज से और मानवता की दृष्टि से घिनौना अपराध है। शहरों और गांवों में फलफूल रहे इस जघन्य अपराध पर अविलंब काबू की जरूरत है।

कुपोषण की त्रासदी से निपटने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों, आदिवासी क्षेत्रों और शहर की गंदी बस्तियों को मुख्य रूप से ध्यान में रखते हुए व्यापक स्तर पर पहल करनी होगी तथा पौष्टिक एवं संतुलित भोजन के बारे में जानकारी देनी होगी। यदि हम गर्भवती महिलाओं की समुचित देखभाल, दो बच्चों के बीच उचित अंतराल, नवजात शिशुओं को स्तनपान और संक्रामक एवं घातक बीमारियों पर नियंत्रण के कार्यक्रम को सही मायने में साकार कर सकें तो कुपोषण पर काफी हद तक काबू पाया जा सकता है। इस दृष्टि से भारत में टीकाकरण कार्यक्रम और पल्स पोलियो अभियान काफी सफल रहा है। इसी तरह शारीरिक दृष्टि से अपंग और मानसिक दृष्टि से विक्षिप्त एवं निःशक्त लोगों के लिए भी व्यापक कार्यक्रमों की जरूरत है। उनके लिए स्वास्थ्य और अन्य सामाजिक सेवाएं उनकी रोजमर्रा की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर प्रदान की जाएं।

इसके अलावा प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को नगरों, गांवों, जनजातीय, पिछड़े और पर्वतीय क्षेत्रों में स्वास्थ्य की मजबूत इकाई बनाना होगा तथा इनमें चिकित्सा की सभी जरूरी सुविधाएं मुहैया करानी होंगी। दूर–दराज के इलाकों में चलते–फिरते अस्पतालों की बड़े पैमाने पर व्यवस्था करनी होगी। गरीबी रेखा से नीचे के लोगों की स्वास्थ्य बीमा योजना को कारगर ढंग से लागू करना होगा। स्वास्थ्य के अधिकार को देश के कोने–कोने में सुनिश्चित करने के लिए स्वैच्छिक संगठनों को अधिक से अधिक संख्या में भागीदार बनाया जाना चाहिए क्योंकि स्वैच्छिक प्रयासों की शक्ति और उपयोगिता सर्वविदित और स्वयंसिद्ध है। इस बात पर भी विचार करना होगा कि क्या देश चिकित्सा पद्धतियों, निजी एवं जन स्वास्थ्य संस्थाओं के बीच नेटवर्क स्थापित किया जा सकता है अथवा नहीं।

सभ्य समाज में स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार ऐसी अनिवार्य परिस्थितियां हैं जो मनुष्य के अस्तित्व के लिए सर्वोपरि हैं। ये सभी परिस्थितियां एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। जब तक मानवाधिकार से जुड़े इन पहलुओं को केंद्र में रखकर कोई प्रभावी नीति नहीं बनाई जाती तब तक समाज और राष्ट्र की स्थायी उन्नति संभव नहीं हो सकती है। मानव की बुनियादी जरूरत को दरकिनार कर कोई व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती है।

आयोग के कुछ महत्वपूर्ण निर्णय

बँधुआ मज़दूरों की मुक्ति : पंजाब

आयोग ने दिनांक 17.12.1999 के ''इंडियन एक्सप्रेस'' में प्रकाशित समाचार का अपने आप संज्ञान लिया जिसका शीर्षक था "84 बँधुआ मजदूरों को मुक्त किया गया''। उक्त समाचार में यातना और उत्पीड़न की दर्द भरी कहानी थी। इसके 84 बँधुआ मजदूरों को कोल्ड स्टोरेज के निर्माण स्थल से मुक्त किया गया था। बँधुआ मजदूरों ने कहा था कि उन्हें पीटा गया था और थर्ड डिग्री की यातना दी गई थी। महिला कामगारों ने बलात्कार और उत्पीड़न का आरोप लगाया। किसी भी कामगार को उसका वेतन नहीं दिया गया था। केस दर्ज कर लिया गया था। जब कामगारों को मुक्त किया गया तब एस.डी.एम. श्रम निरीक्षक के साथ नहीं आए।

आयोग ने मामले का संज्ञान लिया और डी. जी. पी. पंजाब और एस.एस.पी., जलंधर को बँधुआ मजदूरों के रिकार्ड का पता लगाने तथा चार सप्ताह के भीतर आयोग को रिपोर्ट भेजने का निर्देश दिया।

आयोग के निर्देश का अनुसरण करते हुए वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, जलंधर ने एक रिपोर्ट भेजी। इसके अनुसार मोहन सिंह कोल्ड स्टोरेज का निर्माण कर रहा था जो मजदूरों को कपड़ा, खाना, निःशुल्क आवास और रु0 600/– प्रति माह उपलब्ध कर रहा था। कुछ समय के बाद कुछ और मजदूर आ गए। मजदूरों ने बताया था कि वे पिछले चार महीने से काम कर रहे थे और उन्हें मजदूरी नहीं मिली थी क्योंकि मालिक ने उनसे वादा किया था कि वह उन्हें तब मजदूरी देगा जब वे अपने मूल स्थानों पर लौटकर जाएँगे। जब एस. डी. एम. शाखोट और एस. एच. ओ. पुलिस स्टेशन शाखोट ने स्थल का निरीक्षण किया तब मजदूरों ने उनको बताया था कि वे मालिक के साथ काम नहीं करना चाहते थे क्योंकि उसका व्यवहार बुरा था और उसने उनका अपमान किया था। सलोनी नामक एक महिला ने बताया कि पप्पू नामक एक व्यक्ति ने उसके पति की पिटाई की थी और एक कमरे में बंद कर दिया था। मालिक से संपर्क नहीं हो सका। बहरहाल, उसका नियोक्ता मजदूर को मजदूरी देने के लिए सहमत हो गया। श्रम निरीक्षक को निर्देश दिया गया कि वह श्रमिकों को मजदूरी की अदायगी सुनिश्चित करे ताकि वे जहाँ जाना चाहते हैं, जा सकें। मजदूरों को एस. डी. एम. के कार्यालय में लाया गया जहाँ उनके भोजन की व्यवस्था की गई। मजदूरों को सरकारी दर पर मजदूरी की अदायगी की गई। मजदूरों को मुक्त कर दिया गया और वे अपने घर वापस चले गए। इस संबंध में बँधुआ मजदूरी प्रथा का उन्मूलन अधिनियम की धारा 16, 17 तथा भा0 द0 सं0 की धारा 342/354 के अधीन मामला एफ आई आर सं0 236 दिनांक 15.12.1999 दर्ज किया गया।

चूँकि रिपोर्ट से यह स्पष्ट नहीं होता है कि जिला मजिस्ट्रेट, जलंधर ने मुक्ति प्रमाणपत्र जारी किए थे और पुनर्वास योजना सुनिश्चित की थी, अतः दिनांक 23.3.2000

की कार्यवाही के अनुसार डी. जी. आई. से अनुरोध किया गया कि वह एस. एस. पी. जलंधर से संपर्क करें और उस संबंध में विवरण एकत्र करें। अगली रिपोर्ट से पता चलता है कि 65 बँधुआ मजदूरों को मुक्त किया गया था और कोल्ड स्टोरेज के मालिक मोहन सिंह से उनको देय न्यूनतम मजदूरी प्राप्त कराई गई, लेकिन अधिनियम के अधीन प्रमाणपत्र तथा पुनर्वास पैकेज नहीं दिए गए थे। जिला मजिस्ट्रेट को निर्देश दिया जाता है कि–

(1) सभी बँधुआ मजदूरों अर्थात् 42 पुरुषों और 21 महिलाओं को मुक्ति प्रमाण–पत्र जारी किए जाएं। अधिनियम के अधीन मुक्त किए गए 65 में से प्रत्येक बँधुआ मज़दूर को रु0 20,000/– की राशि दी जाए। रु0 10,000/– की राशि राज्य के अंशदान से और रु0 10,000/– की राशि केंद्रीय सरकार के पूल से दी जाए। प्रत्येक मजदूर को रु0 5,000/– की राशि डिमांड ड्रॉफ्ट द्वारा नकद दी जाए।

(2) एक सहकारी समिति बनाई जाए। उसे राज्य सहकारी समिति अधिनियम के अंतर्गत "मुक्त किए गए बँधुआ मजदूर सहकारी समिति" के नाम से पंजीकृत कराया जाए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए रु0 15,000/– की शेष राशि को समिति के प्रत्येक सदस्य की शेयर पूँजी माना जाए। यदि महिलाएं और पुरुष पत्नी और पति हों या पुत्री आदि हों तो प्रत्येक पुरुष सदस्य अर्थात् 42 पुरुष सदस्य और अकेली महिला के मामले में सभी महिलाएं सहकारी समिति की सदस्य होंगी। अकेली महिला सदस्य की रु0 15,000/– की शेष राशि सहकारी सामान्य शेयर पूँजी मानी जाएगी। यदि 23 महिला सदस्य पुरुष सदस्यों की पत्नियाँ या पुत्रियाँ हैं तो प्रत्येक महिला सदस्य की रु0 15,000/– की शेष राशि को किसी राष्ट्रीयकृत बैंक में आवधिक जमा में रखा जाए और इस पर देय ब्याज की अदायगी उनको प्रत्येक महीने की जाए।

(3) उचित रोजगार योजना या अन्य उपलब्ध उचित योजना के अंतर्गत सहकारी समिति को सरकारी काम दिया जाए।

(4) किसी निरीक्षक द्वारा सहकारी समिति के सफल कार्यकरण का परिवीक्षण किया जाना चाहिए। उनको आबंटित किए गए कार्य सहकारी समिति के सभी सदस्यों द्वारा संयुक्त रूप से किये जाने चाहिएं और उनके श्रम से प्राप्त प्रतिफल का उपयोग उनके द्वारा समान अनुपात में किया जाना चाहिए।

(5) यदि गांव में कोई सरकारी भूमि उपलब्ध हो तो उसे सहकारी समिति को आबंटित करने के लिए प्रशासन कदम उठाएगा और उस भूमि पर सभी सदस्य सामूहिक रूप से खेती करेंगे और समान अनुपात में लाभ उठाएंगे। इस स्थिति में जिला प्रशासन को भी सफल कार्यकरण के लिए भूमि के पुनरुद्धार, उसमें कृषि, कृषि के लिए बीज की आपूर्ति, खाद आदि के लिए उपयुक्त ऋण की व्यवस्था करनी

चाहिए। कृषि विभाग के कार्यालय को सामूहिक कृषि में उनकी सहायता करने के लिए निर्देश दिया जाना चाहिए।

(6) यदि समिति के सभी सदस्य निरक्षर हों तो सहकारी विभाग के निरीक्षक को नियमित रूप से गिनती लिखने और सफल कार्यचालन सुनिश्चित करने में उनकी सहायता करनी चाहिए।

(7) जिला श्रम अधिकारी को यह सुनिश्चित करना चाहिए यथास्थिति, संबंधित लोक अभियोजक/जिला अटार्नी के सहयोग से अपराधी को उसके अपराधों के लिए निश्चित रूप से अभियोजित किया जाता है और उसे दंडित किया जाता है।

आठ सप्ताह के भीतर की गई कार्रवाई की रिपोर्ट प्रस्तुत की जाए।

तद्नुसार, शिकायत का निपटान किया जाता है।

बिजली के झटके से कामगार की मृत्यु, आश्रितों को दिलाया मुआवज़ा : केरल

शिकायतकर्ता सरसू प्रेमाराजन की विधवा है जो केरल में ठेके पर कामगार था। शिकायतकर्ता ने अपनी शिकायत में यह आरोप लगाया है कि दिनांक 18.05.2002 को जब उसका पति वेल्लूवाडी, कल्लूर कुनील, केरल के पास बिजली के खंभे पर काम कर रहा था तब बिजली का शॉक लगने से उसकी मृत्यु हो गई थी क्योंकि घटनास्थल से 100 मीटर दूर किसी घर से इरादतन किसी ने स्विच आन कर दिया था। शव–परीक्षण रिपोर्ट के अनुसार पीड़ित की मृत्यु बिजली का शॉक लगने से हुई थी, लेकिन फिर भी पुलिस ने अभियुक्त के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। शिकायतकर्ता ने मामले की निष्पक्ष जाँच किए जाने और पर्याप्त मुआवज़ा दिए जाने की प्रार्थना की, क्योंकि उसका पति परिवार में अकेला ही कमाने वाला था।

2. आयोग के नोटिस के जवाब में वेयानाड जिले के पुलिस अधीक्षक ने एक रिपोर्ट दिनांक 4.3.2000 को प्रस्तुत की थी जिसमें यह कहा गया था कि 18.5.2000 को जब पीड़ित व्यक्ति बिजली के खंभे पर मरम्मत का काम कर रहा था तब वह नीचे गिर गया। खंभे को सड़क दुर्घटना में नुकसान पहुँचा था। उसी दिन–बिजली के ठेकेदार जयान की शिकायत पर बैतरी थाने में "अप्राकृतिक मृत्यु" का एक अपराध नं0 210 / 2002 दर्ज किया गया था। जाँच से पता चला था कि शिकायतकर्ता के पति की मृत्यु बिजली का शॉक और सिर में चोट लगने के कारण हुई थी।

3. आयोग ने 25.11.2003 को उक्त रिपोर्ट पर विचार किया और यह पाया कि प्रेमाराजन की मृत्यु बिजली का शॅाक लगने से तब हुई थी जब वह नौकरी में था। आयोग ने केरल राज्य विद्युत बोर्ड (के. एस. ई. बी.) को निर्देश दिया था कि वह यह सूचित करे कि क्या मृतक के निकटतम संबंधी को मुआवजा दे दिया गया है।

4. इसके उत्तर में सचिव, के.एस.ई.बी. ने दिनांक 3.1.2004 के अपने पत्र में कहा था कि प्रेमाराजन ने एक लॉरी मालिक के कहने पर 18.5.2002 को बोर्ड की वितरण लाइन को छेड़ने की कोशिश की थी। लॉरी मालिक की लॉरी (के.एल. 128654) वेलूवाडी में बिजली के खंभे से टकरा गई थी जिससे बिजली का खंभा टूट गया और बिजली की सप्लाई रुक गई। इसके अतिरिक्त, रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि लॉरी मालिक के आग्रह पर सहायक इंजीनियर श्री एम. जी. शशिधरन, सब इंजीनियर श्री पी. वी. जाय, और श्री रामदासन, सब इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल मेजर सेक्शन, सुल्तान बैतरी ने खंभे की मरम्मत करने की कार्रवाई की जो संबंधित नियमों का स्पष्ट उल्लंघन था। अतः यह आदेश दिया गया था

कि कुसमायोजन से संबंधित अपराधियों के विरुद्ध उपयुक्त अनुशासनिक कार्रवाई की जाए। इसके अतिरिक्त, के. एस. ई. बी. ने यह निवेदन किया था कि चूँकि श्री प्रेमाराजन के साथ जानलेवा दुर्घटना बोर्ड के अधीन नौकरी के दौरान या बाहर नहीं हुई थी, अतः कामगार मुआवज़ा अधिनियम, 1923 के उपबंधों के अनुसार मुआवजे के लिए वैध दावा नहीं किया जा सकता।

5. दिनांक 25.5.04 को पूर्ण आयोग ने मामले पर विचार किया और यह देखा कि बिजली का आपूर्तिकार (सप्लायर) अपनी जिम्मेदारी से इस ढंग से नहीं बच सकता, जैसा कि इस मामले में हुआ है। चूँकि ऐसे मामले में सख्त जिम्मेदारी का सिद्धांत लागू होता है, अतः विद्युत ऊर्जा के सप्लायर को जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। आयोग ने निर्देश दिया कि मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा 18 (3) के अधीन मुख्य सचिव, केरल और सचिव, के.एस.ई.बी. को कारण बताओ नोटिस जारी किया जाए।

6. उपर्युक्त निर्देशों के अनुसार मुख्य सचिव, केरल सरकार और सचिव, केरल राज्य विद्युत बोर्ड को कारण बताओ नोटिस जारी किया गया।

7. मुख्य कार्मिक अधिकारी, के. एस.ई.बी. ने अपने दिनांक 26.8.2004 के उत्तर में निवेदन किया था कि मृतक श्री प्रेमाराजन ने सहायक कार्यपालक इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल मेजर सेक्शन, सुल्तान बैतरी की जानकारी में लाए बिना खंभे की मरम्मत करने की कोशिश की। उक्त 'अप्राधिकृत' कार्य सप्लाई लाइन का स्विच ऑफ किए बिना किया गया था जिसके परिणामस्वरूप बिजली का शॉक लगने से श्री प्रेमाराजन की मृत्यु हो गई। स्व0 श्री प्रेमाराजन की जानलेवा दुर्घटना बोर्ड के अधीन नौकरी के दौरान या उसके बाहर नहीं हुई थी, अतः उक्त दुर्घटना कामगार मुआवजा अधिनियम, 1923 के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत नहीं आती है। के. एस. ई.बी. याचिकादाता को कोई मुआवज़ा देने के लिए जिम्मेदार नहीं है। लेकिन, माननीय फोरम, के. एस. ई. बी. के निर्देश के अनुसार यह निर्णय लिया गया था कि कामगार मुआवज़ा अधिनियम, 1923 की धारा 4 (क) के अनुसार स्व0 श्री प्रेमाराजन के आश्रितों को कामगार मुआवजे की देय राशि की अदायगी की जाए और उप मुख्य इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल सर्किल, कालापट्टा को निर्देश दे दिया गया है कि वह उप श्रम आयुक्त, कामगार मुआवजा, कन्नूर के समक्ष तथ्यों के विवरण सहित कामगार मुआवजे की न्यूनतम राशि जमा कर दें। शिकायतकर्ता को अंतरिम राहत के रूप में तथा माननीय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की तसल्ली के अनुसार, जैसा कि निर्देश दिया गया था न्यूनतम राशि जमा कर दी गई है। माननीय फोरम के निर्देशों के अनुसार और जैसे ही और जब भी शिकायतकर्ता अपेक्षित ब्योरा प्रस्तुत कर देगा, प्रक्रिया पूरी हो जाएगी।

8. मुख्य सचिव, केरल से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है।

9. उपर्युक्त रिपोर्टों पर विचार करते हुए, दिनांक 1.12.2004 को पूर्ण आयोग ने मुख्य कार्मिक अधिकारी, के. एस. ई. बी. को निर्देश दिया था कि वह छह सप्ताह के भीतर मृतक के निकटतम/संबंधी को राहत प्रदान किए जाने से संबंधित कामगार मुआवज़ा के केस की वर्तमान स्थिति के बारे में आयोग को सूचित करें। उपर्युक्त निर्देशों का अनुसरण करते हुए क्षेत्रीय कार्मिक अधिकारी, के.एस.ईबी. ने अपने पत्र दिनांक 8.7.2005 के साथ एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह कहा गया है कि के.एस.ई.बी. ने रु0 80,000/– की राशि पहले ही जमा कर दी थी, अतः आयुक्त के समक्ष रु0 3,04,280/– की राशि जमा की जाए। तद्नुसार, उप मुख्य इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल सर्किल, कालापट्टा ने 5.5.05 को डी.डी. नं0 484961 दिनांक 4.5.2004 (संभवतः 2005) द्वारा रु0 3,04,280/– की राशि जमा कर दी है।

10. आयोग ने 20.7.2005 को मामले पर विचार किया और केस बंद कर दिया। कार्यवाही की एक प्रति संलग्न है।

इन कार्यवाहियों को आयोग की दिनांक 26 मई, 2004 और 1 दिसंबर, 2004 की पिछली कार्यवाहियों के क्रम में पढ़ा जाएगा। आयोग ने 1 दिसंबर, की कार्यवाही में निम्नलिखित प्रेक्षण दिए हैं :–

"मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा 18 (3) के तहत जारी किए गए कारण बताओ नोटिस के उत्तर में मुख्य कार्मिक अधिकारी, केरल राज्य विद्युत बोर्ड ने एक पत्र दिनांक 26 अगस्त, 2004 भेजा है जिसमें अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित बातें कही गई हैं:–

"केरल राज्य विद्युत बोर्ड के सतर्कता स्कंध द्वारा की गई विस्तृत जाँच के आधार पर यह पता चला है कि मृतक प्रेमाराजन ने 18.5.2002 को अप्राधिकृत रूप से बोर्ड के संस्थापनों को छेड़ने की कोशिश की थी। मृतक प्रेमाराजन लॉरी (के. एल. 12 बी 654) के मालिक के निर्देश पर उक्त काम को कर रहा था। लॉरी मालिक की लॉरी बिजली के एक खंभे से टकरा गई थी और लॉरी मालिक और मृतक प्रेमाराजन दोनों ने मिलकर खंभे को ठीक करने की कोशिश की और उन्होंने इसकी सूचना सहायक इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल मेजर सेक्शन, सुल्तान बतेरी को नहीं दी थी। उक्त "अप्राधिकृत" कार्य सप्लाई लाइन का बटन बंद किए बिना किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि बिजली के शॉक से प्रेमाराजन की मृत्यु हो गई। उपर्युक्त जानलेवा दुर्घटना बोर्ड की नौकरी के दौरान या बाहर नहीं घटी थी।

अतः यह दुर्घटना कामगार मुआवजा अधिनियम, 1923 के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत नहीं आती है। के. एस. ई. बोर्ड. याचिकादाता को कोई भी मुआवजा देने का भागी नहीं है। लेकिन माननीय फोरम, के. एस. ई. बी. के निर्देश के अनुसार बोर्ड ने स्व0 श्री प्रेमाराजन के आश्रितों को कामगार मुआवज़ा की उपयुक्त राशि देने के लिए कदम उठाए हैं।

कामगार के मुआवजे की देय राशि का परिकलन करने के लिए मृतक की जन्मतिथि, आयु, वेतन आदि का ब्यौरा आवश्यक होता है जो के. एस. ई. बोर्ड प्राधिकारियों को मालूम नहीं है क्योंकि मृतक को के. एस. ई. बोर्ड के काम या कामकाज के लिए नियुक्त नहीं किया गया था। अतः जैसा कि कामगार मुआवज़ा अधिनियम में परिभाषा दी गई है वह "कामगार" नहीं था। फिर भी के. एस. ई. बोर्ड. ने कामगार मुआवज़ा अधिनियम, 1923 की धारा 4 (क) के अनुसार कामगार के मुआवजे की न्यूनतम देय राशि जमा करने के कदम उठाए हैं और उप मुख्य इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल सर्किल, कालापट्टा को निर्देश दे दिया गया है कि वह तथ्यों के विवरण सहित उप श्रम आयुक्त, कामगार मुआवज़ा, कन्नूर के समक्ष कामगार मुआवजे की नयूनतम राशि जमा करा दें। के. एस. ई. बोर्ड ने उप श्रम आयुक्त को इस आशय का आवेदन भी किया था कि वह शिकायतकर्ता को निर्देश दें कि वह कामगार मुआवज़ा आयुक्त के समक्ष जन्मतिथि प्रमाण–पत्र, आहरित वेतन आदि का ब्यौरा प्रस्तुत करे ताकि कामगार मुआवजे की देय राशि का परिकलन किया जा सके और आयुक्त को एक आवेदन प्रस्तुत किया जिसमें यह अनुरोध किया गया था कि जब तक कामगार मुआवजा न्यायालय के समक्ष आवश्यक ब्योरा प्रस्तुत नहीं कर दिया जाता तब तक आयुक्त के पास जमा नयूनतम राशि का संवितरण न किया जाए। जैसाकि निर्देशित किया गया है, शिकायतकर्ता को देय अंतरिम राहत के रूप में तथा माननीय राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की संतुष्टि के अनुसार न्यूनतम राशि जमा कर दी गई है।

मुख्य कार्मिक अधिकारी, के. एस. ई. बी. मृतक के निकटतम संबंधी को राहत देने से संबंधित कामगार के मुआवजे की स्थिति के बारे में आयोग को सूचित करेंगे।

छह सप्ताह के भीतर कार्रवाई करें।

उपर्युक्त कार्यवाही के अनुसार मुख्य कार्मिक अधिकारी, के. एस. ई. बी. को एक नोटिस भेजा गया जिसमें मृतक के निकटतम संबंधी को राहत की अदायगी करने से संबंधित कामगार मुआवजे की स्थिति के बारे में पूछा गया था। लेकिन उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था। स्मरण पत्र भेजे जाने के बावजूद कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था। अंततोगत्वा आयोग ने 2 मई 2005 को रजिस्ट्रार (विधि) को निर्देश दिया कि वे सचिव, के. एस. ई. बी. को एक अर्धशासकीय पत्र लिखें जिसमें उनसे 31 मई, 2005 तक अपेक्षित सूचना मांगी जाए।

रजिस्ट्रार (विधि) द्वारा भेजे गए अर्धशासकीय पत्र का भी कोई जवाब नहीं मिला। आयोग ने के. एस. ई. बी. के प्राधिकारियों द्वारा उत्तर न भेजे जाने के रवैये पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए 13 जून 2005 को मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 की धारा 13 के अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए के. एस. ई. बी. के सचिव को समन जारी करने का निर्देश दिया जिसमें उनसे यह अनुरोध किया गया कि वे कार्रवाई न करने का कारण बताने के लिए केस के रिकार्ड सहित 20 जुलाई, 2005 को व्यक्तिगत

रूप से हाजिर हों। लेकिन अनुग्रह के रूप में समन में एक शर्त लगाई गई जिसमें यह निर्देश दिया गया था कि यदि तारीख 13 जुलाई, 2005 को या उससे पहले आयोग को अपेक्षित सूचना भेज दी जाती है तो के. एस. ई. बी. को व्यक्तिगत रूप से हाजिर होने की आवश्यकता नहीं होगी।

समनों का अनुसरण करते हुए क्षेत्रीय कार्मिक अधिकारी, के. एस. ई. बी. ने पत्र दिनांक 8 जुलाई, 2005 के अनुसार एक रिपोर्ट प्रस्तुत की है। उक्त रिपोर्ट में यह कहा गया है कि के. एस. ई. बी. ने राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के निर्देश का पालन करते हुए शिकायतकर्ता श्रीमती सरसू (मृतक की पत्नी) के नाम दिनांक 13 सितंबर 2004 के चेक द्वारा रु0 80,000/– की राशि जमा कर दी थी। रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया है कि मुआवजे के मामले में उप–श्रम आयुक्त, कामगार मुआवजा, कन्नूर ने अपने दिनांक 27 नवंबर 2004 के आदेश के अनुसार याचिकादाता को अदा करने के लिए रु0 3,84,280/– का मुआवजा दे दिया है। इसमें दुर्घटना की तारीख से लेकर मुआवजे को जमा करने की तारीख तक 12 प्रतिशत का ब्याज भी शामिल है। कामगार मुआवजा आयुक्त के आदेश का पालन करते हुए उप मुख्य इंजीनियर, इलेक्ट्रिकल सर्किल, कालापट्टा ने 5 मई, 2005 को मुआवजे और ब्याज के रूप में रु0 3,04,280/– की राशि जमा कर दी है और इसमें पहले जमा किए गए रु0 80,000/– की राशि का समायोजन भी कर दिया गया है। राशि डी. डी. नं0 4849.61 दिनांक 4.5.2005 द्वारा जमा कर दी गई है।

उपर्युक्त की दृष्टि से आयोग द्वारा आगे और कोई कार्रवाई किए जाने की आवश्यकता नहीं है। अतः मामला बंद किया जाता है।

पुलिस द्वारा की गई गोलीबारी में एक छात्र की मृत्यु : उत्तर प्रदेश

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण केस है जिसमें पुलिस द्वारा की गई गोलीबारी में एस. एन. मेडिकल कॉलेज, आगरा के द्वितीय वर्ष के स्नातकोत्तर छात्र डॉ0 सोनाली बोस की जिंदगी चली गई। इस संबंध में उत्तर प्रदेश सरकार ने सूचित किया है कि डॉ0 सोनाली बोस की मृत्यु संबंधित पुलिस अधिकारियों की लापरवाही तथा अति जोशीली कार्रवाई के कारण हुई थी। इस आयोग ने अपनी कार्यवाही दिनांक 13.1.2003 के अनुसार केस के सभी तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद राज्य सरकार को एक नोटिस जारी किया जिसमें सरकार से इसका कारण बताने के लिए कहा गया था कि डॉ0 सोनाली बोस के निकटतम सगोत्री को रु0 5 लाख की तत्काल अंतरिम राहत क्यों न दी जाए।

उत्तर प्रदेश सरकार ने आयोग को सूचित किया है कि मुख्य मंत्री के विवेकाधीन कोष से डॉ0 सोनाली बोस के परिवार को रु0 25,000/– की राशि मंजूर कर दी गई है और अपचारी पुलिस कर्मियों के विरुद्ध विभागीय कार्रवाई एवं आपराधिक अभियोजन शुरू कर दिया गया है। कारण बताओ नोटिस के उत्तर में यह कहा गया है कि उत्तर प्रदेश सरकार यह सोचती है चूँकि तत्काल दी जाने वाली अंतरिम राहत की राशि रु0 5 लाख बहुत अधिक है अतः वह इससे सहमत नहीं है। जिस जिंदगी को पुलिस की कार्रवाई द्वारा समाप्त कर दिया गया है और जिसके लिए राज्य सरकार को जिम्मेदार मानना चाहिए उस जिंदगी की प्रतिपूर्ति रुपयों से नहीं की जा सकती। अंतरिम आर्थिक राहत देने का उद्देश्य ऐसे दोषपूर्ण कृत्य के लिए जो मूल मानव अधिकार—नागरिक के 'जीवन के अधिकार' की रक्षा न करते हुए लोक कर्तव्य का उल्लंघन करने पर किया गया हो, आर्थिक अभितुष्टि आदेश द्वारा तत्काल राहत उपलब्ध कराना है।

नीलावती बेहेरा बनाम उड़ीसा राज्य (1993) 2 एस सी सी 746 में भारत के उच्चतम न्यायालय द्वारा किए गए निम्नलिखित प्रेक्षण शिक्षात्मक हैं :–

"संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटित अजेय अधिकार के प्रमाणित उल्लंघन के लिए इस न्यायालय द्वारा या अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों द्वारा अनुच्छेद 32 के अधीन अनुकरणीय हर्जाने के रूप में आर्थिक मुआवजा की राहत प्रदान करना लोक विधि में उपलब्ध एक उपचार है और यह राहत नागरिक के गारंटित मूल एवं अजेय अधिकारों का उल्लंघन करने पर कठिन देयता के आधार पर दी जाती है। लोक विधि का उद्देश्य जनता को सभ्य बनाना ही नहीं है बल्कि नागरिकों को यह आश्वासन देना भी है कि वे एक कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत जी रहे हैं जिसका उद्देश्य उनके हितों की रक्षा करना और उनके अधिकारों का परिरक्षण करना है। इसलिए जब

न्यायालय मूल अधिकारों के प्रवर्तन तथा संरक्षण के लिए संविधान के अनुच्छेद 32 या 226 के अधीन कार्यवाही के दौरान 'मुआवजे' के रूप में राहत प्रदान करता है तब वह ऐसा कार्य दोषी को दंडित करते हुए तथा सार्वजनिक अन्याय के विरुद्ध उस राज्य की जिम्मेदारी निर्धारित करते हुए लोकविधि के अधीन करता है जो अपना लोक कर्तव्य निभाते समय अपने नागरिक के मूल अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाया है। ऐसे मामलों में मुआवजा देने का अर्थ वह नहीं है जैसा कि प्राइवेट विधि के अधीन हर्जाने के लिए किसी सिविल कार्रवाई में समझा जाता है बल्कि उसे व्यापक अर्थ में नागरिक के मूल अधिकारों की रक्षा न करने से संबंधित लोक कर्त्तव्य भंग करने के कारण किए गए अपराध के विरुद्ध दी गई राहत समझा जाना चाहिए जिसे लोक विधि के अंतर्गत "आर्थिक अभितुष्टि" के आदर्श द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। मुआवजे को 'अनुकरणीय हर्जाना' कहा जा सकता है जो लोक कर्तव्य का पालन न करने पर दोषी व्यक्ति के विरुद्ध दिया जाता है और इसका उन अधिकारों से कोई संबंध नहीं है जो सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय में दावा दायर करके और दंडविधि के अधीन अपराधी को अभियोजित करके अपकृत्य पर आधारित किसी कार्य में प्राइवेट विधि के अंतर्गत मुआवजे का दावा करने के लिए पीड़ित पक्ष को उपलब्ध है"।

हमारे विचार से वर्तमान परिस्थितियों में मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 की धारा 18 (3) के अधीन 'तत्काल अंतरिम राहत' के रुप में रु0 5 लाख की राशि न तो अधिक है और न ही अनुचित। अतः हम उ0 प्र0 राज्य से अनुरोध करते हैं कि स्व0 डॉ0 सोनाली बोस के निकटतम सगोत्री को एक महीने के अंदर तत्काल अंतरिम राहत के रूप में रु0 5 लाख दिए जाएं और आयोग को की गई कार्रवाई की एक रिपोर्ट भेजी जाए।

मृतक के पिता श्री चिन्मय बोस से एक पत्र प्राप्त हुआ है जिसमें एस. एन. मेडिकल कॉलेज, आगरा द्वारा की गई अदायगी के परिकलन में कुछ गलतियां बताई गई हैं। उक्त पत्र की एक प्रति उचित कार्रवाई के लिए एस. एन. मेडीकल कालेज, आगरा के प्रिंसिपल को भेजी जाए। कालेज आयोग को चार सप्ताह के भीतर की गई कार्रवाई की रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा।

विस्तृत कार्यवाही दिनांक 9.4.2003 के अनुसार आयोग ने मृतक डॉ0 सोनाली बोस के निकटतम सगोत्री को देय तत्काल अंतरिम राहत के रु0 5 लाख की राशि कम करने के अनुरोध को अस्वीकार कर दिया था। एस. एन. मेडिकल कॉलेज, आगरा के द्वितीय वर्ष के स्नातकोत्तर युवा छात्र डॉ0 सोनाली बोस की मृत्यु पुलिस कर्मियों की लापरवाही के कारण गोलीबारी के दौरान हो गई थी। अतः राज्य सरकार से पुनः अनुरोध किया गया है कि वह स्व0 डॉ0 सोनाली बोस के निकटतम संबंधी को रु0 5 लाख की अदायगी करे।

राज्य सरकार ने अपने पत्र दिनांक 3 नवम्बर 2003 के अनुसार यह सूचित किया है कि आयोग द्वारा संस्तुत राशि डॉ0 सोनाली बोस के निकटतम संबंधी को दे दी गई है। इस प्रकार आयोग के आदेश का पालन कर दिया गया है।

मृतक डॉ0 सोनाली बोस के पिता श्री सी. के. बोस से एक पत्र दिनांक 30 दिसम्बर, 2003 प्राप्त हुआ है जिसमें यह सूचित किया गया है कि उनको रु0 5 लाख की राशि प्राप्त हो गई है। उन्होंने आयोग का धन्यवाद किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि मैं "अन्य विधिक उपचार" प्राप्त करना चाहता हूँ और इसके लिए आयोग की अनुमति की जरूरत है।"

इस मामले में आयोग को कोई और कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं है। श्री सी. के. बोस किसी भी उचित फोरम पर कानून के अंतर्गत उनको उपलब्ध कोई भी अन्य विधिक उपचार करने को स्वतंत्र हैं।

वन अधिकारियों द्वारा 10 ग्रामवासियों को गिरफ़्तार करके यातना दिया जाना : उड़ीसा

आयोग ने शालवाजी विकास अभियान, उड़ीसा के अध्यक्ष श्री जगदीश प्रधान की दिनांक 5.10.2000 की शिकायत का संज्ञान लिया। उक्त शिकायत राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के विशेष संपर्ककर्ता श्री ए.बी. त्रिपाठी ने अग्रेषित की थी। शिकायतकर्ता ने निवेदन किया था कि उड़ीसा के जिला बोलनगिरि, मुरीबहाल ब्लाक में आरक्षित वन में 9 गांव हैं। 1999 में इस क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ा था जिसके कारण पानी की अत्यधिक कमी हो गई। ग्रामवासियों के अनुरोध पर पश्चिम उड़ीसा कृषि जीवी के सचिव श्री टी.ओ. मोहानंद ने पेरूआमल गांव में एक छोटा–सा तालाब खुदवाया। क्षेत्र के वन अधिकारियों ने गांववालों से नकद और वस्तुओं के रूप में रिश्वत मांगी जिसके लिए ग्रामवासियों ने मना कर दिया। इसके परिणामस्वरूप 13.8.2000 को टी.ओ. मोहानंद सहित 10 व्यक्तियों को वन अधिनियम के अंतर्गत बुक किया गया, उन्हें रेंज अधिकारी द्वारा गिरफ़्तार किया गया, उन्हें यातना दी गई, परेशान किया गया और अवैध रूप से निरुद्ध किया गया। 14.8.2000 को वन अधिकारियों ने उन्हें एस. डी. जे. एम., टिटलागढ़ की अदालत में पेश किया। शेष ग्रामवासियों ने स्थानीय पुलिस में एफ. आई. आर. दर्ज कराने की कोशिश की जिसे पुलिस ने इस आधार पर दर्ज करने से इनकार कर दिया कि गिरफ़्तार किए गए व्यक्तियों को पहले ही अदालत में पेश कर दिया गया है।

2. आयोग ने अपनी दिनांक 13.2.02 की कार्यवाही के अनुसार श्री ए.बी. त्रिपाठी से अनुरोध किया कि वे मामले की जाँच करें और अपनी सलाह सहित मामले की रिपोर्ट भेजें।

3. श्री त्रिपाठी ने अपनी दिनांक 29.6.02 की रिपोर्ट में कहा कि शिकायत के निम्नलिखित दो पहलू हैं:–

   (i) वन अधिकारियों द्वारा उन ग्रामवासियों को यातना दिया जाना जिन्होंने वनभूमि पर कब्ज़ा कर रखा था, और

   (ii) वन भूमि पर उनकी अवैध बस्ती।

4. जहाँ तक प्रथम भाग का संबंध है, उन्होंने यह कहा कि यातना देने और रिश्वत मांगने के आरोपों को सिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे पहलू के संबंध में त्रिपाठी ने कहा था कि टिकरी आरक्षित वन क्षेत्र में 9 गांव हैं जिनकी जनसंख्या लगभग 1180 है। कुछ लिखित साक्ष्यों की जाँच करने के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ये गांव 1980 से पहले के थे लेकिन गांववालों की अज्ञानता के कारण राजस्व (रेवेन्यू) गांवों में नहीं बसे थे। उन्होंने सुझाव दिया था कि राज्य

सरकार टिखरी आरक्षित वन में 9 गांवों के सभी ग्रामवासियों की स्थिति का पता लगाने के लिए नई एवं विस्तृत जाँच कर सकती है।

5. आयोग ने 7.8.02 को रिपोर्ट पर विचार किया और श्री ए.वी. त्रिपाठी की रिपोर्ट पर राज्य सरकार की टिप्पणी प्राप्त करने का निर्देश दिया।

6. इसके परिणामस्वरूप राज्य सरकार टिखरी आरक्षित वन में ग्रामवासियों की स्थिति का पता लगाने के लिए जिला प्रशासन द्वारा विस्तृत जाँच करवाने के लिए सहमत हो गई।

7. पूर्ण आयोग ने 5.2.2003 को मामले पर विचार किया और टिखरी आरक्षित वन क्षेत्र में 9 गांवों की स्थिति और राजस्व गांवों के रूप में इन गांवों को बसाने के लिए प्रशासन द्वारा की गई कार्रवाई के संबंध में वन तथा पर्यावरण विभाग, उड़ीसा सरकार से प्रगति रिपोर्ट मांगी।

8. इसके जवाब में राज्य सरकार ने दिनांक 3.6.03 के अपने पत्र के अनुसार सूचित किया कि खंड वन अधिकारी, बोलनगिरि वन खंड ने विस्तृत सर्वेक्षण किया था और रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया था कि समस्त आवास अधिक्रमण 1980 से पहले किया गया था, लेकिन यह अधिक्रमण केवल कृषि प्रयोजनों के लिए किया गया था जिसे नीति के अनुसार नियमित नहीं किया जा सकता था।

9. 22.10.2003 को आयोग ने मामले पर विचार किया और राज्य सरकार से प्राप्त रिपोर्टों पर श्री ए.बी. त्रिपाठी, विशेष संपर्ककर्ता, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग से टिप्पणी प्राप्त करने के लिए निर्देश दिया।

10. इसके उत्तर में श्री त्रिपाठी ने अपने दिनांक 22.10.2003 के पत्र के अनुसार निम्नलिखित टिप्पणी प्रस्तुत की :

(क) यद्यपि सरकारी रिपोर्ट में यह कहा गया है कि 8 मामलों को छोड़कर अधिक्रमण के सभी मामले (कृषि प्रयोजनों के लिए, न कि मानव बस्ती के लिए) 1980 के बाद हुए थे, परंतु उसके द्वारा की गई जाँच से पता चलता है कि गांव–पेरूमल में पीने के पानी की सप्लाई सहित अनेक आवासीय घर थे और ग्रामवासियों के पास राशन कार्ड भी थे।

(ख) जाँच के दौरान ग्रामवासियों ने कुछ केस रिकार्ड भी प्रस्तुत किए थे जिनसे पता चलता था कि वन अधिनियम का उल्लंघन 1980 से पहले किया गया था। इन रिकॉर्डों से प्रमाणित होता है कि ये गांव 1980 से पूर्व आरक्षित वन क्षेत्र में थे।

(ग) उड़ीसा की राज्य सरकार को 1980 से पहले के अधिवासियों की बस्ती के लिए कार्रवाई करनी चाहिए। जहाँ तक अन्य मामलों का संबंध है,

उनमें भी मानवीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए क्योंकि केवल कृषि प्रयोजनों के लिए ही नहीं बल्कि मानव बस्ती के लिए भी अधिक्रमण हुआ है।

11. पूर्ण आयोग ने 16.6.2004 को विशेष संपर्ककर्ता की रिपोर्ट पर विचार किया और रिपोर्ट के संबंध में उड़ीसा के विशेष सचिव की अनुक्रिया प्राप्त करने का निर्देश दिया।

12. इसके उत्तर में सरकार के विशेष सचिव, वन तथा पर्यावरण विभाग, उड़ीसा सरकार ने अपने दिनांक 20.1.2005 के पत्र के अनुसार निम्नलिखित अनुरोध किया:–

I. राजस्व विभाग ने दिनांक 10.6.72 के संकल्प सं. 32823 जीई (जीएल) 69/72–आर के अनुसार यह नीति–निर्णय लिया है कि वन क्षेत्रों में विद्यमान अधिक्रमणों को नियमित किया जाए;

II. भारत सरकार पर्यावरण तथा वन मंत्रालय ने वन (संरक्षण) अधिनियम, 1960 के दिशा–निर्देशों के अनुसार वन भूमि में हुए अधिक्रमणों को नियमित करने के सिद्धांत निर्धारित कर दिए हैं;

III. इसके बाद राज्य सरकार के राजस्व विभाग ने अपने दिनांक 4.5.2000 के पत्र के अनुसार अधिक्रमण की अवधि विस्तार एवं प्रयोजन का निर्धारण करने के लिए राजस्व विभाग, वन विभाग तथा जनजाति कल्याण विभाग द्वारा क्षेत्र स्तरीय संयुक्त सत्यापन करने से संबंधित दिशानिर्देश जारी किए;

IV. सर्वेक्षण के परिणाम को आधार बनाते हुए 1980 से पूर्व वन अधिक्रमण के पांच वर्ग के नियमन के लिए भारत सरकार को प्रस्तुत किए जाने के वास्ते जिलावार प्रस्ताव तैयार किए गए;

V. राजस्व, वन तथा जनजाति कल्याण विभाग संयुक्त क्षेत्र सर्वेक्षण किए जाने के बाद भारत सरकार को प्रस्तुत किए जाने हेतु जिला बोलनगिरि के लिए प्रस्ताव भी तैयार कर लिया गया है। इस प्रस्ताव में बोलनगिरि के जिलाधिकारी ने रिपोर्ट दी है कि बोलनगिरि जिले में तुसूरा तहसील कुडेइमाल गांव में 1980 से पूर्व पात्र श्रेणी के अंतर्गत आने वाली भूमि का अधिक्रमण किया गया है जिसकी कुल जनसंख्या 125 है। लेकिन जिला बोलनगिरि के कलेक्टर की रिपोर्ट में उन 9 गांवों में किए गए अधिक्रमण शामिल नहीं हैं जिनका उल्लेख उक्त जिले के टिकरी आरक्षित वन में श्री ए. बी. त्रिपाठी की दिनांक 6.2.04 की रिपोर्ट में किया गया है; और

VI. भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय ने डब्लू. पी. पं. 202/95 के आई.

ए. नं. 703 में दिनांक 23.11.2001 के अपने आदेश के अनुसार देश में अधिक्रमणों का नियमन करने से केंद्रीय सरकार को रोक दिया है। अतः उड़ीसा सरकार ने नवंबर, 2004 के दौरान भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय में आवेदन किया ताकि वह 1980 से पूर्व के पात्र श्रेणी के अंतर्गत आने वाले वन अधिक्रमण को नियमित करने के लिए राज्य सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने हेतु भारत सरकार को निर्देश जारी कर सके। उच्चतम न्यायालय के आदेश की प्रतीक्षा की जा रही है।

13. पूर्ण आयोग ने 7.3.2005 को उक्त रिपोर्ट पर विचार किया और राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के मुख्य संपर्ककर्ता श्री ए. बी. त्रिपाठी को निर्देश दिया कि वह नवंबर, 2004 में उच्चतम न्यायालय में उनके द्वारा दिए गए आवेदन–पत्र तथा विस्थापित व्यक्तियों के आवास से संबंधित मामले की वर्तमान स्थिति के बारे में उड़ीसा सरकार से पता लगाएं।

14. इसके अनुसरण में श्री त्रिपाठी ने अपने दिनांक 27.4.2.005 के पत्र के अनुसार सूचित किया है कि उच्चतम न्यायालय ने 2002–2003 में केंद्रीय शक्तिप्राप्त समिति का गठन किया था, जिसका उद्देश्य आरक्षित वन में 1980 के पूर्व तथा बाद के अधिवासियों की पहचान/आवास के संबंध में राज्य सरकार की रिपोर्टों की जांच करना था। राज्य सरकार ने केंद्रीय वन तथा पर्यावरण मंत्रालय, भारत सरकार को 17 जिलों के बारे में एक प्रस्ताव भेजा था। प्रस्ताव की छानबीन करने के बाद सरकार ने कहा है कि 8 जिलों अर्थात् सोनपुर, जयपुर, गंजम, नुआपाड़ा, देवगढ़, बड़गढ़, ढेंगे नाल तथा कटक से संबंधित प्रस्ताव सही हैं। इससे पहले झरसागुडा जिले से संबंधित प्रस्ताव को संघ सरकार ने स्वीकार कर लिया था बशर्ते उसे उच्चतम न्यायालय भी स्वीकार कर ले। शेष 8 जिलों यथा–बाउध, रायगढ़, नयागढ़, खुर्द, संबलपुर, कोरापुट, काला हांडी तथा कंधामाल के संबंध में संघ सरकार ने कुछ प्रेक्षण किए हैं जिनका अनुपालन राज्य सरकार द्वारा किया जाना चाहिए। राज्य सरकार ने इस प्रस्तावों को स्वीकार किए जाने के लिए आवश्यक कदम उठाए हैं। इसी बीच अन्य 9 जिलों अर्थात् गजपति, मयूरभंज, अंगुल, नवरंगपुर, सुंदरगढ़, बालासौर, केंद्र पाड़ा तथा मल्कागिरि के संबंध में भी प्रस्ताव भेज दिए गए हैं। 4 जिलों के संबंध में कोई प्रस्ताव नहीं भेजा गया है क्योंकि उन जिलों पर 1980 के वन संरक्षण अधिनियम के उपबंध लागू नहीं होते हैं। नवम्बर 2004 में राज्य सरकार ने माननीय उच्चतम न्यायालय में आवेदन किया है कि वह लोगों के पात्र वर्गों के नियमन से संबंधित राज्य सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने और उन्हें स्वीकार किए जाने के लिए भारत सरकार को निर्देश दे।

पूर्ण आयोग ने 17.8.2000 को उड़ीसा सरकार की उपर्युक्त रिपोर्ट पर विचार किया और रिपोर्ट पर रिकार्ड लेने के बाद मामला बंद कर दिया।

इन कार्यवाहियों को आयोग की पिछली कार्यवाहियों के क्रम में पढ़ा जाएगा।

16 जून, 2004 की कार्यवाहियों के अनुसार विशेष संपर्ककर्ता से प्राप्त दिनांक 6.2.2004 के पत्र को मुख्य सचिव, उड़ीसा को कार्रवाई हेतु अग्रेषित किया गया था।

उड़ीसा सरकार के विशेष सचिव, वन तथा पर्यावरण विभाग ने पत्र दिनांक 20 जनवरी, 2005 के अनुसार उत्तर भेजा है। उत्तर पत्र में अन्य बातों के साथ–साथ यह कहा गया था:–

"(1) राज्य सरकार (राजस्व विभाग) ने अपने दिनांक 10.6.72 के संकल्प सं0 32823–जी ई. (जी एल) 69/72–आर. के अनुसार वन क्षेत्रों में किए गए अधिक्रमणों को नियमित करने के लिए एक नीति–निर्णय लिया था।

(2) भारत सरकार, पर्यावरण तथा वन मंत्रालय ने वन (संरक्षण) अधिनियम, 1980 के दिशा–निर्देशों के अनुसार वन–भूमि में किए गए अधिक्रमणों को नियमित करने के लिए सिद्धांत निर्धारित किए हैं।

(3) कालांतर में राज्य सरकार (राजस्व विभाग) ने अपने दिनांक 04.05.2000 के पत्र सं. जी ई (जी एल)–एस–17/2000–21060/आर के अनुसार अधिक्रमण की अवधि, विस्तार तथा प्रयोजन को निर्धारित करने के लिए राजस्व विभाग, वन विभाग तथा जनजाति कल्याण विभाग द्वारा किए गए क्षेत्र स्तरीय संयुक्त सत्यापन से संबंधित दिशा–निर्देश जारी किए।

(4) सर्वेक्षण के परिणाम के आधार पर 1980 से पहले के पात्र अधिक्रमणों को नियमित करने हेतु भारत सरकार को प्रस्तुत किए जाने के लिए जिलावार प्रस्ताव तैयार किए गए।

(5) राज्य सरकार तथा भारत सरकार के उपर्युक्त दिशा–निर्देशों के आधार पर बोलनगिरि के लिए भी एक प्रस्ताव तैयार कर लिया गया है जिसे राजस्व, वन तथा जनजाति कल्याण विभागों द्वारा संयुक्त क्षेत्र सर्वेक्षण किए जाने के बाद भारत सरकार को प्रस्तुत किया जाएगा।

(6) इस प्रस्ताव में बोलनगिरि के कलक्टर ने यह सूचित किया है कि जिला बोलनगिरि में 1980 से पहले किया गया पात्र श्रेणी का अधिक्रमण वन की 4568 हेक्टेयर भूमि से भी अधिक भूमि में फैला हुआ है (तुसूरा तहसील के गांव कुटूरिया में 0,3602 हेक्टेयर और गांव कुंडेमाल में 00966 हेक्टेयर)। इसकी कुल जनसंख्या 125 है। जिला बोलनगिरि के कलक्टर की रिपोर्ट में उन नौ गांवों में किए गए अधिक्रमणों को शामिल नहीं किया गया है जिनका उल्लेख जिले के टिकरी आरक्षित वन क्षेत्र में श्री ए.बी. त्रिपाठी की दिनांक 6.2.2004 की रिपोर्ट में किया गया है।

बहरहाल, भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय ने डब्लू. पी. नं. 202/95 के आई. एनं0 703 में दिनांक 23.11.2001 के अपने आदेश के अनुसार केंद्रीय सरकार को देश में अधिक्रमणों का नियमन करने से रोक दिया है। अतः उड़ीसा सरकार ने नवंबर 2004 में भारत के उच्चतम न्यायालय में इस आशय का आवेदन दिया है कि वह 1980 से पहले के पात्र वन अधिक्रमणों के नियमन से संबंधित राज्य सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए भारत सरकार को निर्देश जारी करें। उच्चतम न्यायालय के आदेश की प्रतीक्षा की जा रही है।

आयोग की दिनांक 7 मार्च, 2005 की कार्यवाही के अनुसार श्री त्रिपाठी को पत्र भेजा गया था जिसका उत्तर दिनांक 27 अप्रैल, 2005 विशेष संपर्ककर्ता श्री त्रिपाठी से प्राप्त हो गया है। उड़ीसा सरकार के विशेष सचिव ने अपने उपर्युक्त पत्र में जो स्थिति बताई है उस पर कोई विवाद नहीं है।

आयोग ने उड़ीसा के विशेष सचिव की दिनांक 20 जनवरी, 2005 की रिपोर्ट को रिकार्ड पर ले लिया है। उपर्युक्त पत्र में उल्लिखित स्थिति के अनुसार आयोग द्वारा कोई कार्रवाई करना अपेक्षित नहीं है।

पूर्व प्रधान मंत्री की सुरक्षा से जुड़े मोटरकेड द्वारा कुचले जाने से बालिका की मौत : उत्तर प्रदेश

आयोग को राम बहादुर सिंह पुत्र श्री कपिल देव सिंह, निवासी मुहल्ला दर गाहिया, एयर फोर्स प्रोजेक्ट कालोनी के निकट, थाना शाहपुर, गोरखपुर (उ0 प्र0) से एक शिकायत प्राप्त हुई है जिसमें यह आरोप लगाया गया है कि 9वीं कक्षा की छात्रा उसकी बेटी वंदना सिंह साइकिल पर स्कूल से लौट रही थी तब उसको 7 नवम्बर 1997 को पूर्व प्रधान मंत्री की सुरक्षा पर तैनात एक वाहन द्वारा कुचल दिया गया। यह आरोप भी लगाया गया है कि इस घटना की सूचना कैंट के थाने में दी गई और भा0 दं0 सं0 की धारा 279 / 304 के अधीन अपराध सं. 2006 / 97 दर्ज किया गया। लेकिन इस दुर्घटना में पुलिस की गाड़ी शामिल थी अतः कोई गहरी जाँच नहीं की गई। उसने एक स्वतंत्र एजेंसी द्वारा जाँच कराए जाने की प्रार्थना की है ताकि सभी अपचारी पुलिसकर्मियों को दंडित किया जा सके।

आयोग ने शिकायत का संज्ञान लिया और रिपोर्ट मांगते हुए एस एस पी., गोरखपुर को नोटिस जारी करने का निर्देश दिया।

एस एस पी से प्राप्त रिपोर्ट में यह कहा गया है कि शिकायत की जाँच सी ओ सिटी II, गोरखपुर द्वारा की गई थी। जाँच के दौरान इस बात का पता चला कि उस खास दिन पुलिस के अनेक वाहन ड्यूटी पर थे और उस वाहन की पहचान करना संभव नहीं था जिसने दुर्घटना की थी। रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया है कि जाँच पूरी होने पर 30 जून 1998 को न्यायालय में अंतिम रिपोर्ट दाखिल की गई।

उपर्युक्त बातों से यह ज्ञात होता है कि पुलिस यह मानती है कि एक किशोरी की मृत्यु मोटर दुर्घटना में हुई है और यह दुर्घटना पूर्व प्रधानमंत्री के मोटरकेड से हुई है। यह सूचित किया है कि उस खास वाहन का पता लगाना संभव नहीं है जिसकी टक्कर से लड़की की मृत्यु हो गई थी क्योंकि अनेक विभागों तथा पुलिस के अनेक वाहनों को ड्यूटी पर लगाया गया था। यह स्वीकार किया गया है कि एक जवान लड़की की मृत्यु उसी ड्राइवर की लापरवाही के कारण हुई है जो सरकारी ड्यूटी पर तैनात था।

वी आई पी की आवाजाही के दौरान जनता को होने वाले खतरे का यह एक अन्य मामला है जिसमें पैदल चलने वाले की मृत्यु हुई है। स्थानीय प्रशासन त्रासदी के प्रति लापरवाह एवं असंवेदनशील है। इस बात को कोई महत्व नहीं दिया गया है कि यह एक सरकारी वाहन था जिसे सरकारी कर्मचारी चला रहा था। वह एक लड़की से टकराया और उसे मार डाला। इससे सरकार का दायित्व भी बनता है। दुर्घटना में शामिल ड्राइवर का यह कर्तव्य था कि वह दुर्घटना की रिपोर्ट करता। मोटरकेड के

व्यक्तियों द्वारा आवश्यक कार्रवाई की जानी चाहिए थी। लेकिन उन्होंने नहीं की। यद्यपि इस स्थिति में अपराधी ड्राइवर का पता लगाना संभव नहीं है फिर भी सरकार द्वारा मुआवजा देना होगा। आयोग चाहता है कि जाँच का रिकार्ड उसके अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जाए और यह निर्देश देता है कि मृतक के निकटतम संबंधी को चार सप्ताह के भीतर रु0 2.00 लाख का अंतरिम मुआवजा दिया जाए। इसका अनुपालन किया जाए और छह सप्ताह के भीतर इसकी विधिवत् रिपोर्ट दी जाए और जाँच का रिकार्ड प्राप्त होने पर आगे और विचार के लिए प्रस्तुत किया जाए।

आयोग ने 22–3–2000 की कार्यवाही के अनुसार मृतक के निकटतम संबंधी को रु0 2.00 लाख के अंतरिम मुआवजा देने का निर्देश दिया और जाँच का रिकार्ड आयोग के अवलोकनार्थ भेजा।

एस एस पी, गोरखपुर से प्राप्त रिपोर्ट दिनांक 7.2.2003 में कहा गया है कि शिकायतकर्ता रामबहादुर सिंह को रु0 दो लाख का मुआवजा दे दिया गया है, जैसा कि आयोग ने निर्देश दिया था। उसने उसकी रसीद संलग्न की है।

पुलिस अधीक्षक सी बी/सी आई डी से प्राप्त अन्य रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मामले की जाँच सी बी/सी आई डी ने की थी और यह पाया गया था कि दुर्घटना और मृतक व्यक्ति की मृत्यु सिपाही (ड्राइवर) सुरेश चंद्र पांडे द्वारा की गई थी। उसके विरुद्ध भा0 दं0 सं0 की धारा 279/304 के अधीन अपराध सिद्ध हो चुका है। लेकिन चूंकि मामला कालातीत है अतः आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 473 के अधीन न्यायालय से विलम्ब को माफ करने का निवेदन किया गया था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि इकबाल अहमद कलीअम, प्रभारी, ओ.पी. ओहाद्दीपुर पुलिस स्टेशन कैंट, गोरखपुर तथा एस आई दीपक शर्मा को कर्तव्य की अवहेलना करने का दोषी पाया गया क्योंकि उन्होंने मामले की जाँच में कोई रुचि नहीं ली। उनके विरुद्ध उ0 प्र0 अधीनस्थ पुलिस कर्मचारी (दंड एवं अपील) नियमावली के नियम 14 (2) के अधीन विभागीय कार्रवाई करने की सिफारिश की गई है।

रिपोर्ट को रिकार्ड पर ले लिया गया है और केस को बंद किया जाता है क्योंकि आगे और कोई कार्रवाई करना आवश्यक नहीं है।

पुलिस हिरासत में मौत : बिहार

मुनुवा देवी के पति की यातना से हुई मृत्यु से संबंधित रिपोर्ट के प्राप्त होने पर आयोग ने कार्यवाही दिनांक 20.3.96 के अनुसार इस मामले का संज्ञान लिया। संयुक्त सचिव (गृह), बिहार सरकार द्वारा भेजी गई रिपोर्ट पर आयोग ने अपनी कार्यवाही दिनांक 28.1.2000 में विचार किया और निम्नलिखित निर्देश जारी किए :

I. मृतक के परिवार को मुआवजे के रूप में रु0 2.00 लाख की राशि तत्काल दी जाए। इस राशि की वसूली सब इन्स्पेक्टर अरविंद सिंह से की जाए।

II. मृतक के परिवार के एक सदस्य को उसकी शैक्षिक अर्हताओं आदि के अनुसार नौकरी दी जाए।

III. बिहार सरकार द्वारा उसको (मुनुवा देवी) को दिए जाने वाले मुआवजे के रु. 2.00 लाख की राशि में से 50 प्रतिशत राशि को मृतक की विधवा के नाम आवधिक जमा में रखा जाए। मृतक की विधवा को दैनिक जरूरतों के लिए हर तिमाही में ब्याज की रकम को निकालने की स्वतंत्रता होगी।

झारखंड सरकार के विशेष सचिव ने उत्तर के रूप में तारीख 19.6.2002 को एक पत्र भेजा जिसमें दिनांक 10.1.2001 को मुआवजे के रूप में श्रीमती मुनुवा देवी को दिए गए रु0 2.00 लाख की राशि का ब्यौरा दिया गया। झारखंड सरकार के विशेष सचिव (गृह) से दिनांक 24.9.2002 को एक और पत्र प्राप्त हुआ जिसमें यह सूचना दी गई थी। रसीद नं. डी. डी. ए./28–258881 दिनांक 10.1.2001 के अनुसार रु0 1.00 लाख की राशि पांच वर्ष के आवधिक निक्षेप में जमा कर दी गई है और रु0 1.00 लाख की राशि श्रीमती मुनुवा देवी को दे दी गई है।

झारखंड सरकार के उपसचिव (गृह) द्वारा दिनांक 20.01.2005 को पत्र भेजा गया था। उक्त पत्र में यह उल्लेख किया गया था कि मृतक के पुत्र दिनेश्वर महतो को उपायुक्त, देवगढ़ के कार्यालय में अर्दली की नौकरी दे दी गई है। नियुक्ति–पत्र की फोटोप्रति उसके साथ संलग्न कर दी गई है।

चूँकि आयोग की सिफारिशों को लागू कर दिया गया है, अतः अब आयोग को आगे और कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं है। तदनुसार, झारखंड राज्य की सरकार से प्राप्त रिपोर्टों को रिकार्ड में रख लिया गया है और मामले को बंद कर दिया गया है।

एक ही मामले से संबंधित दो शिकायतें नं0 8903 और 5764 हैं। मुनुवा देवी ने पुलिस द्वारा उस समय किए गए अत्याचारों का बखान किया है, जब पुलिस 27 सितंबर, 1995 को उसके पति कार्तिक महतो को उठा कर ले गई थी और जाँच करने

पर पता चला था कि माधोपुर थाने के सब इन्स्पेक्टर ने डाकघर में हुई डकैती के संबंध में पूछताछ की थी। वह पुलिस स्टेशन गई थी और वहाँ उसने देखा कि उसके पति को उल्टा लटकाया हुआ है और उसे पीटा जा रहा है। पुलिस ने उसे भी गालियां दीं। उसके पति को छह दिन तक खाना नहीं दिया गया और 4.10.1995 को पुलिस हिरासत में उसकी मृत्यु हो गई। उसके अन्य संबंधियों को भी पीटा गया था और अपने पति का शव प्राप्त करने के प्रमाणस्वरूप पुलिस ने जबरदस्ती उसके अंगूठे की निशानी ले ली। उसने आयोग से पुलिस पदाधिकारियों के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए प्रार्थना की। शिकायत के साथ अखबार की कतरन भी संलग्न की गई।

प्राप्त रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया गया कि उपर्युक्त सब इन्स्पेक्टर द्वारा पिटाई किए जाने के कारण पुलिस अभिरक्षा में कार्तिक महतो की मृत्यु हुई और भा0 दं0 सं0 की धारा 302 के अधीन मामला दर्ज कर लिया गया है। सब इन्स्पेक्टर ने न्यायालय में आत्मसमर्पण कर दिया और उसे माननीय उच्च न्यायालय द्वारा जमानत पर रिहा कर दिया गया। उसके विरुद्ध अभियोग चलाए जाने के लिए आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन आवश्यक मंजूरी लिए जाने के हेतु मामला लंबित है।

पूरे मामले का अध्ययन करने के बाद उभरकर आई अंतिम स्थिति यह है कि पुलिस ने यह स्वीकार किया है कि कार्तिक महतो की मृत्यु पुलिस अभिरक्षा में हुई है और सक्षम प्राधिकारी द्वारा आवश्यक मंजूरी दिए जाने के बाद अभियुक्त के विरुद्ध अभियोग चलाया जाएगा। मामला काफी पुराना है और पीड़ित पक्ष को अभी तक कोई मुआवजा नहीं दिया गया है। इन परिस्थितियों में आयोग बिहार सरकार को निर्देश देता है कि:–

I. मृतक के परिवार को मुआवजे के रूप में रु0 2.00 लाख की राशि तत्काल दी जाए। इस राशि की वसूली सब–इन्स्पेक्टर अरविंद सिंह से की जाए।

II. मृतक के परिवार के एक सदस्य को उसकी शैक्षिक अर्हताओं आदि के अनुसार नौकरी दी जाए।

III. बिहार सरकार द्वारा उसको (मुनुवा देवी) को दिए जानेवाले मुआवजे के रु. 2.00 लाख की राशि में से 50 प्रतिशत राशि को मृतक की विधवा के नाम आवधिक जमा में रखा जाए। मृतक की विधवा को दैनिक जरूरतों के लिए हर तिमाही में ब्याज की रकम को निकालने की स्वतंत्रता होगी।

यह स्पष्ट किया जाता है कि पहली बार में पूरे मुआवजे की अदायगी स्वयं बिहार सरकार द्वारा की जाए ताकि पीड़ित पक्ष को कष्ट न भोगना पड़े और इस राशि में से 50 प्रतिशत राशि को आवधिक निक्षेप में जमा किया जाए, जैसा कि ऊपर बताया गया है। बिहार सरकार मुआवजे की राशि को सब इन्स्पेक्टर अरविंद सिंह से वसूल करेगी और इस मामले में की गई कार्रवाई की सूचना आयोग को देगी।

आयोग चाहता है कि उसे मामले की प्रगति से अवगत कराया जाए ताकि वह तदनुसार निर्देश दे सके।

अनुपालन रिपोर्ट मंगाई जाए और इस रिपोर्ट की एक प्रति शिकायतकर्ता को भेज दी जाए। मामला बंद किया जाता है।

शिकायत पर कार्रवाई करते हुए आयोग ने निम्नलिखित निर्देश दिया:

मुख्य सचिव तथा पुलिस महानिदेशक, बिहार को नोटिस भेजा जाए और उससे छह सप्ताह के अंदर जवाब मांगा जाए।

भूख के कारण मौत : आंध्र प्रदेश

5 मार्च 2004 को जनजाति की एक महिला दारावतू कामिली के भूख से मरने के संबंध में दिनांक 19 फरवरी, 2004 के 'हिंदू' समाचारपत्र में छपी खबर (केस सं. 985/1/2003–2004) का संज्ञान लेते हुए आयोग ने अपने एक विशेष संपर्ककर्ता श्री के. आर. वेणुगोपाल से अनुरोध किया कि वह घटना स्थान का दौरा करें और एक रिपोर्ट प्रस्तुत करें। आयोग ने अखबार में छपी खबर के संबंध में आंध्र प्रदेश के मुख्य सचिव से टिप्पणी भी मांगी।

आयोग के निर्देशों को पालन करते हुए श्री के आर. वेणुगोपाल ने एक विस्तृत रिपोर्ट दिनांक 28 जून 2004 को प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने दारावतू कामिली के भूख से मरने के आरोप के साथ अपनी रिपोर्ट में "गरीबी निरोधी कार्यक्रमों" के कार्यान्वयन से संबंधित कुछ निष्क्रिय पहलुओं का भी उल्लेख किया।

एक अन्य घटना में 3 मई 2004 के समाचार–पत्र "ईनाडु" और "वार्ता" में प्रकाशित तिम्मारपुर मंडल के गांव जोगरूया पल्ली के शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति श्री मामिडी अम्बादास के भूख से मरने की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के विशेष सम्पर्ककर्ता श्री के. आर. वेणुगोपाल ने उक्त गांव का दौरा किया और तथ्यों की पुष्टि करने के बाद आयोग को रिपोर्ट प्रस्तुत की।

आयोग ने उक्त मामले का संज्ञान लिया। उसे केस सं. 193/1/2004–2005 के रूप में दर्ज किया और पिछले केस सं. 985/1/2003–2004 के साथ संबद्ध किया। आयोग ने 28 जुलाई 2004 को उक्त दोनों मामलों पर विचार किया और निर्देश दिया कि विशेष सम्पर्ककर्ता श्री के. आर. वेणुगोपाल से प्राप्त रिपोर्ट को आठ सप्ताह के भीतर आंध्र प्रदेश के मुख्य सचिव की अनुक्रिया के लिए भेजा जाए।

उक्त दोनों मामले आयोग के विचाराधीन थे। इसी बीच दिनांक 19 जुलाई 2004 के समाचार–पत्र 'ईनाडु' में मेडक जिले के गांव कोडापाका में एक आठ वर्ष के लड़के की भूख से मरने की खबर छपी थी।

आयोग ने अखबार में छपी रिपोर्ट का संज्ञान लिया और आंध्र प्रदेश के मुख्य सचिव को नोटिस जारी करने का निर्देश दिया जिसमें उसके परिवार को राहत प्रदान किए जाने के बारे में उनकी अनुक्रिया मांगी गई थी।

उपर्युक्त केस (सं. 302/1/2004–2005) आयोग के निर्देशों का अनुसरण करते हुए आपदा प्रबंध आयुक्त तथा आंध्र प्रदेश सरकार के पदेन सचिव ने अपने पत्र दिनांक 4 अगस्त, 2004 के अनुसार यह सूचित किया कि मृतक की माता को 'राष्ट्रीय परिवार हितकारी निधि के तहत रु0 5000/– राशि तथा रु0 50/– प्र. मा. की पेंशन मंजूर कर दी गई है। मेडक के कलक्टर ने आगे यह भी सूचित किया है कि परिवार के पास

पी डी एस के अधीन इमदादी दर पर चावल का राशन कार्ड भी है और वह योजना के अधीन 16 किलो चावल ले रही है। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मास्टर वाम्सी की मृत्यु अस्वस्थता के कारण हुई थी न कि भूख से। रिपोर्ट पर विचार करने के बाद आयोग ने उक्त केस (सं. 302/1/2004–2005) को उसी प्रकार के अन्य मामलों से संबद्ध करने का निर्देश दिया।

आयोग की कार्यवाही दिनांक 28.7.2004 के अनुक्रियास्वरूप केस सं. 985/1/2003–2004 और 193/1/2004–2005 में नालगोंडा के आंध्र प्रदेश सरकार के गृह (मानव अधिकार आयोग) विभाग ने अपने पत्र दिनांक 4.9.2004 के अनुसार जिला मजिस्ट्रेट एवं कलक्टर की एक विस्तृत रिपोर्ट दिनांक 4.8.2004 को अग्रेषित की थी।

उक्त रिपोर्ट के अवलोकन से पता चलता है कि नालगोंडा के जिला कलक्टर ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय विशेष सम्पर्ककर्ता श्री के. आर. वेणुगोपाल द्वारा राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में दी गई टिप्पणी पर विचार किया। उन्होंने विभिन्न "गरीबी निरोधी कार्यक्रमों" के 10 पात्र व्यक्तियों को उपलब्ध कराई गई राहत का ब्यौरा भी दिया। रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया है कि क्षेत्र की सामान्य स्थिति अच्छी है और कामिली की मृत्यु भूख के कारण नहीं हुई थी।

जहाँ तक केस सं. 193/1/2004–2005 का संबंध है करीमनगर के कलक्टर से एक रिपोर्ट दिनांक 9.7.2004 को प्राप्त हुई है जिसमें उसने उल्लेख किया है कि मामिदी अम्बादास की मृत्यु के संबंध में राज्य सरकार द्वारा निम्नलिखित राहत उपाय किए गए हैं:–

(क) पीड़ित की पत्नी श्रीमती मामदी पद्मा के लिए मकान साइट का आबंटन और आई ए वाई स्कीम के अधीन एक मकान की मंजूरी जिसकी अनुमानित लागत रु0 25000/– है।

(ख) जीविका के लिए दो दुधारू पशुओं की खरीद हेतु श्रीमती पद्मा को रु0 25000/– का अनुदान।

(ग) एन एस एस के अधीन डाकघर में दो नाबालिग बच्चों के नाम रु0 25000/– का निवेश।

(घ) सामाजिक कल्याण होस्टल में दो बड़ी लड़की का दाखिला ताकि उसकी भावी शिक्षा तथा खाद्य की जरूरतों को पूरा किया जा सके।

रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया था कि अपने नियोजक की आज्ञा पालन करते समय लगे बिजली के झटके के कारण मृतक को बाईं टाँग और हाथ गंवाने पड़े। नियोजक के विरुद्ध ओ एस नं. 23/98 केस दायर किया गया और दोनों में से प्रत्येक अभियुक्त द्वारा मृतक को रु0 25000/– देने के लिए अंतिम आदेश पारित किया गया।

उक्त राशि की अदायगी न करने पर मृतक ने दो व्यक्तियों के विरुद्ध ई.पी. सं. 29/2003 फाइल की और केस का फैसला होना है। ए.पी. ट्रान्स्को (विद्युत आपूर्तिकर्ता) इससे संबंधित नहीं था और एजेंसी के विरुद्ध कोई केस फाइल नहीं किया गया है।

केस सं0 302/1/2004–2005 में आयुक्त के कार्यालय तथा सरकार के पदेन सचिव, (राजस्व) (डी एम) विभाग, आं. प्र. सचिवालय, हैदराबाद से एक पत्र दिनांक 4.8.2004 को प्राप्त हुआ। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मृतक बच्चे की माता को राष्ट्रीय परिवार हितलाभ के अधीन रु0 5000/– की राहत दे दी गई है और उसके लिए रु0 50/– प्र0 मा. की विधवा पेन्शन भी मंजूर कर दी गई है। इसके अतिरिक्त यह भी सूचित किया गया है कि परिवार के पास इमदादी दर पर चावल लेने के लिए श्वेत राशनकार्ड भी है।

रिपोर्टों को रिकार्ड पर ले लिया गया है। अब इस मामले में आयोग द्वारा कार्रवाई करने की जरूरत नहीं है।

केस बंद करने के पहले आयोग यह टिप्पणी देना चाहेगा कि राज्य सरकार को विशेषतः इन तीन जिलों में और सामान्यतः सम्पूर्ण राज्य में स्थितियों का पर्यवेक्षण एवं परिवीक्षण करने के लिए एक प्रणाली स्थापित करनी चाहिए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि संकट के कारण कोई आत्महत्या नहीं की जाती है और भूख के कारण कोई मौत नहीं होती है और पात्र परिवारों को भेदभाव के बिना तथा शीघ्र राहत उपलब्ध कराई जाती है।

गांववालों ने चोरी के आरोप में एक लड़के की दोनों आँखें निकालीं : बिहार

आयोग में दिनांक 25.9.03 को एक गुमनाम शिकायत प्राप्त हुई थी जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि बिहार में जिला खगड़िया के गांव मथुरापुर के निवासी 16 वर्षीय धनवीर को गांववालों ने इस शक के आधार पर पकड़ लिया था कि उसने चोरी की थी। उसके बाद, उसको मुखिया अशोक कुमार सिंह के सामने लाया गया, जिसने गांववालों को धनवीर की दोनों आँखें निकालने को कहा जिससे वह अंधा हो गया। इसके अतिरिक्त, यह आरोप भी लगाया गया था कि मुखिया अशोक कुमार सिंह आपराधिक घटनाओं में शामिल था। शिकायत के साथ अखबारों की कुछ कतरनें भी आयोग को भेजी गई थीं।

आयोग ने 10.10.03 को शिकायत पर विचार किया और तथ्य इकट्ठा करने के लिए महानिदेशक (अन्वेषण) को निर्देश दिया।

आयोग के उपर्युक्त निर्देशों के अनुसार राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अन्वेषण प्रभाग को खगड़िया के पुलिस अधीक्षक (एस.पी.) से दिनांक 19.11.03 को रिपोर्ट प्राप्त हुई। रिपोर्ट से पता चलता है कि 16 वर्षीय धनवीर यादव की शिकायत पर भारतीय दंड संहिता की धारा 323/341/325/307/324/326/327/34 के अधीन 14.9.03 को सर्वश्री धर्मवीर कहार, शशि सिंह तथा 20–25 अज्ञात व्यक्तियों के विरुद्ध मामला सं0 418/2003 दर्ज किया गया। जाँच के दौरान सर्वश्री उमेश सिंह, दयानंद सिंह, मंतू सिंह, चामरूसिंह, देवधर सिंह और आज़ाद सिंह के विरुद्ध मामला सही पाया गया। लेकिन मुखिया अशोक सिंह के खिलाफ ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह पता चलता कि वह भी मामले में शामिल था। रिपोर्ट मिली थी कि मामले की जाँच की जा रही है।

जाँच रिपोर्ट अवलोकनार्थ प्रस्तुत है। महानिदेशक (अन्वेषण) ने निम्नलिखित सिफारिश की है:–

> "यदि इस मामले की जाँच राज्य की सी.आई.डी. से करवाई जाए तो अधिक उपयुक्त होगा। आयोग इस बात पर विचार कर सकता है कि वह जाँच की स्थिति सूचित करने के लिए राज्य सरकार को निर्देश दे। आयोग 18 (3) के अधीन पीड़ित व्यक्ति को अंतरिम राहत प्रदान करने के लिए नोटिस जारी करने पर भी विचार कर सकता है।"

डी जी (आई) द्वारा की गई सिफारिश के आधार पर 25.3.04 को आयोग के एक माननीय सदस्य ने यह निर्देश दिया कि मामला पूर्ण आयोग के समक्ष पेश किया जाए।

आयोग का निर्देश दिनांक 21.4.2004

"पूरे मामले पर विचार करने के बाद जिसमें जिला मजिस्ट्रेट के सुझाव भी शामिल हैं, आयोग के अन्वेषण प्रभाग ने यह राय व्यक्त की कि मामले के दुःखद एवं बर्बर स्वरूप को ध्यान में रखते हुए राज्य की सी.बी.सी.आई.डी. द्वारा जाँच करवाया जाना आवश्यक है। हम डी. जी. (आई) के सुझाव से सहमत हैं और डी. जी. पी., बिहार को निर्देश देते हैं कि वह इस मामले की जाँच बिहार राज्य की सी. बी. सी. आई. डी. से करवाएं। सी. बी. सी. आई. डी. से यह अनुरोध किया जाएगा कि वह मामले की जांच शीघ्र करें और तीन महीने के अंदर जाँच का परिणाम आयोग को सूचित करें।

तद्नुसार, दिनांक 28.4.2004 को डी. जी. पी., बिहार को एक पत्र भेजा गया जिसमें उनको यह निर्देश दिया गया कि वे इस मामले की जाँच बिहार राज्य के सी. बी. सी. आई. डी. को सौंप दें और 20.7.2004 तक जाँच का परिणाम आयोग को सूचित करें। उसके बाद रजिस्ट्रार (विधि) ने उन्हें चार स्मरण–पत्र दिनांक 22.7.2004, 30.9.2004 तथा अ.शा.पत्र दिनांक 5.11.2004 भेजे। लेकिन अब भी डी. जी. पी., बिहार से उत्तर की प्रतीक्षा की जा रही है।

आयोग द्वारा दिया गया निर्देश दिनांक 6.12.2004

पूर्ण आयोग ने मामले पर 6.12.2004 को विचार किया और उसने निम्नलिखित निर्देश दिया:–

"21 अप्रैल 2004 को पूर्ण आयोग ने मामले के स्वरूप पर विचार करते हुए निर्देश दिया कि बिहार राज्य की सी.बी. सी. आई. डी. द्वारा मामले की जाँच की जाए। डी. जी. पी., बिहार से आवश्यक कार्रवाई करने और आयोग को जाँच का परिणाम सूचित करने का अनुरोध किया गया। डी. जी. पी., बिहार को स्मरण–पत्र भेजे जाने के बावजूद आयोग को अब तक सी. बी. सी. आई. डी. को मामले की जाँच सौंपे जाने के संबंध में सूचित नहीं किया गया है।

डी. जी. पी., बिहार को अंतिम स्मरण–पत्र भेजा जाए जिसके अनुसार उनसे दो सप्ताह के भीतर अनुपालन रिपोर्ट भेजने को कहा जाए।

तद्नुसार, 10.12.2004 को डी. जी. पी., बिहार को एक स्मरण पत्र भेजा गया जिसमें उनसे 30.12.2004 तक उत्तर भेजने का अनुरोध किया गया।

डी. आई. जी. (मा0 अ0) से प्राप्त दिनांक 20.12.2004 का उत्तर

डी. जी. पी., बिहार को भेजे गए अंतिम स्मरण–पत्र के अनुसरण में फैक्स के माध्यम से डी. आई. जी. (मा. अ.) से दिनांक 20.12.2004 को उत्तर प्राप्त हुआ। यह कहा गया है कि इस केस की जाँच डी. जी. पी. एंड आई. जी. पी., बिहार, पटना के

कार्यालय से भेजे गए पत्र सं0 6435/एक्सएच दिनांक 21.8.2004 के अनुसार बिहार राज्य के सी.बी.सी. आई.डी. को सौंप दी गई है। पत्र के उत्तर में आगे यह भी कहा गया है कि डी. आई. जी. (अपराध), सी.बी.सी.आई.डी. से भी व्यक्तिगत संपर्क स्थापित किया गया है जिसमें उनसे अनुरोध किया गया है के वे रिपोर्ट शीघ्र भेजें।

आयोग का दिनांक 5.1.2005 का अंतिम निर्देश

आयोग ने 5.1.2005 को डी. आई. जी. (मा.अ.) की उपर्युक्त रिपोर्ट पर विचार किया और निम्नलिखित निर्देश दियाः–

"डी. आई. जी. (मा.अ.) के माध्यम से डी. जी. पर बिहार ने आयोग को सूचित किया कि इस मामले की जाँच डी. जी. पी. और आई. जी. पी., बिहार पटना के कार्यालय से जारी किए गए पत्र दिनांक 21 अगस्त, 2004 के अनुसार बिहार राज्य के सी. बी. सी. आई. डी. को सौंप दी गई है।

डी. आई. जी. (मा. अ.) सी. बी. सी. आई. डी. द्वारा की जा रही जाँच की स्थिति के बारे में सूचित करेंगे।

डी. आई. जी. (मा. अ0) बिहार, पटना, से प्राप्त दिनांक 26.2.2005 का उत्तर दिनांक 26.2.2005

उपर्युक्त निर्देशों का अनुसरण करते हुए, डी. आई. जी. (मा. अ.), बिहार, पटना से दिनांक 28.2.2005 का उत्तर प्राप्त हुआ जिसके साथ एस.पी. (सी.), सी. बी. सी. आई. डी., बिहार, पटना द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट दिनांक 12.2.2005 की एक प्रति संलग्न की गई है।

एस पी (सी), सी बी सी आई डी ने अपनी रिपोर्ट में यह कहा है कि केस सं. 418/03 दिनांक 14.9.2003 भ0 दं0 सं0 की धारा 323/34/325/307/324/326/327/34 के अधीन दर्ज किया गया था। जाँच के बाद, गैर एफ आई आर अभियुक्त सर्वश्री (1) देवधर सिंह (2) आज़ाद सिंह (3) मंतू सिंह (4) दयानंद सिंह (5) चामरू सिंह (6) उमेश सिंह (7) और अशोक सिंह (मुखिया) के विरुद्ध भा0 दं0 सं0 की धारा 323/341/342/324/325/326/327/37/34 के अधीन मामला सही पाया गया। एफ. आई. आर. अभियुक्त सर्वश्री धर्मवीर कहार और शशि सिंह को निर्दोष पाया गया। इस मामले में दिनांक 12.2.2003 का पहला आरोप पत्र सं. **455/03** चार गैर एफ. आई. आर. अभियुक्तों के विरुद्ध जिला पुलिस द्वारा प्रस्तुत किया गया था। भा0 दं0 सं0 की धारा 323/341/342/324/325/326/327/37/34 के अधीन दूसरा पूरक आरोप पत्र सं0 32/05 दिनांक 31.1.2005 खर्जिया न्यायालय में तीन गैर एफ. आई.आर. अभियुक्तों के विरुद्ध सी बी सी आई डी द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

9. मामला विचार एवं आगे और निर्देश जारी किए जाने के लिए आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

20. पूर्व पृष्ठ पर एस. एस. पी. की रिपोर्ट के पूर्वगामी पैरा 14 से 19 में इस मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों का अवलोकन किया जा सकता है।

21. प्रस्तुत शिकायत वस्तुतः एक दुःखद एवं बर्बर कृत्य के विरुद्ध की गई शिकायत है। लेकिन संतोष की बात यह है कि पुलिस ने उचित कानूनी कार्रवाई की है। इसके अतिरिक्त यह भी कहना होगा कि इस मामले में अशोक कुमार मुखिया के शामिल होने का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है।

22. मैं एस. एस. पी. – I की इन सिफारिशों से सहमत हूँ कि आयोग राज्य प्राधिकारियों को यह निर्देश देने पर विचार कर सकता है कि वे इस मामले को सी. बी./सी. आई. डी. को अंतरित कर सकते हैं। आयोग जिला मजिस्ट्रेट, खगड़िया को मानवीय आधार पर पीड़ित व्यक्ति को कुछ मुआवज़ा देने के लिए भी कह सकता है।

आयोग में दिनांक 6.10.2003 को अखबार की कुछ कतरनों के साथ एक गुमनाम याचिका प्राप्त हुई थी जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि 16 वर्षीय धनवीर को गांववालों ने चोरी के संदेह में पकड़ लिया था और उसे मुखिया (ग्राम प्रधान) के समक्ष पेश किया था जिसने उसे अंधा कर देने का आदेश दिया। इस घटना से संबंधित संलग्नकों सहित पुलिस रिपोर्ट से पता चलता है कि भा. दं. सं. की धारा संख्या 323/34/307/324/326/327 तथा 34 के तहत केस संख्या 418/03 दिनांक 14.09.2003 दर्ज किया गया। इस केस का पर्यवेक्षण एस. पी. खगड़िया ने किया था और इसको छह अभियुक्तों के विरुद्ध सही पाया गया था। पर्यवेक्षण की तारीख तक मुखिया के विरुद्ध कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। केस का पर्यवेक्षण 19.11.2003 को किया गया था और उसके बाद पुलिस ने और कोई रिपोर्ट नहीं भेजी है।

यह एक दुःखद एवं बर्बरतापूर्ण मामला है जिसकी पूरी जाँच किए जाने की आवश्यकता है। अतः मैं डी.आईजी. के इस सुझाव से सहमत हूँ कि इस केस की जाँच सी.आई.डी., बिहार को सौंपी जाए।

वैकल्पिक रूप से इस केस की जाँच सीधे अन्वेषण प्रभाग द्वारा की जाए। कृपया अपने विचार प्रकट करें।

यदि इस केस की जाँच राज्य की सी. आई. डी. द्वारा की जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

आयोग राज्य सरकार को ऐसा निर्देश देने पर विचार कर सकता है कि वह जाँच की स्थिति बताए। आयोग 18 (3) के अधीन पीड़ित व्यक्ति को अंतरिम राहत प्रदान करने के लिए नोटिस जारी करने के संबंध में भी विचार कर सकता है।

आयोग में एक गुमनाम शिकायत दिनांक 9.02.2003 को प्राप्त हुई थी जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि गाँव मथुरापुर जिला खगड़िया, बिहार के लगभग 16 वर्ष के एक किशोर धनवीर को चोरी के संदेह में गाँववालों ने पकड़ लिया था। शिकायत में यह आरोप लगाया गया है कि धनवीर को मुखिया अशोक कुमार के सामने लाया गया जिसने गाँव वालों को निर्देश दिया कि वे धनवीर की आखें निकाल लें जिसके परिणामस्वरूप वह अंधा हो गया। शिकायत के साथ प्रेस की कतरनों की कुछ प्रतियाँ भी आयोग को भेजी गईं थीं। 10 अक्तूबर 2003 को आयोग ने तथ्य इकट्ठा करने के लिए डी. जी. (आई) को निर्देश दिया।

आयोग के अन्वेषण विंग के अनुरोध पर एस. पी. खगड़िया को एक रिपोर्ट दिनांक 19.11.2003 को प्राप्त हुई। रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया था कि धर्मवीर की शिकायत के संबंध में 14.09.2003 को भा. दं. सं. की धारा 323/341/325/307/324/326/327/34 के अधीन अपराधों के लिए अपराध केस सं0 418/2003 दर्ज कर लिया गया है। रिपोर्ट मिली है कि मामले की जाँच की जा रही है।

जिला मजिस्ट्रेट के सुझावों सहित पूरे मामले पर विचार करने के बाद, आयोग के अन्वेषण प्रभाग ने यह राय व्यक्त की थी कि केस के दहलाने वाले बर्बर स्वरूप को ध्यान में रखते हुए राज्य के सी बी सी आई डी द्वारा इस मामले की पूरी जाँच करवाया जाना आवश्यक है। हम डी जी (आई) के सुझाव से सहमत हैं और डी जी पी बिहार को निर्देश देते हैं कि वे इस केस की जाँच का काम बिहार राज्य की सी बी सी आई डी को सौंप दें। सी बी सी आई डी से यह अनुरोध किया जाएगा कि वे इस मामले की जाँच शीघ्र करें और तीन महीने के अंदर आयोग को जाँच का परिणाम सूचित करें।

21 अप्रैल 2004 को पूर्ण आयोग ने केस के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह निर्देश दिया कि इस मामले की जाँच बिहार राज्य के सी बी सीआईडी द्वारा कराई जाए। डी जी पी, बिहार से आवश्यक कार्रवाई करने तथा आयोग को जाँच का परिणाम सूचित करने का अनुरोध किया गया था। डी जी पी, बिहार के स्मरण–पत्र भेजे जाने के बावजूद मामले की जाँच सौंपे जाने के संबंध में आयोग को अभी तक सूचित नहीं किया गया है।

डी जी पी, बिहार को अंतिम स्मरण–पत्र भेजा जाए जिसमें उनसे यह अनुरोध किया जाए कि वे दो सप्ताह के भीतर अनुपालन रिपोर्ट प्रेषित करें।

इन कार्यवाहियों को आयोग की पूर्वकार्यवाहियों के क्रम में पढ़ा जाएगा।

6.12.2004 की कार्यवाही के अनुसार जाँच के लिए सी बी सी आई डी को केस सौंपने के संबंध में 21 अप्रैल 2004 के अपने पहले निर्देशों को ध्यान में रखते हुए डी जी पी, बिहार को निर्देश दिया गया था कि वे आवश्यक कार्रवाई करें और आयोग को जाँच का परिणाम सूचित करें।

डी जी पी, बिहार ने डी आई जी (मा.अ.) के माध्यम से दिनांक 20 दिसम्बर 2004 के पत्रानुसार आयोग को सूचित किया था कि केस की जाँच का काम कार्यालय डी जी पी तथा आई पी जी बिहार, पटना से जारी किए गए पत्र दिनांक 21 अगस्त 2004 के अनुसार बिहार राज्य के सी बी सी आई डी को सौंप दिया गया है।

डी आई जी (मा.अ.) सी बी सी आई डी द्वारा की जा रही जाँच की स्थिति के बारे में आयोग को सूचित करेंगे।

कृपया छह सप्ताह के अंदर आयोग को सूचित करें।

इन कार्यवाहियों को आयोग की पिछली कार्यवाहियों के क्रम में पढ़ा जाएगा।

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथा दिल दहलाने वाला मामला है जो ग्राम मथुरापुर, जिला खगड़िया, बिहार के निवासी 16 वर्षीय धनवीर से संबंधित है।

आयोग में एक गुमनाम शिकायत दिनांक 25.9.2003 प्राप्त हुई थी जिसमें यह आरोप लगाया गया था कि कुछ गांववालों ने चोरी के शक में एक लड़के को पकड़ लिया था। उसके बाद उसे मुखिया अशोक कुमार के सामने लाया गया जिसने गांववालों को निर्देश दिया कि उस लड़के धनवीर की आंखें निकाल ली जाएं जिसके फलस्वरूप वह अंधा हो गया।

आयोग ने अपनी कार्यवाही दिनांक 5.1.2004 में डी आई जी (मा.अ.) के माध्यम से डी जी पी, बिहार द्वारा प्रेषित तारीख 20 दिसम्बर 2004 के एक पत्र पर विचार किया जिसने आयोग को यह सूचना दी गई थी कि डी जी पी आई जी पी, बिहार के कार्यालय से जारी किए गए तारीख 21.8.2004 के अनुसार केस की जांच का काम बिहार राज्य के सीबी सी आई डी को सौंप दिया गया है। इस प्रकार आयोग ने डी आई जी (मा. अ.) को यह निर्देश दिया कि वह सी बी सी आई डी द्वारा की जा रही जाँच की स्थिति के बारे में आयोग को सूचित करें।

इसके अनुक्रियास्वरूप डी आई जी, बिहार ने दिनांक 26.2.2006 के अपने पत्र के द्वारा केस की स्थिति की जानकारी दी है। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि भा. दं. सं. की धारा 323/341/325/307/324/326/327/34 के अधीन केस सं. 418/03 दिनांक 14/9/2003 दर्ज किया गया। जाँच के बाद सात गैर–एफ आई आर अभियुक्तों सर्वश्री (1) देवधर सिंह (2) आजाद सिंह (3) मंटू सिंह (4) दयांनद सिंह (5) चामरू सिंह (6) उमेश सिंह और (7) अशोक सिंह (मुखिया) के विरुद्ध मा दं0 सं0 की धारा323/341/342/324/325/326/327/307/34 के अधीन मामला सही पाया गया। इस मामले में जिला पुलिस ने गैर–एफ आई आर अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथम आरोप–पत्र सं. 455/03 दिनांक 12.2.2003 को प्रस्तुत किया था। भा0 दं0 सं0 की धारा 323/341/342/324/325/327/307/34 के अधीन दूसरा पूरक

आरोप–पत्र सं. 32 / 05 दिनांक 3.11.2005 कार्जिया के न्यायालय में तीन गैर एफ आई आर अभियुक्तों के विरुद्ध सी बी सी आई डी ने प्रस्तुत किया।

चूँकि जिन व्यक्तियों को धनवीर की आंखें निकालने का प्रथम दृष्ट्वा दोषी पाया गया उन व्यक्तियों के विरुद्ध आरोप–पत्र सक्षम न्यायालय में दायर किया गया था अतः इस मामले में आयोग द्वारा आगे और कार्रवाई करना अपेक्षित नहीं है। अतः केस बंद किया जाता है।

केस बंद करने से पहले आयोग यह महसूस करता है कि यह एक क्रूर और दहलाने वाला मामला है जिसमें एक किशोर लड़के को शेष समस्त जीवन के लिए अंधा बना दिया गया। उसकी स्थिति पर राज्य प्राधिकारियों द्वारा सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाना अपेक्षित है। अतः आयोग का यह आशा करना उचित है कि मुख्य सचिव के माध्यम से राज्य सरकार इस केस में पीड़ित किशोर लड़के को सरकार की किसी भी हितकारी / कल्याण योजना के अधीन मानवीय आधार पर वित्तीय या अन्यथा सहायता प्रदान किए जाने पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगी।

आयोग आशा करता है कि मुख्य सचिव इस मामले में व्यक्तिगत रुचि लेंगे और उचित कार्रवाई करेंगे।

समीक्षा

मानव अधिकार : नई संभावनाओं की तलाश

* राघवेन्द्र पाठक

हिन्दी में विचार करने की दृष्टि से कवि, नाटककार और दार्शनिक के रूप में अपना स्थान बना चुके नन्द किशोर आचार्य की प्रस्तुत रचना सामाजिक – राजनैतिक प्रश्नों पर केन्द्रित है जो आधुनिक मनुष्य की नियति और स्थिति पर विचार करते हुए सम्भावनाओं की तलाश करती है। इस पुस्तक में इक्कीस आलेख है जो मानव अधिकार और उसके इर्द–गिर्द बिखरे अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को सम्बोधित करते हैं। मानवाधिकार पर चर्चा करते हुए लेखक ने कई व्यापक और मौलिक प्रश्न उठाए हैं। वे मनुष्य को केन्द्र मानकर आगे बढ़ने वाली वैज्ञानिक अवधारणा को चुनौती देते हैं क्योंकि उनके अनुसार, "जीवन मात्र से जुड़ना, उसका संरक्षण और सर्जनात्मक विकास उसके मनुष्य होने की अनिवार्य नैतिक और भावनात्मक शर्त है।" (पृ0 13) मानव होना उनके लिए चेतनासम्पन्न, सर्जनशील और उत्तरदायी होना है।

राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में नन्दकिशोर जी का मानना है कि हिंसा और शोषण सबसे बड़ी चुनौतियाँ हैं और जब तक "हमारे आचरण की प्रेरणा मानवाधिकार नहीं बनते तब तक राज्य की संस्थाओं का आचरण भी नैतिक और मानवीय नहीं हो सकता। ऐसा होने के लिए आर्थिक सत्ता और प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है और साथ ही आवश्यक है उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की समाप्ति। ऐसा करना ही आर्थिक जीवन में मानवाधिकारों की स्थापना कर सकेगा। इस प्रक्रिया में शिक्षा की भी केन्द्रीय भूमिका है। इसके लिए शिक्षा का स्वायत्त होना आवश्यक है। आज शिक्षा प्रक्रिया पर सोचते समय उस समस्त वातावरण पर विचार आवश्यक है जिसमें शिक्षा घटित होती है। चूँकि माध्यम तथा अन्य संस्थाएं भी अब प्रभावी होती जा रही हैं, शिक्षा की एक व्यापकतर अवधारणा जरूरी हो गयी है।"

भारतीय चिन्तन दृष्टि में मानवाधिकार के व्यापक परिप्रेक्ष्य को विकसित करने की संभावना परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए भारतीय इतिहास दृष्टि सनातनता पर बल देती है। वह इतिहास से बाधित न होते हुए भी इतिहास–सम्भवा है। वह मनुष्य को उसका माध्यम न मानकर उसका नियन्ता मानती है। इसी तरह समग्रतामूलक भारतीय चिन्तनदृष्टि जो गांधी की सोच में परिपुष्ट हुई है, महत्वपूर्ण है। गांधी का अहिंसक प्रयोग इसी सम्पूर्ण दृष्टि का उदाहरण है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि गांधी समावेशमूलक विचारक थे और ऐसी शोषणमुक्त रोजगार की व्यवस्था का सपना देखते थे जो सबके आत्म–सम्मान और मानवीय श्रम की गरिमा को प्रतिष्ठित करती हो। गांधी एक ऐसी अहिंसामूलक आध्यात्मिक संवेदना से प्रेरित थे जिसमें सत्याग्रही राज्य की संभावना बनती है। गांधी साधन की पवित्रता पर बल देते थे और साधन–साध्य की एकता को महत्व

* शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–7

देते थे। साधन की पवित्रता कितनी महत्वपूर्ण है यह सोवियत संघ की विफलता में प्रतिफलित होता है। परन्तु साम्यवाद का विकल्प पूँजीवाद नहीं हो सकता।

नन्दकिशोर जी ने प्रौद्योगिकी, नैतिक अर्थशास्त्र की संभावना, अर्थव्यवस्था के लोकतंत्रीकरण हिन्दी समाज और इतिहास लेखन के प्रश्नों पर भी विचार किया है। गांधी जी उनके चिन्तन के केन्द्र में हैं। उनका यक्ष प्रश्न है : क्या हम वैसी अहिंसक लड़ाईयाँ लड़ने के लिए तैयार हैं जैसी गांधी जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के साथ लड़ी थी? शोषण, दमन, उत्पीड़न अभी भी बरकरार हैं। गांधी निश्चय ही प्रासंगिक हैं और सोच में छाए कुहासे को काटना जरूरी है।

नन्दकिशोर जी की चिन्ता में सृष्टि की उत्कृष्ट रचना–मनुष्य और उसकी स्थिति केन्द्र में है। उनका तर्क है कि मनुष्य श्रेष्ठतम प्राणी है। वह चेतना की चरम अभिव्यक्ति है। मनुष्य की यह श्रेष्ठता एवं चैतन्यता अपने से कम श्रेष्ठ एवं कम चेतन जीवन और जगत की सुरक्षा और सम्पोषण करने में है। मानव की सामर्थ्यशीलता उसकी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रकृति और मनुष्येतर जीवन के शोषण और दमन का पर्याय नहीं है। लेखक लोक व्यवहार को भी नकारकर अथवा अनदेखा कर आगे बढ़ने के पक्ष में नहीं है। लेखक इस विचारधार पर तीक्ष्ण आघात करता है जो कम श्रेष्ठ व कम चेतन प्रकृति तथा मनुष्येतर प्राणियों को अपने हितों के लिए स्वच्छन्द प्रयोग को ही अपनी श्रेष्ठता समझती है। वह कहता है कि यदि यही तर्क मानव समाज पर भी लागू कर दें तो क्या हम यह मानने का तैयार हैं कि अधिक विकसित और शक्तिशाली वर्गों या राष्ट्रों का यह स्वाभाविक अधिकार है कि वे अपने से कमजोर और हीन समाजों या राष्ट्रों का अपने लिए उपयोग कर सकें। मनुष्य और पशु में अन्तर को समझते हुए उनके प्रति किए जाने वाले भिन्न व्यवहार का ही पक्षधर नहीं होना चाहिए। पशुता से मनुष्यत्व को श्रेष्ठ मानने वाले को इनमें आचरण–भिन्नता को भी स्वीकार करना चाहिए। मानव होने का मतलब है, चेतनासम्पन्न, सर्जनशील और उत्तरदायी होना जो सभी के प्रति अबाधगति से हो। वह केवल मनुष्यों के बीच में ही मनुष्य न हो अन्य जीवों के बीच भी मनुष्य बना रहे।

मानव अधिकारों की स्थापना की चुनौती मनुष्यता या इन्सानियत की चुनौती से गहराई में जुड़ी हुई है। आचार्य जी की इस कृति से इस तरह की सोच आगे बढ़ती है। उनकी खासियत है किं वह इस सोच को संस्कृति और आज के परिदृश्य के आलोक में देख पाते हैं। कुल मिला कर सोच को उकसाने वाली यह पुस्तक संग्रहणीय है; पठनीय है और मननीय भी।

पुस्तक का नाम – **मानवाधिकार के तकाज़े**
लेखक – नन्दकिशोर आचार्य
सजिल्द मूल्य – 125 रुपए
पृष्ठ – 136
प्रथम संस्करण – 2003
प्रकाशक – वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

अथ मानवाधिकार दर्शनम्

* अंशु गुप्ता

मानवाधिकार एक सामाजिक सत्य है, जिसका उद्भव मनुष्य के जन्म के साथ ही होता है। सही मायने में मानव अधिकार मानव और समाज–व्यवस्था के बीच एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को व्याख्यायित करता है।

इस दृष्टि से 'मानव अधिकार का दर्शन' अपने आप में एक सम्पूर्ण पुस्तक है, जिसमें मनुष्य के सहज अधिकारों को परिभाषित करने के लिए लेखक ने प्राचीन धर्मग्रंथों का सहारा लेकर उसे शोधपरक एवं सर्वग्राह्य बनाया है। पुस्तक में मनुष्य के अधिकारों के साथ–साथ उनमें नैसर्गिक अधिकारों की विवेचना की गई है। कृति में मानव के जिन गुणों के कारण उसे मानव की संज्ञा से विभूषित किया जाता है, उसका विशद विवेचन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ करने का प्रयास किया गया है। लेखक की दृष्टि में स्वतन्त्रता मानवता की पर्यायवाची है और इसके बिना मनुष्य का जीवन संज्ञा शून्य कहा जाएगा। पुस्तक में वैधानिक कानून और इसकी भूमिका का शोधपरक विवेचन प्रस्तुत कर लेखक ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं का परिचय दिया है। लेखक ने मानव अधिकार–संबंधी विमर्श को वैचारिक धरातल पर सर्वसुलभ बनाने की दृष्टि से इसे पाँच अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में लेखक ने मानव अधिकार की समस्या का स्वरूप, उसके विविध आयाम और गांधी के अहिंसा के सिद्धान्त को धर्मनिरपेक्षता की पृष्ठभूमि में रखकर एक नए बहस की शुरुआत की है। लेखक ने सटीक तर्कों के आधार पर यह भी साबित करने का प्रयास किया है कि नागरिक अधिकारों एवं संवैधानिक अधिकारों में मूलभूत अन्तर है।

दूसरे अध्याय में व्यक्तित्व के मूल्यवान अंग के रूप में 'स्वतन्त्रता' का निरूपण करते हुए सामाजिक परिवेश में स्वतन्त्रता के अधिकार की एक नई विवेचना प्रस्तुत की गई है। प्रमुख अस्तित्ववादी फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ पॉल सार्त्र के तर्क को लेखक ने बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। इसमें कहा गया है कि स्वतन्त्रता मानव सत्ता का अनिवार्य पक्ष है और मनुष्य के अस्तित्व के साथ स्वतन्त्रता की धारणा बनती और बिगड़ती है।

तीसरे अध्याय में व्यक्तित्व के विकास में व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को अधिकार के रूप में मान्यता देकर उसको परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। व्यक्तित्व के नैतिक मूल्यों की समानता के आधार पर विवेकाधिकार को एक नये परिवेश में ढालने के साथ–साथ न्याय की सिद्धान्त–परक व्याख्या की गई है। यहाँ एक विदेशी विद्वान

* मीडिया से संबद्ध एवं स्वतंत्र लेखन, फ्लैट सं. 151, ब्लॉक 17, सेक्टर–3, रोहिणी, दिल्ली

हैराल्ड रॉस्की के उद्धरणों को देकर अपनी बात के औचित्य को तार्किक ढंग से कहने में लेखक सफल हुआ है। लेखक की दृष्टि में सामाजिक समानता का अभिप्राय समाज दर्शन या सामाजिक व्यवस्था है। लेखक ने महात्मा गांधी के अंहिसा के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते हुए कहा है कि गांधी का अंहिसावाद का सिद्धान्त मानव अधिकारों के संदर्भ में मील का पत्थर साबित हो सकता है।

अध्याय चार में समाज में होने वाले शोषण के विरुद्ध अधिकारों के रूप में उठने वाली आवाम की आवाज को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में लेखक ने मानव अधिकारों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की है। लेखक के अनुसार सामाजिक विकास में बाधक शोषण का एक लंबा दौर सदियों से चलता रहा है। शोषण से मुक्ति के संबंध में भारतीय संविधान और संसद एवं अन्य विधायिकायों द्वारा बनाए गए कानूनों और उसके अनुपालन के संबंध में लेखक ने अपनी बेबाक राय प्रकट की है।

गांधी जी के मत में सामाजिक समरसता के लिए अहिंसा के मार्ग पर चलना अत्यंत आवश्यक है। उनके अनुसार अहिंसा की उत्पत्ति प्रेम से होती है, इसलिए अहिंसा का मापदण्ड हृदय में प्रेम की उपस्थिति है। अंतिम अध्याय में विद्वान लेखक ने धर्म निरपेक्षता को किसी भी राष्ट्र की अनोखी पूँजी मानते हुए संविधान और भारतीय दर्शन को केन्द्र में रखकर इसे विवेचित करने का प्रयास किया है। लेखक की दृष्टि में गांधीवाद का कोई विकल्प नहीं है और मानव अधिकारों के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिकार और कर्तव्यों के अनुशासन पर चलना अनिवार्य है।

मानव अधिकार की समस्या से निजात पाने के लिए यह आवश्यक है कि मानव के प्रगति के मार्ग अहिंसक हों, ताकि शोषित और शोषक के बीच की खाई को पाटा जा सके। सम्प्रति में सम्पूर्ण विश्व मानव अधिकार हनन की समस्या से जूझ रहा है और इस समस्या से छुटकारा पाने का एक मात्र तरीका महात्मा गाँधी का अहिंसा का मार्ग ही है जिस पर चलकर हम एक नये विश्व का निर्माण कर सकते हैं। जब तक विश्व में सामाजिक भेदभाव कायम रहेगा तब तक हम अपनी नई ऊँचाइयों को छूने में असफल होते रहेंगे। बेहतर होता कि हम उन प्राचीन भारतीय परंपराओं और मान्यताओं को अपना लेते जिस पर हमारा समाज सदियों से चलता रहा है। हमारे यहाँ धर्म ही कानून था और कानून ही धर्म। जबसे धर्म और कानून अलग–अलग हुए हैं, तबसे ही सारी अव्यवस्था फैली है।

पुस्तक में लेखक ने मानव अधिकारों के विश्वव्यापी आंदोलन को भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में सोचने के लिए एक नयी बहस छेड़ी है। इस बहस से हम सभी मानव अधिकारों की सांस्कृतिक अस्मिता को एक अर्थपूर्ण तर्क के आधार पर सोचने के लिए विवश होंगे। डॉ0 के.एस. द्विवेदी की यह कृति इसी संवेदना और सोच को आगे बढ़ाती है।

कुल मिलाकर यह पुस्तक मानव अधिकारों के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य अवधारणाओं को एक नए संदर्भ में देखने के लिए पाठक को विवश करती है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक का नाम – **मानव अधिकार का दर्शन**
लेखक – डॉ0 के एस. द्विवेदी, आई.पी.एस.
प्रकाशन – श्रीमती शक्ति द्विदी
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी
प्रथम संस्करण – 2001
मूल्य – 240 रू0

आयोग के प्रकाशन

क्रम सं0	प्रकाशन	मूल्य
1.	महत्वपूर्ण अनुदेश / दिशानिर्देश	50.00
2.	महत्वपूर्ण अनुदेश / दिशानिर्देश (संशोधित)	75.00
3.	लार्ज वाल्यूम पारएन्टेरल्स: टुवर्ड जीरो डिफेक्ट	205.00
4.	स्टेट ऑफ दी आर्ट फॉरेंसिक साइंस : फॉर बेटर – क्रिमिनल जस्टिस	110.00
5.	क्वालिटी एश्योरेंस इन मेंटल हेल्थ	250.00
6.	हैंड बुक ऑन ह्यूमन राइट्स फॉर ज्यूडिशियल ऑफिसर्स	220.00
7.	मानव अधिकार शब्दावली (अंग्रेजी – हिंदी)	230.00
8.	जर्नल ऑफ दी नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन–खंड–II, 2003	150.00
9.	जर्नल ऑफ दी नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन–खंड–III, 2004	150.00

(निःशुल्क)

1. नेशनल कांफ्रेन्स ऑन ह्यूमन राइट्स एण्ड एच आई वी / एड्स (24–25 नवम्बर, 2000, नई दिल्ली)
2. नेशनल सेमिनार–कम–पब्लिक कन्सल्टेशन ऑन रेसिज्म, रेशियल डिस्क्रिमिनेशन, जीनोफोबिया एण्ड रिलेटेड इनटॉलरेन्स–12 रिपोर्ट (11 अगस्त, 2001, नई दिल्ली)
3. प्रोफेशनल पॉलिसिंग–थीम्स, ह्यूमन राइट्स इनवेस्टिगेशन एण्ड इंटरव्यूइंग स्किल्स, ह्यूमन राइट्स एण्ड कस्टडी मैनेजमेंट (नेशनल ह्यूमन राइट्स एण्ड ब्रिटिश काउंसिल)
4. जर्नल ऑफ दी नेशनल ह्यूमन राइट्स कमीशन
5. मानवाधिकार : नई दिशाएँ (हिंदी पत्रिका)
6. नेशनल हयूमन राइटस कमीशन्स गाइडलाइन्स फॉर स्पॉन्सरिंग रिसर्च
7. नेशनल हयूमन राइटस ब्रॉशर
8. रीजनल कन्सल्टेशन ऑन पब्लिक हेल्थ एण्ड ह्यूमन राइट्स (10 – 11 अप्रैल, 2001, नई दिल्ली)

9. इन्फॉर्मेशन किट ऑन ट्रैफिकिंग इन वीमन एंड चिल्डरन

10. डिस्क्रिमिनेशन बेस्ड ऑन सेक्स, कास्ट, रीलिजियन एण्ड डिसएबिलिटी

11. रिपोर्ट ऑन प्रिवेंशन ऑफ एट्रोसीटीज एगेंस्ट सेड्यूल्ड कास्ट

12. ए गाइड बुक फॉर मीडिया ऑन सेक्सुअल वायलेन्स एगेंस्ट चिल्डरन

13. डिसएबिलिटी मैनुअल

14. अपने अधिकार जानें (इस श्रृंखला की आठ पुस्तिकाएँ हैं)
(अंग्रेजी में प्रकाशित/हिंदी में प्रकाशनाधीन)

15. ह्यूमन राइट्स एजुकेशन फॉर बिगनर्स – नरेटिव्स ऑफ ह्यूमन राइट्स मूवमेंट इन इंडिया

16. फ्रॉम बॉण्डेज टू फ्रीडम, एन एनालिसिस ऑफ इंटरनेशनल लीगल रेजीम ऑन ह्यूमन ट्रैफिकिंग

हिंदी में प्रकाशित मानवाधिकार विषयक कुछ पुस्तकें

क्रम सं०	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम
1.	मानव अधिकार का दर्शन	डॉ. के.एस. द्विवेदी, आई पी एस
2.	न्यायतंत्र और मानव अधिकार	श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल, आई ए एस
3.	मानवाधिकार : सिद्धान्त एवं व्यवहार	डॉ0 के. के. शर्मा
4.	भारतीय संस्कृति में मानव अधिकार की अवधारणाएँ	श्री रामेश्वर प्रसाद शर्मा
5.	मानव अधिकार : संदर्भ एवं परिप्रेक्ष्य	डॉ0 शंकर सरोलिया
6.	मानव अधिकार और पुलिस	डॉ0 रमेशचन्द्र मिश्र
7.	मानवाधिकार दशा और दिशा	श्री दामोदर मिश्रा एवं श्री डॉ0 अखिल शुक्ला
8.	महिला सशक्तिकरण और मानवाधिकार की अवधारणा	श्री रति कान्त सुमन
9.	मानव अधिकार	श्री के. के. कोच्चुकोशी
10.	मानव अधिकार और महिलाएँ	श्रीमती शकुन्तला देवी सक्सेना
11.	बाल अधिकार एवं बाल शोषण	श्री मधुसूदन त्रिपाठी
12.	मानव अधिकार एवं शिक्षा	डॉ0 दशरथ चौधरी
13.	मानव अधिकार एवं बाल वेश्यावृत्ति	सुश्री हेतल एच. केला
14.	मानव अधिकार एवं वृद्धजन	श्रीमती आभा सिन्हा
15.	मानवाधिकार और महिलायें	श्रीमती शकुन्तला देवी सक्सेना